सातवें दशक के हिन्दी उपन्यासों में सुख की अवधारणा

(हैदराबाद विश्वविद्यालय, की पी-एच. डी. की उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध)

1988

प्रस्तुतकर्त्री

कु. कृष्णा, एम. फिल.

निर्देशिका : नूरजहां बेगम

डॉ. नूरजहां बेगम

एम. ए. (हिन्दी, संस्कृत), पी.-एच. डी; डी. लिट.

रीडर, हिन्दी विभाग,

हैदराबाद विश्वविद्यालय, हैदराबाद.

विजेन्द्र नारायण सिंह

अध्यक्ष :

डॉ. विजेन्द्रनारायण सिंह

एम. ए; डी. लिट्.

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग

हैदराबाद विश्वविद्यालय, हैदराबाद

Supervisor's Certificate

This is to certify that **Kum.Krishna,** M.Phil., is a bonafide student of the Department of Hindi, University of Hyderabad and the thesis entitled **"Saatven Dashak ke Hindi Upanyaason mein Sukh ki Avdhaarana'** is a bonafide record of her research work done under my supervision for the award of Ph.D. Degree in partial fulfilment of the course work, and does not constitute part of any material submitted for a degree here or elsewhere.

Noorjehan Begum

Hyderabad
26.12.88

Noorjahan Begum
Supervisor

DECLARATION

I hereby declare that this thesis entitled **'Saatven Dashak ke Hindi Upanyaason mein Sukh ki Avdhaarana'** has been written by me during 1985-88 under the supervision of Dr.Noorjahan Begum, Reader, Department of Hindi, University of Hyderabad, Hyderabad in partial fulfilment of the requirement for the award of Ph.D Degree.

I also declare that this is the result of my own effort and has not been submitted to any other University, before, for any degree or diploma.

Krishna

Kum.Krishna

विषय - सूची

पृष्ठ सं0

... 0/ **भूमिका के लिये**

... 1/ **सुख की परिभाषा, सामान्य स्वरूप एवं विस्तार क्षेत्र**

सुख का परम्परागत स्वरूप, सुख का इन्द्रीयगत स्वरूप, सुख और आनन्द, सुखवाद, बौद्धिक एवं शान्त सुख, स्थूल सुखवाद, सुखवादी गणना ।

सुख का वर्गीकरण

वैयक्तिक सुख एवं सामाजिक सुख, सूक्ष्म सुख एवं स्थूल सुख, पाशविक सुख

सुख और कालबोध

अतीत {स्मृति} सुख

तात्कालिक सुख

भविष्य सुख

सुख के निर्णायक तत्व

उत्साह, विश्वास तथा आत्मविश्वास, भावानाएं, सौन्दर्यानुभूति, अनुकूलता, लक्ष्य, विविधता, प्रेरणा, कलात्मक सृजन, प्रेम, विवाह, काम, सफलता, नशा, रीति-रिवाज, स्वप्न-दिवास्वप्न, धर्म ।

पृष्ठ सं०

दुःख के कारण और परिणाम

सुख-दुःख, नियतिगत दुःख, निर्धनता, कुंठा, तनाव, पाप की भावना, अलगाव-अकेलापन, मानसिक अव्यवस्था, आत्मपीड़ा, परपीड़ा, आत्महत्या, मृत्युबोध

... 2/ **वर्गीकृत सुख और आलोच्य उपन्यास** 137

प्रस्तावना, वैयक्तिक सुख एवं सामाजिक सुख, सूक्ष्म सुख एवं स्थूल सुख, पाशविक सुख, निष्कर्ष ।

... 3/ **काल की व्याप्ति और आलोच्य उपन्यासों में सुख का विश्लेषण** 174

प्रस्तावना, अतीत (स्मृति) सुख, तात्कालिक सुख, भविष्य सुख, निष्कर्ष ।

... 4/ **सुख के प्रमुख तत्वों की उपन्यासों में स्थिति तथा विश्लेषण** 200

प्रस्तावना, उत्साह, विश्वास तथा आत्म-विश्वास, भावनाएं, सौन्दर्यानुभूति, अनुकूलता, लक्ष्य, विविधता, प्रेरणा, कलात्मक सृजन, प्रेम, विवाह, काम, सफलता, नशा, रीति-रिवाज, स्वप्न-दिवास्वप्न, धर्म, निष्कर्ष

पृष्ठ सं0

... 5/ **दुःख के कारण एवं परिणामों की उपन्यासों में व्याप्ति तथा विश्लेषण** 294

प्रस्तावना, नियतिगत दुःख, निर्धनता, कुण्ठा, तनाव, पाप की भावना, अलगाव-अकेलापन, मानसिक अव्यवस्था, आत्मपीड़ा-परपीड़ा-आत्महत्या-मृत्युबोध, निष्कर्ष

... 6/ **उपसंहार** 340

सातवें दशक के हिंदी उपन्यासों में सुख की उपलब्धियां

...7/ **संदर्भ ग्रंथ** 349

भूमिका के लिए ......

मध्यवर्गी जीवन जीते हुए परिवेश एवं ज्ञ की संगति या असंगति के हर आयाम से मेरी निरंतर मानसिकता निर्मित होती तथा ढहती रही जिसकी नींव-केन्द्र में मणिधर प्रश्न यह रहा कि "सुख क्या है ?", उसका अस्तित्व व स्वरूप क्या हो सकता है ? यही कारण है कि निर्बाध चलते इस मनःद्वन्द्व को सही ढांचा देने के लिए इस प्रश्न के तराशे स्वरूप को अपने गवेषण का विषय बनाया । यह भी नहीं कि इस मानसिक द्वन्द्व से केवल "स्व" ही दोलायमान था, बल्कि पत्र-पत्रिकाएं, किताबें, बौद्धिक बहसों आदि ज्ञान भंडारों के दूर-पास से गुजरते हुए मैंने यह पाया कि भारत के सत्ता के हस्तान्तरण के बाद की पूरी पीढ़ी एवं उसका मध्यम परिवेश लगभग पूरी तरह ऐसे ही द्वन्द्व से ग्रस्त रहा । बस, अपने उद्‌वेलित प्रश्न को कालबद्ध करने के लिये मेरी चयन-दृष्टि सातवें दशक पर गड़ गई । सातवां दशक जो तथाकथित आज़ादी के बाद जन्माये गये उस सुनहरे मोहनिर्माण की प्रतिक्रिया का दशक था जहां भारत जैसा विकासशील महादेश अपने हर आयाम में मुंह की खा रहा था, सातवां दशक जिसे मोहभंग का काल कहा गया, सातवां दशक जिसे राजनीतिक, सामाजिक, साहित्यिक उथल-पुथल का काल कहा गया, वही सातवां दशक मेरे इस शोध-कार्य का काल-निर्देश करने में सहयोगी रहा।

हिंदी में उपलब्ध जितनी भी सामग्री मुझे अब तक उपलब्ध हुई है, उनका अध्ययन करते हुए मुझे कहीं भी सुख के मान पर साहित्य को नापने का प्रयास तक दिखाई नहीं दिया। सुख की व्याख्या अधिक से अधिक दर्शन तक ही सीमित मिली । दर्शन-संग्रह में भी मानव के इस मूल भाव को एकाधिक आयामों में चिन्तन का विषय नहीं बनाया गया बल्कि अधिक से अधिक धर्म के इर्द-गिर्द ही इसको विवेचा गया । मेरे किये गये इस

छोटे से कार्य का उद्देश्य यही रहा है कि सुख जैसे सजीव भाव को न केवल धर्म, नीति, न्याय आदि के माध्यम से देखा जाए बल्कि मानवीय जीवन से सम्बद्ध अन्य आयाम जैसे मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, भौतिकवाद आदि के परिप्रेक्ष्य में व्यक्ति के जीवन के लगभग सभी भावों का अवलोकन किया जाए। इसी में विषय का चयन एवं महत्व भी निहित है । रही बात इस कार्य की उपयोगिता की, तो उसे तो विद्वत्जन ही निर्धारित करेंगे कि यह विश्लेषण-विवचेन हिन्दी साहित्य को "कुछ" प्रदान करने में कितना सक्षम है ।

युग और व्यक्ति का संबंध अविच्छिन्न है । हर युग अपनी गति से चलता है । व्यक्ति ही इनका संचालन करता है और व्यक्ति स्वयं इसी प्रक्रिया में जीता है । साहित्य युग और व्यक्ति दोनों को देखता एवं उनको आंकता है । मानवीय भावना, विचार, संवेग और मूल्य हर युग के अपने होते हैं । इन्हीं पर व्यक्ति की जो दृष्टि ज्योतित होती है उसमें वह अपने अतीत, भविष्य व वर्तमान को परिमाणित करता है । सतह से उठते हुए आदमी की यह नियति होती है कि वह स्वयं में स्वयं को खोजता है तो कभी अन्य की दृष्टि से स्वयं का आलोकन करता है । कला-आलोचक अर्न्स्ट फिशर ने एक बार यह सवाल उठाया था कि क्यों असंख्य लोग पुस्तकें पढ़ते हैं, संगीत सुनते हैं और प्रेक्षालयों में जाते हैं ? क्या अपना तनाव कम करने और मनोरंजन के लिये ? क्यों किसी दूसरे की जिंदगी और उसकी समस्याओं में शरीक होने से मनोरंजन होता है या सुकून मिलता है। फिशर स्वयं इसका जवाब देते हुए लिखते हैं कि आदमी "स्वयं" से कुछ अधिक होना चाहता है । वह अपने व्यक्तित्व को सामाजिक बनाना चाहता है । कला उसकी इकाई को पूर्णता देने का माध्यम है । फिलहाल, कुछ ऐसे ही प्रश्न, जिज्ञासाएं रहीं जिन्होंने मुझे इस शोध कार्य की ओर प्रवृत्त किया । सुख से संबंधित इन्हीं प्रश्नों का सुलझा रूप ही अवधारणा बना ।

शोध का आधार धारणात्मक रहा है तथा धारणा के आधार पर ही उपन्यासों का विश्लेषण किया गया । सुख को अनेक छोटे-छोटे अंशों में विभाजित कर उसके आधार पर उपन्यासों के पात्रों,परिस्थितियां, घटनाओं का सूक्ष्मता से अवलोकन करने का किंचित प्रयास किया गया है।

कथित कार्य में प्रवेश हेतु एक आधार-भूमि के रूप में सुख के परम्परागत, सामान्य एवं आधुनिक स्वरूप का निर्धारण, सुख की परिभाषा, विस्तार क्षेत्र के अंतर्गत आज तक के प्रमुख भारतीय एवं पाश्चात्य दार्शनिकों, मनोवैज्ञानिकों, समाजशास्त्रियों,कलाकारों आदि के विचारों-अनुभवों को समेटने का प्रयास किया गया । इसी अध्याय में सुख को अकेले व्यक्ति तथा सामाजिक व्यक्ति की सापेक्षता में सुख की सूक्ष्मता, स्थूलता एवं पाशविकता पर भी विचारा गया । इसके अतिरिक्त सुख के संभवतः सभी निर्णायक तत्वों का विवेचन किया गया । सुख पर विचारते हुए यह भी महसूसा गया कि यदि सुख के सम्पूर्ण एवं वास्तविक स्वरूप को जानना हो तो दुःख को भी साथ रखना आवश्यक है जैसे सफेदी की प्रगाढ़ता जानने के लिए स्याही की जानकारी आवश्यक होती है । इसीलिए दुःख के भी कुछ प्रमुख कारणों, परिणामों एवं तत्वों को भी समाहित किया गया है । इस प्रकार सुख के समग्र स्वरूप को पहले के आधार-अध्याय में विवेचित किया गया । इस कार्य में सुख के विभिन्न मुद्दों को खोजने के लिये मुख्यतः विदेशी विचारकों का ही सहयोग लिया गया क्योंकि सुख के बहुआयामी स्वरूप पर हिंदी में लगभग कम ही सामग्री उपलब्ध है । पहले अध्याय को आधार बना कर शेष अध्यायों में उपन्यासों में व्याप्त सुख की अवधारणा को विश्लेषित करने का प्रयास किया गया । जैसे, द्वितीय अध्याय में वर्गीकृत सुख की धारणा के आधार पर आलोच्य उपन्यासों में उनकी स्थिति को आंकने का प्रयास किया गया । तृतीय खण्ड में काल-बोध की धारणा के आधार पर उपन्यासों में सुख का विश्लेषण तथा सुख के प्रमुख तत्वों की उपन्यासों में स्थिति एवं उनका विश्लेषण चौथे अध्याय में किया गया । पांचवे अध्याय में दुःख के कारण, उसके परिणाम एवं

आलोच्य उपन्यासों में उनकी व्याप्ति को खोजने का प्रयास किया गया । शोध कार्य के अंतिम खण्ड में उपसंहार के रूप में पूरे कार्य को यानि सातवें दशक के हिंदी उपन्यासों में सुख की अवधारणा स्थापित करने में प्राप्त उपलब्धियों को सहेजा गया ।

सातवें दशक के परिप्रेक्ष में ही उपन्यासों में सुख की अवधारणा पर शोध करने के अनेक कारणों में से एक कारण उपन्यासों में रुचि होना तथा दूसरा कारण यह रहा कि उपन्यासों में जीवन की बहुआयामी मानसिक अनुभूति, संवेदना का बौदिक सूक्ष्मता के साथ चित्रण मिलता है । उपन्यास-विधा में जीवन की अनेक स्थितियों को विस्तार के साथ प्रस्तुत किया जाता है, जिससे सुख की स्थिति एवं आयाम को नापने में सहायता मिलती है ।

सातवें दशक की प्रवृत्तियों में मुख्यतः प्रतिकूलता, निर्धनता, कुण्ठा, मोहभंग, तनाव,अकेलापन,अजनबीपन,संवादहीनता एवं सामाजिक बिसंगति आदि की नियति आलोच्य दशक के उपन्यासों में लेखकीय कथन तथा पात्रों के द्वारा अभिव्यक्त हुए हैं । बंजर लोकतंत्र में कुछ भी उगता न देखकर जीवन के प्रति एक अनिश्चियता, अनिर्णयात्मकता और अर्थहीनता की स्थिति इस दशक में घोर रूप में व्याप्त थी । निर्माण की प्रकिया में उपजी इस दशक की मानसिकता में कुण्ठित विद्रोह के स्वर इस दौरान रचे गये साहित्य में भरे पड़े हैं । ऐसे परिवेश में सुख को खोजना एक महत् कार्य ही रहा।

इस कार्य के लिए आदरणीय डॉ0 नूरजहां बेगम, रीडर, हिंदी विभाग का निर्देशन जिस स्नेह से प्राप्त हुआ है, उसी का परिणाम यह कार्य रहा । शोध कार्य हेतु विषय चयन में मान्य डॉ0 वेणुगोपाल जी के साथ हुई बहसें-वार्ताएं प्रमुख रूप से सहायक रहीं । श्रद्धेय डॉ0 शंभुनाथजी, रीडर, कलकत्ता विश्वविद्यालय एवं श्री राजेश जोशी, भोपाल का विषय के दिशानिर्देश तथा उसकी जटिलता को सुलझाने में विशेष सहयोग प्राप्त हुआ था । इन सभी गुरुजनों की मैं सदैव आभारी रहूंगी ।

इन विद्वतजनों से प्राप्त ज्ञान के अतिरिक्त पुस्तकीय ज्ञान हेतु हैदराबाद विश्वविद्यालय एवं उस्मानिया विश्वविद्यालय के पुस्तकालयों से मिले सहयोग के लिये मैं इनके अध्यक्षों तथा सभी कर्मचारियों को धन्यवाद देती हूं । हैदराबाद विश्वविद्यालय के एकेडमिक स्टॅाफ कॅालेज के पुस्तकालय के उपयोग की अनुमति हेतु श्री दत्तराजु, वरिष्ठ सहायक को धन्यवाद देती हूं । समय-समय पर जिन मित्रों का बौद्धिक सहयोग प्राप्त होता रहा उनकी मैं सदा आभारी रहूंगी ।

.. **कु0 कृष्णा.**

सुख की परिभाषा : सामान्य स्वरूप एवं विस्तार क्षेत्र

मानवीय जीवन में सुख के स्रोत उसके स्वयं के बनाए गये संबंधों में होते हैं । मनुष्य सुख के लिए अपने आसपास के परिवेश को अपने मनोनुकूल बनाने तथा बनाए रखने की चेष्टा जीवन पर्यन्त करता है । इन स्रोतों में प्रमुख रूप से मानवीय संबंध कार्यरत होते हैं जिनकी जटिलता तथा सुलझता ही उसे सबसे अधिक सुख तथा दु:ख प्रदान करती है क्योंकि इन्हीं संबंधों में वह अपने स्तर पर अपने मनोभावों का आदान-प्रदान कर सकता है । संबंधों द्वारा सुख की प्राप्ति में सहजता लाने के लिए मनुष्य के पास भाषा एक प्रबल माध्यम का कार्य करती है । भाषा के अर्थबोध की भिन्नता की दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति और वस्तु के साथ अर्थ परिवर्तित होता जाता है जिससे इच्छित सुख का स्वरूप भी बदलता जाता है । चूंकि सुख एक मानसिक भावना होती है तथा उसकी अनुभूति मानसिक स्तर पर ही होती है अत: व्यक्ति का सुखी रहना उसका प्रकृतिगत स्वरूप होता है । इतना तो निश्चित है कि व्यक्ति अपने जीवन को हमेशा सुखपूर्ण ही बिताना चाहता है जिसके लिये वह अपनी परिस्थितियों को अनुकूल बनाये रखने का सदैव प्रयत्न करता है । इसी संदर्भ में उन्मुक्तता, सहजता और जीवन्तता का अभाव व्यक्ति को दु:खी बना देता है ।

अनेक विचारकों-दार्शनिकों ने सुख के संदर्भ में भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से विचारा तथा परिभाषा दी है । सुख का अर्थ बहुधा खुशकिस्मत या शुभ भाग्य (Good Fortune or Good Luck) लिया जाता है । इसे आत्म या मनोवृत्तिगुणविशेष, वह अनुकूल व प्रिय वेदना जिसकी सबको अभिलाषा होती है, दु:ख का उल्टा आराम भी माना गया है । [1] सुख के ये अर्थ प्राचीनकाल से आज तक लगभग उसी प्रकार के हैं । अलग-अलग संदर्भों में इन शब्दों का प्रयोग भिन्न-भिन्न रूप से होता है, होता रहा है । चूंकि सुख अपने आस-पास घट रही तथा बीत रही क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं के परिणामों का मानसिक रूप से आत्मसातीकरण

तथा उसकी अनुभूति करना ही है अत: सौन्दर्य की तरह इस अनुभूति की परिभाषा करना लगभग कठिन ही है । जितनी भी परिभाषाएं सुख के परिप्रेक्ष्य में की गई हैं वे लगभग सभी अनुभूतिजन्य परिणामों, संतुष्टि तथा मात्रा का विवेचन-विश्लेषण भर ही है । "सुख वह अनुकूल तथा प्रिय अनुभव जिसके सदा होते रहने की इच्छा हो ।"[2] जैसा असुंदर से इतर सभी वस्तुओं को सुंदर माना गया है उसी प्रकार दु:ख से इतर या दुख का उल्टा अनुभव सुख माना गया है ।

वैसे भी सुख शब्द में इतना आकर्षण होता है कि व्यक्ति उससे विमुख नहीं रहता । लगातार उसकी ओर आकर्षित होता रहता है तथा उसी में उलझा रहता है । सुख की दृष्टि से प्रमुखता बाह्य सौन्दर्य ही व्यक्ति के आकर्षण का मूल तथा प्रथम केन्द्र होता है । यह एक भावनात्मक लगाव है जिससे मानसिक संतुष्टि प्राप्त होती है । बाह्य-सौन्दर्य प्रमुखत: वस्तुगत होता है जो सुखप्रदता का स्थूल पहलू होता है । "सभी मानवीय सुख जैविक सुख होते हैं ।"[3] सुख की अनुभूति के मूल उपादान वस्तुगत तत्व ही होते हैं जिससे नि:सृत होकर सुखानुभूति मानसिक स्तर पर पहुंचती है जहाँ पर चेतना से संबंध स्थापित करती है । इसे इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि "मानसिक आनन्द तभी सच हो सकते हैं जब उनकी अनुभूति शरीर से होती हो ।"[4] अत: शरीर ही वह प्रथम आधार है जिससे प्राप्त अनुभूति का प्रभाव मनुष्य की चेतना पर पड़ता है । इन्द्रियाँ ही चेतना को जाग्रत करती हैं । इन अर्थों में जीवन्तता तथा चेतना ही सुख के माध्यम होते हैं । मृतक को कोई अनुभूति नहीं होती ।

यह तथ्य है कि सुख एक अनुभव है । सुख के स्रोत जीवन में व्याप्त होते हैं, जिनकी प्राप्ति के लिये मनुष्य जीवन-पर्यन्त प्रयत्नशील रहता है । "प्रेम-पूर्ण तथा सुखी जीवन के पाँच मूल तत्व हैं । सत्य, अच्छाई, सौन्दर्य, उपयोग तथा खुशी। सामान्य व्यक्ति अपने आदर्शों के लिये इनमें से किसी एक या सभी तत्वों की प्राप्ति के लिये या तो जीता है या प्राप्ति की प्रार्थना करता है ।"[5] किसी भी वस्तु की वस्तुनिष्ठ उपयोगिता इच्छा से जुड़ती है । इस प्रकार के प्राप्त सुख में वस्तु का विशेष योगदान होता है । सुख प्राप्ति के लिए वस्तु के प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष अस्तित्व को नकारा नहीं जा सकता । इस प्रक्रिया में वस्तु के प्रति आत्मिक संबंध होना तथा बना रहना आवश्यक है । शापेनहावर के अनुसार -- "हमारे लिये यह कैसे संभव है कि हम किसी विशेष वस्तु से आनंद (Pleasure) प्राप्त

करें जबकि उस वस्तु का हमारे जीवन से किसी भी प्रकार का संबंध नहीं होता"[6] अर्थात इच्छा की पूर्णता ही सुख है । बिना इच्छा के प्राप्त हुई वस्तु सुखदायी होते हुए भी अपना विपरीत प्रभाव डालती है । हर वस्तु से आनन्दोपलब्धि नहीं हो सकती । वही वस्तुएं सुखकर प्रतीत होती हैं जिनका संबंध हमारे जीवन से, हमारी आकांक्षाओं से जुड़ा होता है । जिनकी कामना की जाती है वही पूजनीय होते हैं । जीवन जीने की प्रक्रिया में न तो व्यक्ति बदलता है न ही वस्तुओं में कोई परिवर्तन आता है लेकिन जिनका संबंध इच्छाओं से जुड़ा होता है, जो इच्छित होते हैं वही श्रेयस्कर तथा सुखदायी होते हैं ।

इसके विपरीत अप्राप्य वस्तु के पीछे भागना मनुष्य की नियति रही है । परन्तु वस्तुविशेष की प्राप्ति को ही जीवन का ध्येय बना लेना निराशा को भी जन्म दे सकती है और निराशा हार का परिणाम हो सकती है जिससे दुःख उपजता है । इसके अतिरिक्त हार या निराशा की उल्टी मानसिकता भी पनपने लगती है । एक बौद्धिक तथा समझदार व्यक्ति में यहीं से एक नई जीवन-दृष्टि का निर्माण होता है । विनाश के बाद पुनर्निर्माण की ओर बढ़ते हुए एक नये सृजन की असीम आशा जाग्रत होती है । दुःखानुभूति की सफलता इस बात में है कि दुःख के ग्रहण का स्वरूप क्या होना चाहिए । वैसे यह कार्य मन, कर्म तथा इन्द्रियों पर अधिकार रखनेवाले के लिए गूढ़ नहीं होता । श्री अरविन्द के अनुसार -- "जीवन में दुखों को दुःख के रूप में ग्रहण नहीं करना चाहिए -- वे महान उपलब्धियों के सत्य की राह के प्रदर्शक होते हैं ।"[7] यदि दुःखों की तीव्रता घट जाती है साथ ही वे सुख की राह के प्रणेता बन जाते हैं । "दृष्टि हो तो दर्द में भी सुख है"[8] मनोविज्ञान की कुछ तथ्यात्मकता इस बात में निहित है कि यदि व्यक्ति दुःख झेलते समय भी उस प्रक्रिया में सुख की अनुभूति करे तो उससे दुःख की मात्रा में कमी अनुभव की जा सकती है कुछ अंशों में वह दुःख को भूल सकता है । दुःख के प्रति एकाग्रता तथा उससे सहज संबंध एवं लगाव रखने से मन और अधिक दुःखी हो जाता है । दुःख से क्षणिक मुक्ति का उपाय यही होगा कि दुःख को दुःख न समझा जाए या दुःखी क्षणों में दुःख की अनुभूति को आत्मसात न किया जाए । इसे अन्य प्रकार से ऐसा भी समझा जा सकता है कि दुःख से पलायन न करके उसका सहर्ष अंगीकार करना चाहिए -- क्योंकि "पीड़ा की चरम परिणति ही सुख का

समागम है ।"[9] पीड़ा की चरमता उस मन:स्थिति की द्योतक है जहाँ पर पहुँच कर मन उसकी अति को भूल जाता है और व्यक्ति उसमें इतना लीन हो जाता है कि पीड़ा अपना स्वरूप बदलकर सुख की अनुभूति में रूपान्तरित हो जाती है ।

यह माना जाता है कि जीवन के एक पक्ष को ही लेकर जीवन की रूपरेखा निर्धारित नहीं की जा सकती है । विशेषता तुलना के लिये आवश्यक होता है कि वस्तु के विपरीत आयाम का विश्लेषण आवश्यक है । इसी प्रकार सुख के स्वरूप को जानने के लिये दु:ख को जानना भी आवश्यक है । दु:ख का जीवन में अपना विशिष्ट महत्व है -- "शोक ही जीवन तथा कला दोनों का अन्तिम विन्यास है, अश्रु से आर्द्र चक्षु ही सृष्टि के निखिल सौन्दर्य को देख सकता है । किन्तु सबसे कठिन काम है दु:ख के यथार्थ रूप को जानना, उसके मर्म को समझना । दु:ख के सौन्दर्य को समझने की चेष्टा करना सबका धर्म है । बिना इसके पूर्णतया आत्म-विकास हो ही नहीं सकता ।"[10] यह सच है कि बीज जब मिट्टी में मिलकर गल-पच जाता है तभी वृक्ष की उत्पत्ति होती है । जीवन में सुख का महत्व है लेकिन दु:ख को नकार कर नहीं बल्कि स्वीकार करके ही सुख का सही उपभोग किया जा सकता है । दु:ख अकाम्य है इसीलिये उसका निरादर होता है परन्तु उसका स्थान सुख के समकक्ष होता है । दु:ख ही सुख को समझने की दिशा प्रदान करता है । जितनी तीव्रता से दु:ख का बोध होगा उतनी ही तीव्रता से सुखानुभव भी होगा । जो सुख दु:ख का कारण नहीं वह आदरणीय माना जाता है । जो सुख बृहत्तर दु:ख का निवारण करता है अथवा बृहत्तर सुख अर्जन करता है वह सराहनीय होता है ।

सुख का परम्परागत रूप :

भारतीय साहित्य की अपनी एक परम्परा रही है कि वह हमेशा सुख के परिप्रेक्ष्य में ही अपने आप को चिह्नित करता आया है चाहे उस सुख का आशय सामाजिक रहा हो या फिर वैयक्तिक ही । लगभग हमेशा ही सुख के केन्द्र में व्यक्ति ही रहा है । व्यक्ति के सुखी जीवन के लिये साहित्य कभी पौराणिक मिथकों के माध्यम से तो कभी पंचतंत्र की कहानियों से, कभी गीतात्मक उपदेश देकर तो कभी प्राकृतिक-अप्राकृतिक भय दिखला कर मनुष्य को आदर्शोन्मुख एवं

लोकोपयोगी कर्म करने को विवश करता ही रहा । सुख का स्वरूप, उसकी प्राप्ति के स्थान, माध्य तथा प्रक्रियाएं, उसके उपादान, मानदण्ड, उसकी उपयोगिता, अस्मिता आदि-आदि के विवेचन-विश्लेषण, परिगणन से भारतीय साहित्य परिपूर्ण तथा समृद्ध रहा है । मनुष्य को सुखमय जीवन बिताने के लिये अक्सर उसे उच्च कर्म करने की ही शिक्षा तथा सलाह दी गई । भारतीय चिन्तना का अधिकांश कर्म पर ही विशेषतः बल देता है । इसी के बल पर पुराख्याओं के माध्यम से स्वर्ग-नर्क की भी कल्पना की गई और इसी की शक्ति से कभी योग से तो कभी भोग से सुख प्राप्त करने के प्रयास का नैरन्तर्य भारतीय परम्परा में श्वेत-श्याम वर्ण में परिलक्षित होता है ।

भारतीय दर्शन तथा उसके अनेक संप्रदाय आत्मप्राप्ति के उद्देश्य को लेकर ही आगे बढ़े हैं क्योंकि दुःख से छुटकारा पाने का उपाय ज्ञान-प्राप्ति है । आत्मज्ञान, आत्मविद्या, पराविद्या, मोक्षविद्या, सम्यग्ज्ञान, परम पुरुषार्थ आदि अनेक मार्ग भिन्न-भिन्न दर्शनों में सुख प्राप्ति के लिये अपनाएं गये ।

वेदों की आनन्दवादी विचारधारा का ही विस्तार उपनिषदों में प्राप्त होता है । इनमें भी सुख और आनन्द की वही खोज तथा साधना है जो वेदों में मन्त्र द्वारा ऋषियों की सदा प्रेरणा की स्रोत बनी रही । "तैत्तिरीय उपनिषद" में ब्रह्म को रस रूप कहा गया है -- "रसो वै सः"[11] रस की प्राप्ति ही सुख की प्राप्ति है । इसी रस को प्राप्त कर मनुष्य आनन्द के विभिन्न स्तरों को समझ सकता है । "छान्दोग्य उपनिषद" में ऋषि सनतकुमार नारद को अनल्प सुख का रहस्य बतलाता हुए कहते हैं कि भूमा ही चिर सुख का कारण है । -- "यो वै भूमा तत्स सुखम्" -- जो भूमा है, असीम है, निरतिशय है, महान है वही सुख है । "नाल्पे सुखमस्ति" -- जो अल्प है, ससीम है, परिमित है, क्षुद्र है उसमें सुख नहीं है । भूमा ही सुख है ।"[12] "श्वेताश्वत उपनिषद" में व्यक्ति की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि आत्मा के स्वरूप और परमात्मा को जाननेवाला ही सच्चा होता है तथा आनन्द प्राप्त कर सकता है ।"[13]

पुराणों में आनन्द के साथ दुःख की भी व्याख्या मिलती है । "भागवद् पुराण" में आनन्द और दुःख का विश्लेषण साथ-साथ किया गया है । इसके बावजूद आनन्दवादी विचारधारा लुप्त या क्षीण नहीं हुई । श्रीकृष्ण को आलंबन मानकर द्वैत उपासकों ने जिस आनन्द एवं प्रेम की सृष्टि की उसमें दुःख और विरह

भी सम्मिलित होता रहा था ।"[14]

गीता में दिये गये उपदेशों में जिन मानवोचित कर्मों को प्रधानता दी गई उनके पीछे सुख की ही कामना दिखलाई देती है । कर्म के अतिरिक्त आत्मा-परमात्मा के संयोग से भी सुख की कामना गीता में की गई है । गीता में कहा गया है कि -- "हम आत्मा हैं, हमें आत्मिक आनन्द से ही तृप्ति मिल सकती है । आत्मा का उचित स्थान है परमात्मा की सुखद गोद । क्षणभंगुर इन्द्रिय सुख से वह अक्षय आनन्द हजारों गुणा श्रेयस्कर है जो सत् + चित + आनन्द में स्थित होने से प्राप्त होता है । "गीता" § 15/5 § में कहा गया है कि सब द्वन्द्वों का प्रेरक या जनयिता सुख-दु:ख है ।

"द्वन्द्वैर्विमुक्ता: सुखदु:खसंज्ञै: "[15]

"गीता का सिद्धान्त है कि सुख ही दु:ख में परिणत होता हैऔर दु:ख सुख में । इस अद्भुत प्रतीत होनेवाली प्रक्रिया का कारण भी सबको सहज ही में ज्ञात है । "विषयेन्द्रिय संयोगजन्य सुखदु:खानुभवरूप भोग दु:खों के ही कारण हैं और उत्पत्ति विनाश-युक्त है । बुद्धिमान् उन भोगों में मन नहीं लगाते ।"

"ये हि संसर्गजा भोगा दु:खयोनम एव ते ।
आद्यन्तवन्त: कौन्तेय न तेषु रमते बुध: ।।"[16]

इसके अतिरिक्त सुख की तीन प्रमुख कोटियाँ निर्धारित की गई हैं -- सात्त्विक, राजस तथा तामस सुख, निद्रा, आलस और प्रमाद से उत्पन्न सुख तामस कहलाता है जो सुख इन्द्रिय जन्य हो वह राजस तथा जो सत्य, परिश्रम व तप से प्राप्त होता है वह सात्त्विक सुख कहलाता है ।

चार्वाक का दर्शन ऐन्द्रिक तथा वर्तमान सुख को जीवन में प्रधानता देते हैं । इनका भोगवादी दर्शन मानव सुख के प्रति अपने विचार व्यक्त करते हुए यह सुख-वादी दृष्टि देता है कि जीवन सुखोपभोग के लिये है । उसकी उपेक्षा करना हास्यास्पद है । ठीक उस मूर्ख की तरह जो पेड़ पर बैठे उसी शाखा को काट रहा है जिस पर वह स्वयं बैठा है । जीवन का वर्तमान समय ही भोग योग्य है । अतीत के सुखी क्षणों की स्मृति में या भविष्य को सुखी बनाने के उपादानों को संजोने में वर्तमान को व्यर्थ ही खो देना व्यक्ति की मूर्खता ही होगी । जीवन में जो भी सुख प्राप्त करना तथा भोगना है वह वर्तमान में ही उचित तथा संभव है । वर्तमान ही एकमात्र सत्य है । वर्तमान जीवन में वही कर्म

करना चाहिए जो अधिक से अधिक सुख दे और कम से कम दु:ख प्रदान करे । ऐन्द्रिक सुख को महत्ता देते हुए अन्य चार्वाक महर्षि वात्स्यायन शरीर की रक्षक स्थिति के लिये काम को उतना ही उपयोगी माना है जितना कि दैनिक आहार। ऐन्द्रिक सन्तुष्टि की इच्छा से व्यक्ति अधिकाधिक भौतिकता की ओर बढ़ता है । जिसके फलस्वरूप ऐश्वर्य, सत्ता, समृद्धि आदि का मूल्य जीवन से अधिक हो जाता है जिनकी प्राप्ति के लिये अनाचार, दुराचार, अत्याचार करने से पीछे नहीं हटता । इस प्रकार के भौतिक सुख की लालसा एवं महत्वाकांक्षा में व्यक्ति मानवीय संबंधों का क्रय-विक्रय कर लेता है ।

वैदिक साहित्य में भी सुख का कल्याणकारी स्वरूप प्राप्त होता है । वैदिक साहित्य के अतिरिक्त प्रमुखत: रामायण तथा महाभारत जैसे संस्कृतिपरक ग्रन्थ आते हैं जिनमें धर्म तथा कर्म को ही विशेष रूप से स्वीकारा गया है और इसी संदर्भ में रामायण तथा महाभारत के जनकों ने सुख के स्वरूप को स्पष्ट किया है । महर्षि वेदव्यास आध्यात्मशास्त्र की बारीकियों में न पड़कर सुखद तथा नियमित जीवन बिताने की शिक्षा देने का आग्रह करते हैं । मानव का आध्यात्मिक कल्याण इन्द्रिय-निग्रह से होता है । "आत्मनस्तु क्रियोपायो नान्यत्रेन्द्रिय - निग्रहात" इस प्रकार इन्द्रियों को वश में करके ही जीवन को सुखी बनाया जा सकता है ।

कालिदास के "रघुवंश" के आनन्दवादी दर्शन में यद्यपि क्षणिक जीवन की व्याख्या की गई है फिर भी उसे जीने योग्य माना गया है ।

"मरणं प्रकृति: शरीरिणां विकृति जीवित मुच्यते बुधै: ।
क्षणमप्यवतिष्ठते श्वसन्यादि जन्तुर्ननु लाभवानसौ ।।"[17]

जीवन के प्रति अनुराग की ऐसी ही धारणा कालिदास की अन्य कृति "कुमारसंभव" में भी प्राप्त होती है । कालिदास की दृष्टि में शरीर ही धर्म का प्रथम स्थान है । पार्वती तप भी करती है तो उसका लक्ष्य तप की अति न होकर शिव की प्राप्ति होता है । तप या साधना से ही प्रेम भावना में निखार आता है तथा मिलन के परम आनन्द को प्राप्त करता है । "अभिज्ञान शाकुन्तलम्" में शकुंतला द्वारा वियोग का वहन संयोग के आनन्द का द्योतक है । यक्ष भी विरह की आग में तपकर ही आनन्द की मूल सत्ता को प्राप्त करता है ।

सर्वान्त सुख की उपलब्धि के लिए बुद्ध ने दु:ख, का कारण, दु:ख का निरोध

तथा दुःख निरोध का मार्ग -- इन चार आर्य सत्यों पर भली भाँति विचार कर जीवों के लिये वह रास्ता बताया जिस पर चलकर अज्ञानजन्य तृष्णाओं, उद्वेगों, लिप्साओं पर विजय, विजय प्राप्त कर श्रेय, कल्याण, हित, सत्य, तथ्य को पाया जा सकता है जिसमें अनन्त आनन्द तथा शान्ति का आवास है। जैन धर्म के अनुसार "वास्तविक सुख वह है, जिसका अन्त भी सुख ही हो। इसी प्रकार दुःख वही है, जिसका अन्त भी दुःख ही हो। जिस दुःख का अन्त सुख में है वही वास्तविक सुख है। इसी प्रकार जिस सुख का अन्त दुःख में हो वही वास्तविक दुःख है।"[18] इस प्रकार जैन धर्म भी कर्म को ही प्रधान तत्व मानता है। इनके अनुसार विषय के त्याग से ही सुख प्राप्त किया जा सकता है।

सिद्धों के सुखवादी दर्शन में निराशा के तत्व प्राप्त नहीं होते। सुख की प्राप्ति के लिये वे उनका दर्शन शरीर को उपयुक्त माध्यम मानते हैं। वे काया को तीर्थ की तरह पवित्र मानते हैं और सांसारिक भोगों को प्राप्त कर सुखमय जीवन व्यतीत करने की शिक्षा देते हैं। इनका दर्शन मानता है कि सृष्टि की सभी वस्तुएं क्षण-क्षण में परिवर्तित होती रहती हैं। उनमें संयोग-वियोग होता रहता है। जगत की यह सारभूत क्षणिकता बुरी नहीं है। बल्कि इसी से जगत् का सौन्दर्य तथा उसका वैचित्र्य बना रहता है। इस प्रकार जगत् की क्षणवादिता उपेक्षणीय नहीं है। सिद्धों ने जीवन की मुक्ति या मोक्ष के लिये सहज मार्ग अपनाने का उपदेश दिया है। जीवन में सहजता से दुःख-सुख जिस भी रूप में प्राप्त हो जाए उसे अपनाकर जीवन की अति से बचना चाहिए। सरहपा के इन विचारों का उद्देश्य यही रहा था कि व्यक्ति निराशा, योग, वैराग्य, चिन्ता आदि को त्याग कर सुखी जीवन व्यतीत करे। उनका मानना यह था कि मृत्यु के बाद प्राप्त होनेवाले स्वर्गीय आनन्द का कोई अस्तित्व नहीं है। स्वर्ग की चिन्ता में व्यक्ति को अपना समकालीन जीवन कष्टमय नहीं बिताना चाहिए। इस प्रकार सिद्धों ने इसी संसार में स्वाभाविक भोगमय जीवन बिताने का आदर्श प्रस्तुत किया।

"जब्बे मण अत्थमण जाई, तणु तुट्टइ बंधण।
तब्बे समरस सहजे, बज्जई सूद्द बम्हण।।"[19]

गोरखनाथ भी आनन्द की प्राप्ति के लिये मध्यमार्ग का समर्थन करते हैं। तिलोपा संसार में निर्लिप्त रहने का उपदेश देते हैं। इनके अनुसार सहज ध्यान ही परम

आनन्द का रहस्य है । इसके लिए सांसारिक भोग का त्याग अनावश्यक है । इसी सुखभोग की प्राप्ति में सिद्धों के कर्मकाण्डों में आगे चलकर बिखराव उत्पन्न होता है । सुख की साधना में पंच मकारों का योग तथा गुप्त तंत्र-मंत्र-यंत्र की साधाना में इनको ऋषितुल्य सहजता कलुषित हो गई तथा इनका सहज आत्मिक आनन्द विलुप्त होकर बुद्धिवाद तथा निर्गुण ब्रह्म की ओर उन्मुख हो गया । पूर्व मध्यकाल में सुख का जीवन के प्रति निवृत्तिवादी दृष्टिकोण रहा और उत्तर मध्यकाल में प्रवृत्तिमार्गी । जीवन का लक्ष्य धर्म हो गया । साहित्य में भी कवियों का जीवन के प्रति पलायनवादी रूप नज़र आता है -- "कवि भौतिक जगत व ऐन्द्रिय सुख की आकांक्षा से विलग होकर परम सत्य की खोज में भटकने लगा । विदेशी शासकों द्वारा निरन्तर अत्याचार किये जाने पर असमर्थता से भरा आर्तनाद पलायनवाद की व्यापकता को व्यक्त करने लगा । निर्गुण व सगुण धारा की कविताएं असफल मानवमन के हाहाकार की एकान्तिक प्रतिक्रिया है । सूर व तुलसी के साहित्य में पलायनवादिता के दर्शन होते हैं । नियतिवादिता को व्यक्त करते हुए कहा गया है -- "होय सोय राम रचि राखा ।"[20] यही पलायनवादिता और आध्यात्मिकता से निराश होकर व्यक्ति पूर्व मध्यकाल में भौतिकवाद की ओर मुड़ा । निराश व्यक्तिमन स्वयं को छिपाने के लिए सुरा-सुंदरी की ओट में जा छिपा ।

आधुनिक युग में सुख के प्रति व्यक्ति के दृष्टिकोण में विकास नज़र आता है । साहित्य में व्यक्तिवादिता का प्रारंभ हुआ । व्यक्ति अपने अस्तित्व की रक्षा करना प्रथम चाहता है बाद में सुख की बात सोचता है । डॉ0 गुप्त का कथन है, -- "वस्तुत: आत्मस्वातंत्र्य की रक्षा के हित में प्राप्त दुख चाहे वह कितना ही दारूण क्यों न हो, दासता एवं परतंत्रता की छाया में प्राप्त सुख से हजारों गुना अच्छा होता है - यह अस्तित्ववादियों का अटल विश्वास है ।"[21] यही आत्मस्वरूप की रक्षा में छायावादी कवि प्रकृति में डूबता है । इसी में कल्पना और स्मृति का सुख पाता है । स्वयं पीड़मय होते हुए भी मानव को सुख समृद्धि की दिशा देने में छायावादी कवि सुख का अनुभव करता था --

"औरों को हंसते देखो मनु,
हंसो और सुख पाओ ।

अपने सुख को विस्तृत कर लो
सबको सुखी बनाओ ।"[22]

काल्पनिक सुख में लिपटा छायावाद लोगों के मनोबल को प्रेरणा नहीं दे पाया । यही मनोबल टूटने से प्रगतिवादी विचारधारा साहित्य में आई । इसमें समाज के प्रति एक तीखी विरक्ति का भाव उभरा । कवि भीतरी द्वन्द्वों की अपेक्षा बाहरी द्वन्द्व और संघर्ष से जूझने में ही जीवन सौंदर्य खोजता रहा । इसके पश्चात् प्रयोगवाद, अकविता और नई कविता का युग आया । जिसमें व्यक्ति-वादिता में ही सुख खोजने की प्रवृत्ति प्रमुख रही । किन्तु पुनः जनवादी कविता एवं वाम कविता में समाज सुख प्रधान रहा है । प्रारंभिक उपन्यासों के दौर में जीवन के प्रति सुख का दृष्टिकोण उपदेशात्मक और सुधारवादी रहा । दैवी घटनाओं द्वारा पाठकों के मनोरंजन हेतु एवम् तिलिस्मी, ऐयारी व जासूसी उपन्यास के पात्र कल्पना सुख में विचारण करते हैं । प्रेमचंद युग में सामाजिक उपन्यास रचे गये, कर्त्तव्य और त्याग में ही सामाजिक सुख देखा गया । समाज से निषेध और व्यक्तिगत महत्ता का स्वर आगामी उपन्यासों में अधिक मुखरित होता है । अनेक क्रान्तियों एवं शिक्षा के प्रसार के कारण बौद्धिक विकास का प्रारम्भ मिलता है । उपन्यासों में व्यक्तिक सुख-दुःख और मानसिक क्रिया प्रतिक्रिया का स्वरूप मिलता है । टेढे मेढे रास्ते (भगवती चरण वर्मा) के उमानाथ का सुख-दुःख संबंधि दृष्टिकोण है -- "समाजवाद के मन में स्त्री और पुरुष सम हैं, किसी का किसी के ऊपर कोई अधिकार नहीं, कोई किसी का स्वामी नहीं है । पत्नी पति की संगिनी भर है, वह पति की ही नहीं है, ठीक उसी प्रकार जैसे कोई भी व्यक्ति मेरा मित्र हो सकता है । पति और पत्नी का विवाह विच्छेद किसी भी समय किसी की भी इच्छा से हो सकता है, ठीक उसी तरह जैसे दो मित्र कभी भी अपनी मित्रता तोड़ सकते हैं । ऐसी हालत में तुम्हारा अपमान, तुम्हारा सुख दुःख मेरा नहीं है और मेरा सुख दुःख तुम्हारा नहीं है । हमारा और तुम्हारा केवल एक आर्थिक सम्बन्ध है और केवल उस आर्थिक संबंध को ही मैं ठीक मानता हूं ।"[23] इस युग के संबंधों में अस्तित्व की आकांक्षा प्रबल हो उठी । स्वातन्त्र्योत्तर हिंदी उपन्यासों में व्यक्ति और व्यक्तित्व का अस्तित्व ही प्रमुख होते गये हैं । जीवन में सुख के महत्व के लिए

दुख भी अनिवार्यता स्वीकार करता हुआ राहुल सांस्कृत्यायन के उपन्यास "मधुर स्वप्न" का एक पात्र कहता है, "दु:सह घटनाओं या दु:खों का अस्तित्व मनुष्य के जीवन में साकार रूप में न सही, निराकार रूप में ही सदा थोड़ा-बहुत रहना चाहिए। यदि दु:ख की घड़ियों से न गुज़रें तो सुख के मूल्य को आदमी नहीं समझ पाता। धूप में जल के आये आदमी को ही शीतल छाया प्यारी लगती है, बरफ पड़ते दिनों में छाया को कोई नहीं पूछता।"[24] सुख के साथ-साथ दुख के महत्व की प्रवृत्ति भी उपन्यासों के पात्रों में मिलती है।

सुख और दुख का यह अटूट संबंध व्यक्ति को कभी व्यक्तिवादी बनाता है तो कभी सामाजिक। बदलते जीवन मूल्यों में नारी का स्वतंत्र रूप सामने आया। आधुनिकता और नवीनता के साथ-साथ वर्तमान के सुख में आस्था का स्वर "नदी के द्वीप" उपन्यास में मिलता है। पात्रों में व्यक्तिगत सुख या व्यक्तिगत निर्णय में समाज हस्तक्षेप के प्रति अस्वीकार की भावना मिलती है।

सुख का इन्द्रियगत स्वरूप :

ब्रह्माण्ड में व्याप्त वस्तुओं का कोई औचित्य ही नहीं होता यदि मनुष्य इन्द्रियहीन होता। अपना अस्तित्व रखनेवाले सभी जीव कोई न कोई इन्द्रीय या इन्द्रियों का पुंज अवश्य रखते हैं। वस्तुत: इन्द्रियाँ वस्तु के ज्ञान की संवाहक या माध्यम ही होती हैं जिनके द्वारा वस्तु का बोध मन तक पहुँचता है। इंद्रियों द्वारा ही वस्तु का ज्ञानात्मक आभास होता है अर्थात् वस्तु के भौतिक गुणों का आभास करानेवाली इन्द्रियाँ ही होती हैं। इसी प्रक्रिया में वस्तुओं के गुण-धर्म का विभाजन तथा उनकी प्राप्ति की आवश्यकता का परिष्कृत नैरन्तर्य व्यक्ति के सुखी जीवन का ध्येय होता है। मनुष्य की पाँचों इन्द्रियाँ वस्तु के भिन्न-भिन्न गुणों की संवाहक होती हैं। मनुष्य को इन्द्रियजन्य बोध से इस बात का अनुभव लगातार होता रहता है कि कौन-सी वस्तु का कौन-सा गुण उसे सुख प्रदान कर सकता है या सुख-प्राप्ति में सहयोग दे सकता है। मनुष्य की पाँचों इन्द्रियों का कार्यक्षेत्र तथा ग्रहणशीलता भिन्न-भिन्न होती है।

मन की चंचलता इन्द्रियों को विषय प्राप्त करने के लिये बाध्य करती है। विषय प्राप्त करने के लिए व्यक्ति नैतिक, अनैतिक कुछ भी करता है क्योंकि विषय

ही सुख के स्रोत होते हैं । चूँकि विषयवस्तु से लेकर मन तक पहुँचने की सुखानुभूति के माध्यम इन्द्रियाँ होती हैं इसीलिये भारतीय चिन्तन परम्परा में इन्द्रियों के कार्यक्षेत्र को अधिकार में रखने या सीमित रखने की बात लगातार होती रही है । इन्द्रियाँ अपनी जिज्ञासा की शान्ति के लिए असामाजिक, अनैतिक तथा अश्लील कार्य भी करवा सकती है क्योंकि अधिकांशत: सामाजिक प्राणी का इन्द्रियों पर कोई अधिकार नहीं रहता । इसीलिए धर्म में नैतिकता पर विशेष बल दिया गया है । इन्द्रियों के अनुशासन की बात हमेशा की जाती है लेकिन समाज में रहनेवाला प्राणी अपनी इन्द्रियों को पूर्णत: अपने वश में नहीं कर पाता क्योंकि उसकी दैनिक क्रिया-प्रतिक्रिया का संबंध प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से भौतिक वस्तुओं तथा विषय से आवश्यक रूप से होता है ।

मनुष्य की पाँच प्रमुख कर्मेन्द्रियाँ उसका बाह्य जगत् से संबंध स्थापित करने का माध्यम होती है । इन्हीं इन्द्रियों के माध्यम से वह अपनी आसपास व्याप्त वस्तुगत् के साथ सौहार्द्र्य संबंध स्थापित कर सत्-असत्, अनुकूल-दूषित विषय का चुनाव भी करता है । वस्तुत: ये इन्द्रियाँ उसे विषय-वस्तु के संदर्भ में अच्छे-बुरे या सुखानुभूति, दु:खानुभूति का अनुभाविक गुण प्रदान करती हैं जिसकी आरंभिक ज्ञानात्मक तथा बोधात्मक प्रक्रिया के बाद उनकी प्रकृति का अहसास कराती है । चिकित्साशास्त्र के अनुसार इनका निर्देशन तथा संचालन मन करता है जो मस्तिष्क का सूक्ष्म, अव्यक्त स्वरूप होता है जिसे भारतीय दर्शनशास्त्र ने इन्द्रिय-स्वरूप माना है ।

मनुष्य की पंचेन्द्रियों का अनुभाविक विस्तार के कारण ही वस्तुगत सुख-दु:ख की अनुभूति की जाती है । अत: यह कहा जा सकता है इन्द्रियों से प्राप्त या अनुभूता हुआ सुख-दु:ख वस्तुगत ही होता है । इन्द्रियगत सुखानुभूति उनके विकास पर भी निर्भर होती है । पाँचों में से जिस इन्द्रिय का विकास जिस सीमा तक होगा, उसकी अनुभूति की क्षमता में भी उतनी ही तीव्रता होगी । "त्वक्, स्वाद एवं घ्राणेन्द्रियाँ विकास में प्रमुख योगदान के बावजूद, चक्षु तथा श्रवणेन्द्रियों की अपेक्षा मनुष्य के ज्ञानात्मक विकास में विशेष सहयोग प्रदान नहीं करतीं ।"[25] इस बात से पता चलता है कि मनुष्य देखने तथा सुनने की प्रक्रिया द्वारा ही अधिक ज्ञान, सुख-दु:ख का अनुभव करता है और उसकी यही दो

इन्द्रियाँ विकास की आवश्यक तत्व रही हैं । छूने, चखने तथा सूँघने की प्रक्रिया चेतना को विशेष रूप से उद्वेलित नहीं करतीं । इनसे प्राप्त ज्ञान का अधिकांश देखने तथा सुनने की प्रक्रिया द्वारा शोषित कर लिया जाता है । यह सामान्य बात है कि वे चेतना के परोक्ष में स्थित होती हैं तथा हमारे वास्तपरक विचारों के गौण हिस्सों की सहायक होती हैं । अत: उनसे संबंधित सुख भी पृथक रहेगा तथा उनका सहयोग प्रकृति के मूल्यांकन में भी न हो सकेगा ।"[26] इस प्रकार मनुष्य की पाँचों प्रमुख इन्द्रियाँ भिन्न-भिन्न मात्रा, अनुपात तथा गुणों में भिन्न प्रकार का ज्ञान अर्जित करती हैं और ज्ञानार्जन का प्रमुख उद्देश्य सुख-प्राप्ति भी होता है ।

इस प्रकार इन्द्रियों से सुख प्राप्त करना मानवोचित विशेषता है । इसकी ग्रहणशीलता में उसकी बुद्धि तथा उसकी सोच विशेष सहयोगी होती है । चूँकि जीवनानुभव से मनुष्य इन्द्रियों की ग्राहकता से भली प्रकार परिचित होता रहता है तथापि वह बुद्धि का सहयोग प्राप्त कर अच्छे-बुरे, सुख-दु:ख का चुनाव करता है । "हास्पर्स के विचारों के आधार पर मानसिक तथा शारीरिक सुख में सही ढंग से इस प्रकार अन्तर किया जा सकता है "शारीरिक या इन्द्रीय सुख व दुख शरीर से प्राप्त स्थानीय (Localized) या बाह्य सुख होते हैं तथा मानसिक या अइन्द्रिय सुख वे होते हैं जो अस्थानीय या आन्तरिक (Non-localised) होते हैं ।"[27] स्थानीय तथा अस्थानीय सुखों को इस प्रकार से विवेचित किया जा सकता है कि "स्थानीय सुख वे हैं जो प्राकृतिक रूप से मूलभूत अनुभव माने जाते हैं तथा जो शरीर के एक विशिष्ट भाग या क्षेत्र में अवस्थित होते हैं जब कि अस्थानीय सुख वे होते हैं जो शरीरगत सीमाओं से जुड़े नहीं होते बल्कि वे अच्छेपन की सामान्य परिधि से सम्बद्ध होते हैं ।"[28] इस प्रकार शरीर की बहिर्क्रियाओं से प्राप्त सुख जो कि प्रमुखत: इन्द्रियों के माध्यम से ही अनुभूता जाता है, स्थानीय सुख कहलाता है जबकि वे सुख जिनकी अनुभूति में शारीरिक क्रियाओं या इन्द्रियों का योगदान नहीं होता फिर भी सुख की मन:स्थिति का वातावरण तैयार करती हैं और जिनकी गणना अच्छेपन तथा आनन्ददायियों में की जाती है वे अस्थानीय सुख कहलाते हैं क्योंकि इनकी जनक स्थिति को चिह्नित नहीं किया जा सकता । ऐसे सुख को मानसिक सुख भी कहा जा सकता है ।

सुख और आनन्द :

जीवन के आसपास रत घटनाओं का ग्राहक शरीर तथा मन दोनों होते हैं। प्रभाव का सूक्ष्म विश्लेषण किया जाए तो पता चलता है कि सुख भावनाओं के ग्रहण का स्थूल पक्ष तथा आनन्द उस प्रक्रियागत परिणाम का सूक्ष्म पक्ष होता है। सुख भावनाओं और इच्छाओं की तृप्ति का सूचक है तो दूसरी ओर आनन्द समग्र आत्मा की शान्त स्थिरता का सूचक है। आनन्द रसानुभव की स्थिति है। यदि इसे आध्यात्मिक या लौकिक दर्शन के परिप्रेक्ष्य में चिह्नें तो आनन्द सुख की आध्यात्मिक पराकाष्ठा के रूप में आँका जा सकता है। आनन्द शब्द भाव की गहराई और बारीकी को प्रकट करता है जबकि सुख भौतिक होता है।

सुख के सभी पक्षों को जानने तथा भोगते रहने के बावजूद "सुख की अवधारणा इतनी अस्पष्ट तथा अस्थिर है कि प्रत्येक व्यक्ति उसको प्राप्त करने की इच्छा रखते हुए भी वह आधिकारिक रूप ठोस रूप में यह बता पाने में असमर्थ रहता है कि वास्तव में वह क्या है जिसकी वह इच्छा तथा कामना करता है। इसका कारण यह है कि सुख की अवधारणा से संबंधित सभी तत्व मूलत: प्रयोगात्मक होते हैं तथा वे सभी अनुभवों से प्राप्त किये जाते हैं, वैसे भी सुख का विचार एक पूर्णता की अपेक्षा रखता है तथा वे सभी अनुभवों से प्राप्त किये जाते हैं, वैसे भी सुख का विचार एक पूर्णता की अपेक्षा रखता है।"[29] कान्ट के ये विचार सुख की भौतिकता के ही द्योतक हैं। सुख की व्याख्या तथा विश्लेषण में उतनी ही कठिनाई है जितनी कि अनुभवों के अभ्यान्तीकरण की व्याख्या में। वैसे भी अनुभवों के सर्वमान्य गुण या स्वयं अनुभवों को आनन्द माना गया है और अनुभव सीधे जीवन से जुड़ते हैं।[30] इसके अतिरिक्त यह भी पाया जा सकता है कि जो वस्तु, घटना या क्षण सुख देते हैं वे अन्तस में निर्वेचित होकर आनन्द का वातावरण तैयार करते हैं। लेकिन "यदि सुख का अर्थ अत्यधिक आनन्ददायी उत्तेजनात्मक क्षणों के नैरन्तर्य में निहित मान लें तो यह प्रामाणिक रूप से असंभव ही होगा। परिष्कृत आनन्द की स्थिति कुछ ही क्षणों की होती है, कभी कुछ अन्तराल से इसमें सुखी क्षणों की तीव्रता आती है लेकिन इसमें स्थायित्वता नहीं होती।"[31] वैसे भी जीवन का यह गुम्फित सत्य ही है कि व्यक्ति का जीवन पूर्णत: सुखी नहीं होता न ही हर क्षण उसके लिये आनन्ददायी होते हैं। यही बात दूसरे आयाम

में इस प्रकार विश्लेषित की जा सकती है कि लगभग सम्पूर्ण जीवन सुखमय बितानेवाला व्यक्ति मृततुल्य हो जाता है । इच्छाओं की पूर्ति सुखकर होती है लेकिन साथ ही इच्छाहीन जीवन में चेतना का संचार नहीं होता ।

सुख ससीम है और आनन्द असीम । वस्तुत: व्यवहार में सुख और आनन्द का लगभग समानार्थी प्रयोग होता है किन्तु भाव सहचर्य तथा अर्थ विस्तार की दृष्टि से दोनों भिन्न हैं । सुख मुख्यत: भौतिकता से जुड़ता तथा नि:सृत होता है वहीं आनन्द का स्रोत तथा निदान अलौकिकता में होता है । आनन्द की प्रतीति आध्यात्मिक है तथा सुख की अनुभूति दैहिक होती है । अलौकिक या आध्यात्म की अनुभूति आनन्ददायक होती है । श्री अरविन्द का भी मानना है कि -- "आनन्द । दैवी आनन्द की आश्चर्यजनक { अनोखी } शान्ति के अतिरिक्त आप { अन्य } कुछ नहीं जान सकते ।"[32] और इस शान्ति का जनक परमसत्ता ही है । "ईश्वर ही सर्वोच्च शान्ति है । देवत्व { ईश्वर } में रमे रहने से ही आपको शान्ति प्राप्त हो सकेगी ।"[33] वस्तुत: आनन्दानुभूति की जो सूक्ष्मता का आत्मीकरण आध्यात्मिक या लौकिक अनुभव में होता है वह एकदम अद्वितीय होता है । इसके अतिरिक्त "सर्वोच्च आनन्द सत्य की ध्यानावस्था में समाहित होता है"[34] क्योंकि सत्य ही मानवता का भी उत्कर्ष या चरम बिन्दु है ।

आनन्द एक शान्ति की स्थिति है । आनन्द का स्वभाव उल्लास है । व्यक्ति आनन्द की स्थिति तभी ग्रहण कर सकता है जबकि भावनाओं का सामंजस्य हो जाता है । ऐसे में मन की जो हर्षित अवस्था होती है वही स्थिति आनन्दस्वरूप होती है । योग में आनन्द वहां प्राप्त होता है जहां मनुष्य चित्त को एकाग्र कर देश एवं काल से परे हो जाए । अर्थात् मन तथा इन्द्रियों को वश में करके भौतिक अवस्था से परे हो जाना ही आनन्दावस्था होती है । योग से हट कर यदि आनन्द को सामान्य जीवन के दु:ख-दर्द के परिप्रेक्ष्य में विवेचित करें तो यह पाएंगे कि -- "हमें आनन्द की आवश्यकता तब होती है जब हम आनन्द की अनुपस्थिति के कारण दर्द की अनुभूति करते हैं, लेकिन जब हमें दर्द की अनुभूति नहीं होती है तब तक हमें आनन्द की आवश्यकता महसूस नहीं होती । इस कारण से हम आनन्द को सुखी जीवन का प्रारंभ तथा अन्त कह सकते हैं ।"[35] इस प्रकार आनन्द भोग की प्रवृत्ति के पीछे दु:ख-दर्द का, निम्नांश ही सही, सहयोग

होता है । आनन्द की अनुभूति बिछोह तथा दर्द में भी होती है । वस्तुतः यह व्यक्ति के आत्मीय संबंधों पर निर्भर करता है कि वह दर्द के किस आयाम से आनंद की अनुभूति कर रहा है । "यह प्रेम का प्रथम चिह्न है कि व्यक्ति की उपस्थिति में आनन्द से रहने के बावजूद हम उसके जाने के बाद उसकी याद करते हैं तथा दुःख के साथ आनन्द का भी अनुभव करते हैं क्योंकि वह वहाँ उपस्थित नहीं होता । इसी प्रकार स्वर्गीय (मृत) के प्रति आर्तनाद करते हैं तथा शोक में संतप्तता में भी आनन्द के गुण होते हैं । व्यक्ति के चले जाने की खोज तो होती है लेकिन उसको याद करने में आनन्द भी प्राप्त होता है, जैसा कि उसके जीवित रहने पर होता था ।"[36] इस प्रकार का आनंद आत्मीय संबंध का आनन्द है जो यह दर्शाता है कि व्यक्ति का व्यक्ति के प्रति मन से कितना आत्मीय संबंध है ।

प्राचीन काल से ही मानव के हृदय में आनन्द की अनुभूति, उसके पीछे छिपी समस्त दार्शनिकता तथा अलौकिक भावना के प्रति आदर एवं सम्मान है । जीवन का एक ध्येयपरक सत्य मानकर आनन्दानुभूति की कामना तथा उसकी उपलब्धि के लिए मानव विभिन्न प्रयासों का आश्रय लेता रहा है । चूंकि आनन्द की स्थिति क्षणजीवी होती है, मनुष्य के अपने जीवन की प्रक्रिया में से कुछ ही क्षण यदा-कदा आनन्द की अनुभूति के स्रोत हुआ करते हैं, वह नित इसकी प्राप्ति हेतु प्रयत्नशील रहता है । "आनन्द के नियम ठोस तथा स्थिर नहीं है । वे हर व्यक्ति में अलग-अलग होते हैं तथा वे प्रत्येक व्यक्ति में इस सीमा तक भिन्न होते हैं कि किसी अन्य व्यक्ति से भिन्नता जानने की अपेक्षा स्वयं ही भिन्न-भिन्न समय पर भिन्न प्रकार का होता है ।"[37] यह भिन्नता ही उसके आनन्द की भिन्नता तथा उसके नियमों की भिन्नता की द्योतक होती है ।

भारतीय चिन्ता का तप, योग, आध्यात्म या अलौकिकता का मनःस्तर पर अनुभव वस्तुतः आनन्द की साधना का ही परिणाम होता है । कला के क्षेत्र में आनन्द की ही अवतारणा की गई है । "भारतीय काव्यशास्त्र में काव्य को एक कला माना गया है जिसका मूल प्रयोजन और उद्देश्य सौन्दर्यानन्द माना गया । नाट्यशास्त्र के अनुसार भरत ने नाट्यकला का प्रचार सब लोगों को आनन्द प्रदान करने के साधन-रूप में किया है ।

"वेदविद्येतिहासानामाख्यानपरिकल्पनम् ।
विनोदजननं लोके नाट्यमेतद्भविष्यति ।।"
"सकल प्रयोजनमौलिभूतं समनन्तरमेव रसास्वादन -
समुद्भूतं विगलितवेद्यान्तरमानन्द" ‖ काव्य प्रकाश ‖ [38]

रचना के पाठन, अवलोकन तथा सृजन से जिस हार्दिक उल्लास और मन:तुष्टि का अनुभव होता है वह वस्तुत: आनन्द का प्रसार है । "कलात्मक काव्यसृजन में कवि को अनुपम आनन्द की अनुभूति होती है । आचार्य मम्मट ने इसे "सद्य: परनिर्वृतये" ‖ परमआनन्द की अनुभूति ‖ शब्द से व्याख्यायित किया है ।[39] इसके अतिरिक्त रसानुभूति में भी आनन्द का सृजन होता है । रस की निष्पत्ति जहाँ भी होगी वहाँ आनन्द का स्रोत अवश्य होगा । चार्वाकों का एक सम्प्रदाय जैविक सुख को प्रधानता नहीं देता बल्कि उपनिषदीय विचारों को महत्ता देते हुए आनन्द की विशिष्टता को जीवन में प्रमुखता देते हैं ।

"यो वै भूमा तत्सुख नाल्पे भूमैव सुखं भूमा त्वेव
विजिज्ञासितव्य इति भूमानं भगवो विजिज्ञासस्व इति ।[40]

-- छन्दोग्योपनिषद : 7·33·।

इन्होंने भूमा को ही आनन्द माना है । अल्प, सीमित, जैव सुख, सुख नहीं है, असीम, अनन्त, परितृप्तिहीन आनन्दमय सुख ही भूमा है और भूमा को ही ज्ञातव्य मानना होगा । इस प्रकार सुख या जैविक सुख के स्थान पर आनन्द ही प्रधान तथा पुरुषार्थ माना गया है जिसके सम्मुख इन्द्रीयजन सुख की महत्ता का कोई मूल्य नहीं रहता ।

अवधारणा, इतिहास तथा विश्लेषण से यह ज्ञात हो जाता है कि सुख भौतिकता की सम्पूर्ति में निहित है । जैसा कि टॉल्सटॉय ने भी माना है कि सुख अस्तित्व की दैनिक आवश्यकताओं की संतुष्टि है ।[41] जबकि आनन्द मन की एक अन्त:सलिला अनुभूति है । कुछ ने सुख को सुसमायोजित अच्छे भाग्य की देन माना है ।[42] गतिमय जीवन में अन्तत: इतना तो अवश्य प्रतीत होता है कि सुख और आनन्द -- ये दोनों मन:ग्राही तत्व स्थाई नहीं रहते । "आनंद के संदर्भ में सबसे अच्छी बात यह कही जा सकती है कि यह जीवन में कुछ चरपराहट का योग तो दे सकता है लेकिन वास्तव में यह कुछ अनुकूलता का योग नहीं करता"[43]

ऐसे में आनन्द की अनुभूति मन को सिर्फ उस अवधारणा तक सीमित हो जाती है जहाँ सिर्फ एक आत्मिक शान्ति की अभिलाषा होती है जो कि वास्तविक रूप में होती नहीं । इसी से जुड़कर यह क्रिया-प्रक्रिया, वस्तु-विषय, देश-काल सापेक्षता के आयामों में अपना अनुभूतिक अर्थ प्रदर्शित करता है ।

<u>सुखवाद :</u>

मनुष्य अपने जीवन-काल में सुख और दुःख का अनुभव अवश्य करता है । यह स्वयं पर निर्भर होता है कि किन परिस्थितियों में किस अनुभूति को प्राथमिकता व प्रश्रय दे रहा है । आवश्यकता इस बात की है कि कैसे दुःखों को कम करके जीवन में सुखी क्षणों को बढ़ाया जाए ।

सुखवाद में सुख-भोग को ही जीवन का परमध्येय माना गया है । इस सिद्धान्त ने आनन्द को ही परम माना है ।"[44] प्राचीन काल में सुखवाद अहंवादी (Egoistic) या स्वार्थपरक या[45] इस मत को माननेवाले स्वयं के अस्तित्व पर तथा उन वस्तुओं जो उन्हें प्रभावित करती थी, पर ही विचार करते थे[46] "सुखवाद का यह सम्प्रदाय एरिस्टिपस जैसे दार्शनिकों का था जिनका मानना यह था कि आनन्द इन्द्रियजन्य इच्छाओं की पूर्ण सन्तुष्टि से प्राप्त किया जा सकता है । इसी समय का सुखवाद का दूसरा सम्प्रदाय जिसके प्रवर्तक एपिक्यूरस भी आनन्द की प्रमुखता को मानते थे तथा उसे दर्द की विस्थापना से समान करने का प्रयत्न किया तथा यह बताया कि व्यक्ति अपनी इच्छाओं पर बौद्धिक रूप से अधिकार करके इसे प्राप्त कर सकता है ।"[47] ब्रिटेन के आधुनिक सुखवादी दार्शनिकों के अनुसार सुखवाद सामाजिक ज्ञान में ही निहित है ।"[48] यही आगे चलकर आधुनिक परिप्रेक्ष्य में उपयोगिता (Utilitarianism) में परिलक्षित होता है । "यह उपयोगितावाद की परम्परा अठारहवी शताब्दी के अंत में इंगलेण्ड में शुरू हुई थी । इसके अन्तर्गत वह क्रिया मान्य थी जो सुख को बढ़ावा देती हो, न सिर्फ व्यक्ति-विशेष के लिये बल्कि उन सभी के लिए जो इससे प्रभावित होते हैं । इस प्रकार उपयोगितावाद कारक के ध्येय या उसकी मूल प्रकृति पर केन्द्रित न होकर क्रिया के परिणाम तथा प्रभाव पर केन्द्रित होता है"[49] उपयोगितावाद सुखवाद के मनोवैज्ञानिक पक्ष से जुड़ता है जिसके अनुसार मानवीय क्रियाएं आनन्द की खोज तथा दर्द के बहिष्करण की प्रक्रिया द्वारा प्राथमिक रूप से संचालित होती हैं ।"[50]

सुखवाद के एक और प्रवर्तक सुकरात भी माने जाते हैं जिन्होंने यह प्रतिपादित किया था कि जीवन का उद्देश्य आनन्द है लेकिन आगे चलकर उनके अनुयायियों ने आनन्द का अर्थ इन्द्रियजन्य सुख के स्थूल रूप को ग्रहण किया और अधिक से अधिक सुख-प्राप्ति को ही जीवन का ध्येय माना । इससे सुकरात के आचरण की पवित्रता तथा सात्विकता अपने निम्न अर्थ में प्रस्तुत होने लगी ।

एपिकुरस सुखी जीवन का अंतिम लक्ष्य शरीर का दु:ख दर्द से तथा मन का कठिनाइयों-परेशानियों से छुटकारा पाना मानते हैं ।"[51] सुखी मानवीय संबंधों में मित्रता को परम सुख का स्रोत मानते हुए वे कहते हैं कि -- "यह सच है कि मित्रता आवश्यकता से उत्पन्न तो होती है लेकिन जब वह स्थापित हो जाती है तब वह स्वयं में ऐच्छिक हो जाती है । इस प्रकार मित्रता आवश्यकता की प्रक्रिया से गुज़र कर प्रेम में परिवर्तित हो जाती है ।"[52] हालांकि सुखवाद प्रमुखत: शारीरिक सुख के परिप्रेक्ष्य में ही अभिव्यक्त होता रहा है इसके बावजूद सभी सुखवादी सुख (आनन्द Pleasure) को प्रसिद्धि, कला, ज्ञान तथा मित्रता से नि:सृत मानते हैं[53] एपिकुरस के मत से मनुष्य के पक्ष में मृत्यु कोई अमांगलिक वस्तु नहीं है -- मृत के पक्ष में भी नहीं है, जीवित के पक्ष में भी नहीं है । दु:ख के स्रोत में दो प्रमुख भय में से मृत्यु का भय एक है । "मृत्यु हमारे लिये कुछ नहीं है, जब तक हमारा अस्तित्व है तब तक मृत्यु हमारे साथ नहीं होती लेकिन जब मृत्यु आती है तब हमारा कोई अस्तित्व नहीं होता"[54] अतएव मृत्यु से भयभीत न होकर सम्पूर्ण जीवन को सुख-भोग में लगाना ही आदर्श व्यक्ति का कर्तव्य है ।

भारतीय दर्शन-परम्परा में चार्वाक का दर्शन सुखवाद के संदर्भ में पाश्चात्य दर्शन के निकट बैठता है । चार्वाकों की यह विशेषता रही कि उन्होंने अपने दर्शन में शारीरिक सुख को तो विशिष्टता प्रदान की ही साथ ही जीवन में वर्तमान को ही प्रमुख माना । इनके मतानुसार व्यक्ति को न तो अपने अतीत के उन क्षणों में अपना जीवन नष्ट करना चाहिए जो कि उसके जीवन के सुखदायी क्षण थे न ही उस भविष्य की कल्पना की रचना करना चाहिए जो कि उसे भावी जीवन में सुख या आनंद दे सकते हैं । अतीत एवं भविष्य की इस सुखवादी समायोजना में व्यक्ति के वर्तमान का वह जीवन (क्षण) नष्ट हो जाता है या व्यर्थ चला

जाता है जो कि वास्तव में उसे सुख प्रदान कर सकता है । वर्तमान को भोगने से ही जीवन सफल होता है । शरीर का अस्तित्व वर्तमान जीवन तक ही सीमित है । अतः इससे प्राप्त सुख ही एकमात्र लक्ष्य होना चाहिए । जीवन की सफलता अधिक सुखोपभोग में ही है । "अच्छा काम वही है जिसमें दुःख की अपेक्षा अधिक सुख मिलता है । बुरा काम वही है जिसमें सुख की अपेक्षा दुःख मिलता है ।"[55] चार्वाक का यह मत सुखवाद कहलाता है । इस प्रकार चार्वाक प्रत्यक्ष ज्ञान को अनुमान या व्यतीत की अपेक्षा अधिक महत्व देते हैं ।

शारीरिक सुख को महत्ता प्रदान करते हुए चार्वाक दर्शन इन्द्रिय-सुख की विशिष्टता पर अधिक बल देते हैं । "संसार में जितने प्रकार के सुख है उनमें इन्द्रिय-सुख सबसे अधिक तीव्र है इसलिए इन्द्रिय सुख जीवन का चरम लक्ष्य होना चाहिए । काम ही पुरुषार्थ है ।"[56] बौद्ध दर्शन का विरोध करते हुए इनका मानना यह है कि इन्द्रिय सुख सिर्फ इसलिए नहीं त्यागा जा सकता कि उसके साथ किसी न किसी प्रकार के दुःख का मिश्रण होता है बल्कि करना यह चाहिए कि इस सुख के साथ जो दुःख जुड़ा है उसे परे हटाकर सुख से शुद्ध रूप को ग्रहण करना चाहिए तथा उसका उपभोग करना चाहिए । चार पुरुषार्थों में चार्वाक काम के अतिरिक्त अर्थ पर भी ज़ोर देते हैं जो जीवन के लिये अत्यधिक महत्वपूर्ण है फिर भी इसे जीवन का लक्ष्य नहीं माना बल्कि साधन के रूप में देखा है जिससे सुख प्राप्त किया जा सकता है । इनके अनुसार मानव जीवन का परम पुरुषार्थ काम है तथा अर्थ काम का साधक है ।

लगभग सभी सुखवादियों ने मन में प्रस्फुटित होनेवाली असंख्य इच्छाओं को दुःख का कारण माना है । इच्छाओं के दमन से ही अधिक सुखों की प्राप्ति होती है । "मनुष्य अपनी इच्छाओं की तृप्ति के लिए बेचैन रहता है । इच्छाओं की तृप्ति होने पर उसे सुख मिलता है । इस प्रकार सुख की प्राप्ति ही चरम लक्ष्य है । चार्वाक का यही सिद्धान्त सुखवाद है । कुछ चार्वाकों के अनुसार ऐन्द्रिय सुख आध्यात्मिक या बौद्धिक सुख से अधिक महत्वपूर्ण है । इस प्रकार उनका सिद्धान्त भौतिकवादी सुखवाद कहलाता है ।"[57] हर इच्छा की पूर्णता सुख प्रदान करती ही है । इच्छाओं की अपूर्णता जीवन को दुःखी कर देती है । अतः यह भी कहा जाता है कि इच्छाओं की कमी करके भी जीवन सुखी बनाया जा सकता है ।

बौद्धिक सुख एवं शान्त सुख :

मन को निर्देशित करने में बुद्धि का विशेष योगदान होता है । बुद्धि द्वारा अच्छे-बुरे, शुभ-अशुभ का तर्कपरक भेद कर इच्छाओं की पूर्ति आपूर्ति की जा सकती है । चूंकि इच्छाएं भावनाओं तथा परिस्थितियों के दबाव में बहकर मनुष्य को दुःखोन्मुख कर सकती है, इसीलिए बुद्धि पूर्ति या पूर्णता के विभिन्न आयामों को तर्क-वितर्क की कसौटी में कस कर उनका परिष्करण कर उन्हें सुखोन्मुख दिशा प्रशस्त करती है । प्लेटो और अरस्तू ने भी माना है कि बुद्धि जीवन की मार्गदर्शी होती है । भावना अपने आप में अंधी होती है । ध्येय निर्धारण के बाद भी वह अपनी तृप्ति के साधन के लिये बुद्धि का उपयोग करती है ।

मनुष्य पशु की तरह क्षणिक सुख की खोज नहीं करता बल्कि उसके पीछे एक ध्येय, एक इच्छा लगातार कार्यरत होती है । उसके लिये इन्द्रिय सुख का ही नहीं बल्कि मानसिक सुख का भी मूल्य तथा महत्व होता है । इस प्रक्रिया में सुख की पराकाष्ठा का क्षण उसके लिये निमित्त मात्र नहीं होता बल्कि पूरी प्रक्रिया ही सुखदायी होती है । असम्बद्ध, अव्यवस्थित, आवेगपूर्ण जीवन जब दुःखी लगने लगता है तब जीवन का ध्येय शान्त सुख हो जाता है । स्वयं को भय तथा वासनाओं से मुक्त करके ही इसकी प्राप्ति की जा सकती है । वासनाओं के स्वच्छन्द उपभोग से बौद्धिक प्राणी में ऊब और अतृप्ति उत्पन्न होती है । उसका विवेक उसे बताता है कि इच्छाओं के संचयन तथा उनके उचित चुनाव से आत्मिक शान्ति मिलती है । अतः विवेक तथा संयम से शान्त-सुख की प्राप्ति होती है ।

स्थूल सुखवाद :

सुखवाद के अनुसार मनुष्य के जीवन का परम, प्रमुख ध्येय इन्द्रिय सुख है जिसका पूर्णतः सुखोपभोग करना चाहिए । इस प्रक्रिया के लिये सबसे उचित व उपयुक्त वर्तमान ही है क्योंकि अतीत लौट नहीं सकता तथा भविष्य अनिश्चित तथा अज्ञेय होता है । ऐसे समय में उसे इन्द्रियोचित सरल जीवन ही बिताना चाहिए ।

सुखवादियों के अनुसार जीवन का एकमात्र लक्ष्य भौतिक सुख है । मनुष्य को निरन्तर सुख की खोज में लगा रहना चाहिए । "खाओ, पीओ और मौज करो" के नारे में ही सुखी जीवन का सार है, उच्चतर जीवन का इससे इतर अन्य उद्देश्य और कुछ नहीं हो सकता । कुछ सुखवादियों ने यह माना कि सुख पाने की उत्तम रीति यही है कि उसको कुछ समय के लिये भूले रहें । हमेशा सुख की रट लगाने से उसकी अनुभूति की तीव्रता नष्ट ‖ क्षीण ‖ हो जाती है । चिन्तन तथा गूढ़ अध्ययन द्वारा तीव्र और शुद्ध सुख प्राप्त होता है । इस प्रकार "लीन" होना ही सुख है ।

सुखवाद में विरोधाभास यही है कि यदि सुख के प्रति आवेग प्रबल हो तो व्यक्ति अपने ध्येय में हार जाता है । सुख को खोज करने से सुख प्राप्त नहीं होता । अतः सुखी व्यक्ति वही है जिसका मन सुख के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु पर केन्द्रित है । एकमात्र सुख की खोज करना सुख के विनाश की ओर अग्रसर होना है । कुछ सुखवादी चार्वाक दार्शनिक सुखों में गुणात्मक अन्तर नहीं मानते ये आध्यात्मिक या बौद्धिक सुख को तुलना में शारीरिक सुख को निम्न नहीं मानते। जो सुख अधिक तीव्र होता है वही वांछनीय होता है । इस प्रकार ये व्यक्तिगत सुख, वर्तमान सुख एवं ऐन्द्रिक सुख को ही जीवन में प्रमुखता देते हैं । कुछ चार्वाक सुखों में गुणात्मक भेद मानते हुए इनकी अलग-अलग कोटि निर्धारित करते हैं । ये इन्द्रिय-सुख को बुरा नहीं मानते लेकिन इसके भोग संयम, नियम पालन तथा नैतिकता का विशेष आग्रह रखते हैं ।

वस्तुतः सुखवाद किसी वस्तुगत मापदण्ड को स्थापित नहीं कर सकता जिससे उसका सार्वभौम स्वरूप को स्वीकारा जा सके । सुखवाद के अनुसार सुख का मूल्य उसकी तीव्रता पर निर्भर है । सुख सापेक्ष और वैयक्तिक होता है । वह परिस्थिति, चरित्र और मानसिक स्थिति पर निर्भर करता है । प्रत्येक व्यक्ति की सुख-दुःख की भावना आत्मगत तथा दूसरे से भिन्न होती है । ऐसी स्थिति में सुख का मूल्यांकन करना कठिन ही नहीं बल्कि असंभव है । तीव्रता के आधार पर सुखों की श्रेष्ठता के मानक स्थापित नहीं किये जा सकते ।

सुखवाद के अनुसार सब सुख समान हैं । सुखका स्वरूप उस वस्तु पर निर्भर है जो कि उसके उत्पादन का कारण होती है । सुख का स्वरूप भोक्ता के चरित्र पर भी निर्भर होता है क्योंकि इच्छित वस्तु की प्राप्ति भोक्ता-विशेष

को ही सुख प्रदान करती है । योगी, सौन्दर्यप्रेमी, गरीब, बौद्धिक -- इन सभी की इच्छा का विषय उनके चरित्र और व्यक्तित्व के अनुरूप होता है जबकि सबके ध्येय भिन्न होते हैं ।

सुख के लिये व्यक्ति अपने ध्येय, उद्देश्य तथा लक्ष्य के लिये वस्तुओं, क्रियाओं, घटनाओं का चुनाव स्वयं करता है । चुनाव की यह प्रक्रिया व्यक्ति के आत्मपक्ष का सूचक होती है । सुखवादियों ने सुख की चर्चा तो की लेकिन सुख के लिये चुनाव का विषय तथा वस्तु का निर्धारण नहीं कर पाए । सुख का चुनाव में उचित स्थान तो होता है लेकिन सिर्फ सुख ही चुनाव का लक्ष्य नहीं होता ।

परिणाम की सुखवादी गणना :

बैंथम का उपयोगितावादी दर्शन सुखवाद को भिन्न-भिन्न अर्थों में सहयोग प्रदान करता है । बैंथम के अनुसार व्यक्ति सदैव अपने सुख की प्रेरणा से कार्य करता है । कर्मों के नैतिक मूल्यांकन के लिये उनका सामाजिक परिणाम जानना आवश्यक है । यदि आत्मसुख की प्रेरणा से किये हुए कर्म का परिणाम समाज के लिये सुखप्रद है तो वह कर्म शुभ है, अन्यथा अशुभ होगा । "चार्वाक ने शुभ और अशुभ का निर्णय सुख के आधार पर ही किया है । जो कर्म दु:ख की अपेक्षा अधिक सुख प्रदान करे वह शुभ है और जो कर्म सुख की अपेक्षा अधिक दु:ख उत्पन्न करे वह अशुभ है ।"[58] व्यक्ति स्वभावत: स्वार्थी होता है । इन अर्थों में वह आत्मसुख की ही खोज करता है । इस प्रकार से प्राप्त अधिकतम सुख की मात्रा से नैतिक मानदण्ड स्थापित नहीं किये जा सकते बल्कि असंभव भी है । इस असंभव को संभव बनाने के लिए बैंथम "परिणाम" को महत्व देता है । प्रेरणा और परिणाम के विरोध को बैंथम यह कह कर मिटाते हैं कि कर्म की नैतिकता प्रेरणा पर नहीं अपितु वास्तविकता अथवा सम्भावित परिणाम पर निर्भर होती है । बिना परिणाम के प्रेरणा अर्थ शून्य है ।

बैंथम से पूर्व के सुखवादियों ने सुखों के परिणाम को नापने के लिये दीर्घकालीनता और तीव्रता का भेद माना था । बैंथम भेद के सात आयाम मानता है जो सुख के आयाम को नापने के लिये आवश्यक है -- तीव्रता (INTENSITY)

दीर्घकालीनता (DURATION), सन्निकटता (PROPINQUITY) निश्चितता (CERTAINITY) एवं विशुद्धता (PURITY) बहुफलता (FECUNDITY) तथा विस्तार (EXTENT).'[59]

उपयोगितावादियों के अनुसार सुख उस भावनात्मक मुद्रा के समान है जिसकी गणना की जा सकती है तथा जिसका अंशों एवं भागों में वितरण संभव है। साथ ही सुख व्यक्ति की रुचि से स्वतंत्र तथा उसका मूल्य निरपेक्ष होता है। सुख व्यक्ति की विभिन्न भौतिक तथा मानसिक स्थितियों का सूचक है जो कि परिस्थिति, मनोदशा तथा स्वभाव पर निर्भर होता है। सुख का अपनी उत्पादक वस्तु से तथा व्यक्ति की रुचि से भी अनिवार्य संबंध होता है।

1.2 सुख का वर्गीकरण :

वैयक्तिक सुख तथा सामाजिक सुख :

सामाजिक संबंधों की उत्पत्ति व्यक्ति की अपनी आपसी क्रियाओं जैसे, लेनदेन, सहयोग, भागीदारी से होता है । अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सामाजिक व्यक्ति सदैव अपने आस-पास के व्यक्तियों पर निर्भर रहता है। समाज में व्याप्त साधनों से व्यक्ति अपने सुख को बढ़ाता है । सामाजिक व्यक्ति में समाज में जीते हुए परस्पर सहयोग की भावना तथा विकास की इच्छा बनी होती -- "समाज का अस्तित्व वहीं संभव है जहाँ सामाजिक प्राणी एक दूसरे के साथ इस प्रकार व्यवहार करते हैं जो उनके पारस्परिक ज्ञान से निर्धारित होते हैं । इस प्रकार के निर्धारित संबंध साधारणत: सामाजिक कहलाते हैं।"[60] समाज में रहते हुए व्यक्ति समाज की स्थापित मान्यताओं से अलग नहीं रह सकता । उसकी हर क्रिया-प्रतिक्रिया समाजोन्मुख होनी चाहिए तथा जिस सुख की भी वह कल्पना करता है उसका आधार सामाजिक ही होगा ।

आज समाज ऐसी भीड़ है जिसका अपना कोई चेहरा नहीं है । मनुष्य का एक व्यक्ति में सिकुड़ जाना और दूसरी तरफ समाज के सीमाहीन फैलाव के कारण व्यक्तित्वहीनता ही मनुष्य का संस्कार होने लगी है । आज के मनुष्य का दु:ख इन दो पाटों के बीच पिसे व्यक्ति की बदहवासी, लक्ष्यहीनता और अकेलेपन को प्रतिबिम्बित करता है । ऐसे में मनुष्य समाज से समझौता करने के पक्ष में नहीं बल्कि विद्रोह कर अपने अधिकारों की रक्षा करने के पक्ष में होता है । व्यक्ति की यह स्थिति सामाजीकरण की नहीं होती । समाज के प्रति उपेक्षा व्यक्ति के मन में समाज की रूढ़ मान्यताओं के प्रति उत्पन्न होती है क्योंकि समाज तथा व्यक्ति के असहज संबंधों में व्यक्ति समाज के अपेक्षित सुख को प्रदान कर पाने में अक्षम होता है । "सामाजीकरण से तात्पर्य उस प्रक्रिया से है जिसमें व्यक्ति उस समाज का क्रियाशील प्राणी बन जाता है जिसमें कि वह पैदा हुआ है, अर्थात् वह जनरीतियों, प्रथाओं के अनुसार व्यवहार तथा कार्य करता है ।"[61] जब तक व्यक्ति अपने "स्व" को खोज नहीं पाता, तब तक अपना जीवन समाज को ही समर्पित किये होता है लेकिन जब उसे इस बात का आभास

हो जाता है कि उसके सामाजिक सहयोग का कोई सुख स्वयं प्राप्त नहीं कर पा रहा है या समाज से उसे कोई सुख नहीं मिल पा रहा है तो वह समाज से कटता चला जाता है और अकेलेपन में जीने लगता है । व्यक्ति का "स्व" किम्बल यंग के अनुसार "उसके अपने कार्यों तथा विचारों की तथा उसके व्यक्तियों से संबंध की चेतना है ।"[62] व्यक्ति के सामाजिक संबंधों का चेतना के स्तर पर टूटना ही उसके अलगावीकरण का जनक होता है । समाज से कटा हुआ व्यक्ति सामाजिक जीवन में कोई रुचि नहीं रखता। वह स्वयं के जीवन को अपनी ही इच्छानुसार परिष्कृत करता है और सदा सुखी रहने का प्रयास करता है ।

आधुनिक युग में विद्रोह की भावना मुख्यतः युवा व्यक्तियों में अधिक दिखाई पड़ती है । व्यक्ति के जीवन की यह वह द्वन्द्वात्मक वय है जहाँ पर उसका मन न तो पूरी तरह समाज से जुड़ा रह पाता है, न ही समाज को त्याग ही पाता है । लेकिन यांत्रिक युग के इस विकासगामी समाज की प्रगति को देखते हुए यह निश्चित किया -- कहा जा सकता है कि युवा वर्ग में विद्रोह की मानसिकता ही अधिक पनप रही है जिसका मूल कारण यह है कि भारतीय समाज की जड़ें आज भी रूढ़ियों व परम्परा की उन प्रक्रियाओं में जकड़ी हुई हैं जिसका कोई उपयोग तथा मूल्य आज के जीवन की सापेक्षता में शेष नहीं रह गया है । आज का युवा जब अपने जीवन को सुखमय बनाना चाहता है तो परम्परा उसके मार्ग में अड़चन पैदा करती है । कहीं वह सामाजिक बन्धनों को न मानकर उसे तोड़ देता है तो कहीं न तोड़ने के लिए विवश भी होता है । व्यक्ति अपने स्वार्थ या हितों की पूर्ति के लिये समाज का निर्माण करता है या समाज में जा मिलता है लेकिन जब उसी निर्मित समाज से व्यक्ति को किसी भी प्रकार का सहयोग या सुख प्राप्त नहीं हो पाता तो वह समाज से कटता चला जाता है । "मैक आइवर तथा पेज़ के अनुसार -- "समाज रीतियों या परिपाटियों तथा कार्य-प्रणालियों की, अधिकार तथा पारस्परिक सहयोग की, अनेक समूहों तथा विभागों की, मानव-व्यवहार के नियंत्रणों तथा स्वतंत्रताओं की व्यवस्था है ।"[63] व्यक्ति अपना जीवन सामाजिक रूप से शुरू तो करता है लेकिन मनोनुकूल पृष्ठभूमि न मिल पाने की वजह से समाज में उसकी रुचि निष्क्रिय होकर व्यक्तिगत स्तर पर सक्रिय हो जाती है ।

समाज के लिये व्यक्ति एक सदस्य, एक इकाई के रूप में कार्य करता है। अपनी व्यक्तिगत सफलताओं के बावजूद वह अपने से अधिक प्रमुखता समाज को देता है जो कि उसके सामाजिक होने का एक आवश्यक तत्व भी है। सामाजिक व्यक्ति सामाजिक सुख की उपेक्षा करके अपने व्यक्तिगत जीवन को आगे नहीं बढ़ा सकता। "प्रत्येक व्यक्ति यह चाहता है कि जिस समाज का वह सदस्य है, वह उसे अपनाए, उसे पसंद करे और अपने में मिलाए रखे। यह अनुप्रेरक भारतीय समाज में अब तक एक बहुत ही शक्तिशाली प्रकरक रहा है।"[64] ऐसी स्थिति में उस व्यक्ति का वैयक्तिक सुख कुछ भी शेष नहीं रह जाता अपितु वह जो भी कार्य करता है उसके सफल परिणाम समाज के हित के लिये ही निर्धारित होते हैं। वैयक्तिक सुख को सामाजिक बनाने के लिये व्यक्ति प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सतत् प्रयत्नशील रहता है। "अधिकतर व्यक्तियों की यह चाह होती है कि समाज हमारे व्यवहार एवं क्रियाकलापों को अच्छी दृष्टि से देखे। हम जो कुछ करें, समाज उसे स्वीकृति प्रदान करे। यह चाह कभी-कभी तो प्रत्यक्ष रूप से प्रकट हो जाती है परन्तु बहुधा इसे प्रकट करने के तरीके अप्रत्यक्ष होते हैं।"[65] समाज से स्वीकृति प्राप्त करने की यह इच्छा व्यक्ति की मूल वृत्ति का सूचक है। समाज में अपना विशिष्ट स्थान बना लेना या समाज के अन्य समुदाय की विशिष्टता निर्धारित करना सामाजिक सुख है।

व्यक्ति का समाज के प्रति ऐच्छिक आचरण उसकी किसी प्रदत्त रूचि का परिणाम नहीं होता बल्कि सामाजिक होने के नाते उसका यह कर्तव्य होता है कि वह समाज की भलाई के लिये सोचे तथा कार्य करे। क्योंकि समाज का विकास ही उसके स्वयं के जीवन का विकास होता है। हेज़ (HAYES) के शब्दों में "मनुष्य अच्छे काम इसलिये नहीं करता कि ईश्वर ऐसे काम चाहता है या ऐसे व्यवहार समाज में रहने के लिये ज़रूरी हैं बल्कि मनुष्य ऐसे काम इसलिए करता है क्योंकि उन आचरणों का समाज अच्छा मानता है और इन आचरणों से संबंधित नैतिक विचार उसकी संस्थाओं में निहित है।"[66] अतः यही कि व्यक्ति समाज को सर्वोपरि मानता है। उसके आदर्श, उसकी नैतिकता, उसके कार्य सभी कुछ समाज की सापेक्षता में ही फलीभूत होते हैं। अरस्तू ने भी माना है कि जो व्यक्ति सामाजिक जीवन में दिलचस्पी नहीं रखता तथा उसमें भाग

नहीं लेता वह या तो देवता है या पशु है ।[67] इसके बावजूद आज के आधुनिक समाज की तुलना कुछ सदियों पहले के समाज से करना असंभव है । व्यक्तियों के गण, समूह या समुदाय का प्रतीक आज का अस्तित्वशील समाज नहीं रहा बल्कि संकुचित होकर परिवार की इकाई में सिमट गया है ।

विज्ञान के विकास तथा क्षण की विशिष्टता का कारण आधुनिक जीवन में व्यक्ति एवं समाज के सुख की धारणाएं, मान्यताएं तथा मानदण्ड भी भिन्न प्रकार के हो गए हैं । औद्योगीकरण तथा महानगरीकरण के प्रभाव में मानव सभ्यता के जीवन की धारणाओं तथा उसकी उपयोगिता में अप्रत्याशित बदलाव तथा अन्तर आया है । आज व्यक्ति की तथा समाज की अलग से इकाई निर्धारित करना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है । "वास्तव में कोई भी न तो पूर्ण व्यक्तिवादी हो सकता है और न पूर्ण समाजवादी हो सकता है क्योंकि व्यक्ति और समाज एक दूसरे पर क्रिया-प्रतिक्रिया करते हैं और एक दूसरे पर निर्भर है ।"[68] ऐसी स्थिति में जब न तो समाज का और न ही व्यक्ति के स्वरूप का सफल निर्धारण हो पाता है, उनके सुख को आसानी से रेखांकित नहीं किया जा सकता । ऐसे में जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति ही सुख हो सकती है जो कि स्थूल रूप से वैयक्तिक श्रेणी की सिद्ध होगी । आज के जीवन में भौतिकता मुख्य रूप से प्रभावी घटक सिद्ध हो रही है । दूसरी ओर समाज के संबंध भौतिक तत्वों पर नहीं बल्कि मानसिक धरातल पर निर्मित होते हैं । सामाजिक संबंधों के लिये मनोवैज्ञानिक तत्व आवश्यक होते हैं । सामाजिक सुख के लिये समाज में स्थित व्यक्तियों के समूह के स्वार्थपरक कारणों को प्रकाशित करना ही समाज का प्रमुख ध्येय होता है । "समाज में सहयोगी तथा विरोधी दोनों प्रकार की प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं । समाज के निर्माण के लिये लोगों का एक दूसरे की ओर आकर्षित होना, अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये एक दूसरे पर निर्भर होना तथा आपस में सहयोग करना अत्यन्त आवश्यक है । पारस्परिक सहयोग से ही सामाजिक संबंधों का ढांचा खड़ा होता है, रीति-रिवाज़, परम्पराएं, व्यवस्था, संगठन आदि का विकास होता है । पारस्परिक सहयोग की भावना ही संगठन तथा व्यवस्था को बनाए रखती है ।"[69] सामाजिक सुख का मूल-मंत्र आपसी सहयोग ही है । वैयक्तिक सुख तभी तक सुख की अनुभूति प्रदान कर सकता है जब तक व्यक्ति एकल जीवन व्यतीत करता है ।

स्थूल सुख एवं सूक्ष्म सुख :

यह सर्वभौम सत्य है कि मनुष्य सुख का अनुभव करता है । उसकी यह अनुभूति उसके विभिन्न अनुभावों में प्रकट होती है । सुख की अनुभूतियां जिन्हें वह बाह्य रूप से अनुभव करता है उनका खुलासा व्यक्ति कर देता है । ऐसे अनुभव देनेवाली क्रियाएं वस्तुएं या घटनाएं सुख के स्थूल पक्षको ही उजागर करती हैं । मनुष्य की अनुभूति सिर्फ वस्तुजन्य ही नहीं होती । उसे बहुत बार ऐसे माध्यमों से सुख की प्राप्ति होती है या इस प्रकार से सुख की अनुभूति होती है जिसका अंकन या वर्णन करना उसके अनुभव या समर्थता से परे होता है । वह यह चिह्न पाने में नितान्त असमर्थ होता है कि जिस सुख की अनुभूति उसे हुई वह कैसा सुख था या उस सुख का अनुभव उसके शरीर के किस भाग में हुआ । अपनी असमर्थता के बावजूद वह लगातार यही अनुभव करता है कि उसने सुख प्राप्त किया । वस्तुत: यह सुख का सूक्ष्म स्वरूप होता है ।

सुख का विभाजन कोई अधुनातन प्रक्रिया नहीं है । यह विषय हमेशा ही दार्शनिकों तथा आधुनिक-काल के आते-आते मनोवैज्ञानिकों तथा समाजशास्त्रियों का प्रमुख विश्लेष्य बन गया । सुखानुभूति के आधार पर सुखवादियों ने सुख को उच्च तथा निम्न (Higher and Lower) स्थानीय तथा अस्थानीय (Localized & Non-localized) स्थूल तथा सूक्ष्म, शारीरिक तथा मानसिक आदि अनेक भागों में विभक्त कर उसे समझने का प्रयत्न किया है । "परम्परागत सुखवादियों ने "उच्च सुख" तथा "निम्न सुख में अन्तर स्थापित करने का प्रयत्न किया । उन्होंने भोजन, पानी तथा काम को निम्न सुख के प्रमुख उदाहरणों में रखा तथा ज्ञान, बौद्धिक सर्जनात्मकता, कला सौन्दर्यात्मक सर्जना तथा व्यक्तिगत संबंधों जैसे मित्रता को उच्च श्रेणी के सुख के अंतर्गत रखा ।"[70] इस विभाजन में यह प्राप्त होता है कि जो क्रियाएं भौतिक रूप से जीवन से सम्बद्ध होती हैं उनसे प्राप्त सुख निम्न सुख यानि स्थूल सुख होते हैं । इसके अतिरिक्त जिनका संबंध मानसिक धरातल पर हमारे जीवन से होता है वे उच्च या सूक्ष्म सुख होते हैं ।

भारतीय एवं पाश्चात्य, दोनों ही दर्शन परम्परा में सूक्ष्म सुख की महत्ता स्थापित की गई है । चार्वाक को अपवाद मान लें तो भारतीय दर्शन भौतिक

सुख को इसलिए महत्व प्रदान नहीं करता क्योंकि इसके द्वारा व्यक्ति जैविक कष्टों में लगातार घिरता चला जाता है। इनके अनुसार व्यक्ति जब तक भौतिक जगत् की भोग-माया को त्यागता नहीं तब तक उसे ईश्वरीय या अलौकिक सुख की प्राप्ति नहीं होती पाश्चात्य दर्शन आध्यात्मिकता को आधार बना कर सुख का विश्लेषण नहीं करते बल्कि उनके सुख-विभाजन का मूल दैहिक तथा मानसिक सुख है और इसमें वे मानसिक सुख को प्रमुखता तथा स्थायित्वता प्रदान करते हैं। भारतीय दर्शन में चार्वाक योग से अधिक भोग तथा अलौकिक से अधिक इन्द्रियगत सुख-भोग को प्रमुखता देते हैं। वे इस बात को नकारते नहीं हैं कि भौतिक या इन्द्रिय सुख क्षणिक होता है। क्षणता या अल्पता ही वर्तमान जीवन का प्रमुख उत्स होता है। "अल्प होने के कारण भी भोग-सुख का तिरस्कार नहीं किया जाता। कतिपय अल्पों को जब समष्टि रूप में परिणति हो जाती है, तब वे अल्प नहीं रह जाते, वे महान से भी महत्तर बन जाते हैं। मानव जीवन में भोगजनित यही "अल्प" सुख का समष्टि रूप बृहत् आकार धारण कर लेता है।"[71] इस प्रकार स्थूल सुख से सूक्ष्म सुखकी ओर जाने की इस प्रक्रिया का सही स्वरूप तभी निर्धारित हो सकता है जब कि वास्तव में अल्प सुख या वृत्ति समष्टि रूप में परिणत हों। एक "पारिवारिक व्यक्ति जो आवश्यक जिम्मेदारियों से निबद्ध होता है, लगातार इच्छाओं के जागरण तथा उनकी पूर्ति में "अल्प" को "समष्टि" में बदल पाने में असमर्थ ही होता है।

सूक्ष्म तथा स्थूल सुख का विभाजन भाव के आधार पर भी निर्भर है। " ..... जिस प्रकार अनेक प्रकार के व्यंजनों से युक्त अन्न का भोग करते हुए स्वस्थ पुरुष आनन्द की प्राप्ति करते हैं, उसी प्रकार विभाव, अनुभाव, संचारी भावों से सम्पन्न स्थाई भावों का आस्वादन करते हुए सहृदयजन रस का आनन्द लेते हैं। प्रथम आस्वाद की प्रक्रिया स्थूल है और दूसरे की सूक्ष्म।"[72] रस के स्थूल आस्वादन अर्थात् सुख के क्षणिक स्वरूप का मन पर कोई स्थाई प्रभाव नहीं बन पाता। लेकिन सुखानुभूति यदि व्यक्ति के स्थाई भावों से मिलकर आनन्द की अवस्था तक पहुंचती हो तो उसका प्रभाव भी स्थाई होगा, क्योंकि इनका उद्भव मन की गहनता से होता है जहाँ पर भावों का स्थाई रूप से निवास होता है।

अधिकांशत: अन्य आदर्शों के लिये योग से प्राप्त सुख को ही महत्व दिया गया है। इस विधि से प्राप्त सूक्ष्म सुख के लिये इच्छाओं पर पूर्णाधिकार प्राप्त कर योगावस्था में लीन हुआ जाता है। योग में देह तथा देह से संबंधित क्रियाएं एकदम गौण हो जाती हैं तथा परम सत्ता की प्राप्ति ही जीवन का प्रमुख उद्देश्य हो जाता है। भौतिक जीवन में योग-क्रिया को नकार दिया जाता है। यहाँ भोग ही सुख प्राप्ति का मूल साधन बन जाता है। "कहा जाता है, भोग से बड़ा दूसरा सुख नहीं है, लेकिन वास्तविकता उससे परे है। भोग का अंत ग्लानि, घृणा और क्षोभ है।"[73] दैहिक जीवन के आसपास घटित क्षणों का उपभोग ही भोग है। अच्छे तथा स्थूल सुख-प्राप्ति हेतु जीवन की विशिष्टता भी तुच्छ हो जाती है तथा धन, ऐश्वर्य, सत्ता, समृद्धि आदि का मूल्य जीवन से अधिक हो जाता है जिनको हस्तगत करने के लिये व्यक्ति किसी भी प्रकार के अनाचार, दुराचार, अत्याचार या व्यभिचार करने से नहीं हिचकिचाता।

मनुष्य की अनुभूति का धरातल चेतना होती है। चेतना अपने मध्यम व निम्न खण्ड अर्थात अवचेतन व अचेतन द्वारा शरीर की सभी क्रियाओं तथा इंद्रियों से सम्बद्ध होती है। जिन इन्द्रियों का संचालन शरीर द्वारा होता है यानि कर्मेन्द्रियों द्वारा बाहरी भौतिक वस्तुओं से जिस सुख की अनुभूति होती है वे सुख अपनी अवस्था के कारण स्थूल सुख कहलाते हैं। दूसरी ओर जिन इन्द्रियों का संचालन मन द्वारा होता है यानि जिन इन्द्रियों द्वारा मानसिक स्तर पर ज्ञान प्राप्त होता है, उन ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त अदृश्य व अप्रत्यक्ष सुख की अनुभूति सूक्ष्म सुख कहलाती है। भौतिक जगत से प्राप्त सुख का धरातल कर्म होता है। भौतिक वस्तुओं को सुख का माध्यम बनाना व्यक्ति के वर्तमान जीवन में अस्थाई सुख की आकांक्षा एवं प्राप्ति का द्योतक होता है। भौतिक धरातल पर व्यक्ति द्वारा किये जानेवाले कार्य भी उसकी मानसिक इच्छा को दर्शाते हैं। चूंकि भौतिक जीवन की उपयोगिता तथा उसको सुसंगठित बनानेवाले उपादान के विषय में व्यक्ति सोचता व चुनाव करता है, अत: इन भौतिक सुखों का रूपान्तरण सूक्ष्म सुख में हो जा सकता है। जीवन की कई भौतिक क्रियाओं का संबंध व्यक्ति के मन तथा ज्ञान से होता है। ऐसे में कर्मेन्द्रियों से प्राप्त सुख की स्थापना चिरकाल के लिये मन में हो जाती है। सूक्ष्म सुख को मानसिक

तथा स्थूल सुख को दैहिक सुख से भी अभिहीत किया जा सकता है ।

आधुनिक जीवन में मानव की सभ्यता व संस्कृति जिस गति से जिस ओर विकास कर रही है, उसका पूरा लक्ष्य भौतिक सुख-भोग की ओर ही है । आज के जीवन में भौतिकता का महादैत्य एक प्राथमिक आवश्यकता के रूप में सारी मानव सभ्यता पर छाया हुआ है । सभ्यता एवं संस्कृति की होड़ भी भौतिकीय हो गई है और यही उसके विकास का मानदण्ड भी है । जीवन के भौतिकीकरण में व्यक्ति को इसका कोई दुःख नहीं होता । वह गुज़रते जा रहे समय में जो कुछ भी प्राप्त हो जाए, भोग लेना चाहता है । व्यक्ति की यह भोगवृत्ति स्थाई नहीं होती फिर भी आधुनिक जीवन की यह त्रासदी है कि व्यक्ति भौतिक या दैहिक सुख की प्राप्ति के लिये ही अपना सब कुछ गँवा देने को तत्पर होता है ।

जीवन के आधुनिक विकास की दृष्टि से आज के युग में क्षणिक, भौतिक, दैहिक सुख को प्रधानता दी जाती है । तेज़ी से व्यतीत होनेवाले जीवन में व्यक्ति के पास इतना समय नहीं है कि वह कुछ समय के लिये भौतिक सम्पन्नता तथा चिन्ताओं को त्याग कर ध्यान द्वारा मन को एकाग्र करे । संपन्नता एवं विकास की होड़ में पूंजी के अप्रत्याशित प्रभाव से व्यक्ति का जीवन इतना व्यवसायी हो गया है कि उसके लिये मानसिक सुख की प्राप्ति के लिए समय ही शेष नहीं रह पाता । आधुनिक युग में दैहिक या स्थूल सुख की महत्ता ही अधिक स्थापित की गई है, क्योंकि सुख का यही स्वरूप आज प्रचलित है । व्यक्ति का जीवन व्यवसायी हो जाना ही इस सुख को प्रमुख बनाता है । इसका व्यक्ति मूल्य लगा सकता है तथा उसे अपना सकता है । मानव जीवन की इसी सापेक्षता में काम को प्रमुखता मिलती गई । आज काम के संदर्भ, उसका धर्म, उसकी आवश्यकता आदि सभी की स्थितियाँ बदल गई हैं । प्राचीनकाल में काम जहाँ मानसिक शान्ति, सूक्ष्म सुख एवं समाधि आनन्द का द्योतक था वहीं आज उसका स्वरूप बदल कर क्षणिक शारीरिक अनुभूति में बदल गया है जिसमें अलगाव की प्रक्रिया ही प्रमुख हो गई है । काम शक्ति की स्थूलता ही आज के आधुनिक जीवन में प्रमुख हो गई है । "जीवन में सूक्ष्म आनन्द और निरूद्देश्य सुख के जितने भी स्रोत हैं, वे कहीं न कहीं काम के पर्वत से फूटते हैं । जिसका काम कुंठित, उपेक्षित अथवा अवरूद्ध है वह आनन्द के अनेक सूक्ष्म रूपों से वंचित

रह जाता है ।"[74] आज के जीवन में अर्थ के बाद दूसरी प्रभावशाली वस्तु काम ही है । यदि व्यक्ति इसका सदुपयोग कर ले तो इससे न केवल शारीरिक सुख बल्कि मानसिक आनन्द एवं सूक्ष्म संतोष की भी प्राप्ति होता है ।

सूक्ष्म आनन्द की प्राप्ति ज्ञानेन्द्रियों से होती है । किसी कार्य करने की प्रक्रिया, उसके विचार, उसकी परिणति तथा परिणाम मन:स्तर पर आनन्द की अनुभूति प्रदान करते हैं । "किसी वस्तु या दृश्य या भाव से मनुष्य जब एकाकार हो जाता है तब सौन्दर्य-बोध होता है । सब्जेक्ट और आब्जेक्ट, वस्तु और उसका दर्शन, इन दो पृथक तत्वों का भेद मिटाकर जब सब्जेक्ट आब्जेक्ट से तादात्म्य प्राप्त कर लेता है तब सौन्दर्य भावना उद्बुद्ध होती है ।"[75] सौंदर्याभिरूचि का ग्राहक मन होता है । सृजन की प्रक्रिया पूर्णत: मानसिक सुख देती है । उसका प्रदर्शन या तो पुन: किसी कला-माध्यम से या फिर उसका रूपान्तरण शरीर के किन्हीं संचारी भावों द्वारा प्रदर्शित किया जाता है । दु:खानुभूति की भी यही स्थिति होती है। "दु:खदायी चीज़ उस समय और अधिक दु:ख देती है जब उसका दु:ख मन में छिपा कर रख लिया जाता है क्योंकि आत्मा उसके साथ कुछ अधिक गहराई से संबंध बना लेती है । यदि उसे मन की सीमा से मुक्त कर दिया जाए तो एक बाहरी तत्व मानकर उसका आत्मा के साथ संबंध कम हो जाता है । इस प्रकार आन्तरिक दु:ख में कमी होती है । इसीलिये, जब व्यक्ति दु:खों से लिप्त होता है, वह उनका बाह्य प्रदर्शन आंसू या शब्दों द्वारा करता है ।"[76] यही प्रक्रिया सुख के बारे में भी की जा सकती है । सूक्ष्म या मानसिक सुख अमूर्त होता है । उससे प्राप्त संतुष्टि भी आत्म या "स्व" के धरातल पर संतोष प्रदान करती है ।

पाशविक सुख :

हर जीवि इकाई में सुख की अनुभूति है । जीवन के प्रसारण द्वारा ही संसार में व्याप्त सुखको प्राप्त किया जाता है । चूंकि मानव एक बौद्धिक प्राणी है अत: वह विस्तरित सुख को अपने जीवन के अनुरूप ढाल लेता है । विभिन्न वस्तुओं में छिपे सुख को ढूंढ कर अपने अनुकूल बना लेता है या फिर उन वस्तुओं में छिपे सुख के अनुरूप स्वयं को ढाल लेता है । समग्रत: यह कि मनुष्य अपने ज्ञान के सहयोग से सुख प्राप्त कर लेता है । लेकिन पशुओं में सुख प्राप्ति का यही एक मूल अभाव होता है । हालांकि उनमें बुद्धि तो होती है लेकिन उसका

विकास न होने तथा सोचने की उन्नत शक्ति न होने के कारण उनकी सुख-प्राप्ति में कोई प्रौढ़ता का आभास नहीं होता है। इनका ध्यान विशेषतः समय-विशेष में ही जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति कर लेना ही होता है।

मनुष्य और पशु की इच्छाओं का मूल विषय सुख होता है। दोनों के जीवन का आदि और अन्त सुख ही होता है किन्तु सिर्फ महत्ता के कारण मानवीय तथा पाशविक सुख को समान नहीं माना जा सकता क्योंकि सुख का अर्थ प्रयोग तथा अनुभूति दोनों में भिन्न होता है एवं उसकी प्राप्ति के साधन तथा उपाय भिन्न होते हैं। मनुष्य पशु की भाँति क्षणिक सुख की खोज नहीं करता। इन्द्रीय तथा मानसिक दोनों प्रकार के सुख का उसके जीवन में मूल्य होता है।

पशु केवल अपने लिये ही जीता है। जबकि व्यक्ति अपने अतिरिक्त अपने आसपास के संबंधों का ध्यान भी अपने जीवन में रखता है। व्यक्ति का सामाजिक होना ही उसे पशु-कुल से अलग करता है। समाज में रहकर व्यक्ति समाजेतर भावनाओं को सोच नहीं सकता। समाज की अच्छाई व बुराई में उसका वैयक्तिक योगदान बना रहता है। रति, क्रोध, घृणा, भय जैसे मूल भाव मनुष्य व पशु दोनों में पाये जाते हैं लेकिन पशुओं में जो भाव अनगढ़ और निचले स्तर पर अवस्थित होते हैं, मनुष्य में आकर वही अनेक रंग-रूपों में बदल जाते हैं। ये स्थाई भाव मनुष्य में बौद्धिकता तथा भाषा का जामा पहन लेते हैं। इस प्रकार मानवीय सुख सामाजिक नैतिकता की सीमा से बंधे होते हैं। जब समाज की इस नैतिकता का उल्लंघन होता है तब व्यक्ति का व्यवहार पशुवत् हो जाता है। मनुष्यता से पशुता की ओर जाने की प्रवृत्ति व्यक्ति में तब आती है जबकि नैतिक मानदण्ड, जिनसे सामाजिक प्राणी प्रशासित किया जाता है, उसके सुख प्राप्ति में बाधा उपस्थित करते हैं। इन्हीं बाधाओं से छुटकारा पाने तथा शीघ्रता में आकर व्यक्ति पशुतुल्य हो जाता है। इस प्रक्रिया में मानवीय सुखों का स्वरूप बदल जाता है तथा वे पाशविक सुख की श्रेणी में आ जाते हैं।

एक ही वस्तु से भिन्न-भिन्न ढंग से तथा भिन्न-भिन्न प्रकार से सुख प्राप्त करने की वृत्ति सिर्फ मनुष्य में ही होती है। इन्द्रियों से प्राप्त सुखों का जो अनन्त प्रसार मनुष्य में होता है वह कल्पनाहीन पशुओं में नहीं हो सकता। इस प्रकार कल्पना तथा संवेदनाहीनता यदि व्यक्ति में भी पाई जाए तो उसका

व्यवहार भी पशुतुल्य हो जाता है । सुखोपभोग में मनुष्यों में यह गुण भी होता है कि वह जैविक धरातल से उठकर आत्मिक धरातल पर पहुँच सकता है । कला, रुचि, प्रेम, सौन्दर्यबोध जैसे इन्द्रीय सुखों का जन्म जैविक धरातल पर ही संपन्न होता है किन्तु उनकी सार्थकता तब सिद्ध होती है जब वे इस वस्तु-जगत् या जैविक जीवन से ऊपर उठकर आत्मा के धरातल को स्पर्श करते हैं । अर्थात् सुखों को अनुभूतनेवाले शरीर का कमचित्र समाजोचित मूल्यों तथा नैतिकता के आदर्शस्वरूप में स्वयं को समेट लेता है । इस दृष्टि से मानवीय सुख अपनी विशिष्टता में मानवीय धरातल से उठकर मानवेतर अर्थात् आध्यात्मिक धरातल पर स्थित हो सकता है । यह मानवीय सुख की अतिविशिष्ट स्थिति मानी जाती है । इस स्थिति की प्राप्ति के लिये मनुष्य को इन्द्रियों पर अधिकार तथा जीवन के अन्य क्षणिक भोगों का परित्याग करना आवश्यक हो जाता है । लेकिन भोग-सम्पन्न संसार में रचने-बसनेवाले प्राणी से ऐसे त्याग की अपेक्षा करना असंभव है । व्यक्ति को लगातार जैविक अर्थात् इस पृथ्वी का आकर्षण उसे निम्नतर ही करता रहा । जब पशु-जगत्से मानव का क्रमिक विकास हुआ तभी से इसी वेदना का भाव उसके साथ जुड़ गया । यहीं से पशु जगत् आनन्द के अनेक सूक्ष्म रूपों से वंचित रह गया और मनुष्य इस होड़ में उससे आगे निकल गया क्योंकि मनुष्य सुख की न केवल कामना करता है अपितु उसको प्राप्त करने का संपूर्ण प्रयास भी करता है ।

1·3 सुख : काल बोध :

हर क्रिया की अपनी एक गति होती है । गति या प्रक्रिया की गणना समय में की जाती है । क्रिया चाहे अतीत में बीत चुकी हो, या भविष्य में की जानेवाली हो या फिर वर्तमान में गतिशील हो, उसका संबंध कर्ता से अवश्य होता है । वह क्रिया जिसमें कर्ता का अनुमान है, भविष्य, जिसमें प्रत्यक्ष है, तात्कालिक एवं जो स्मृतिशेष है वह अतीत है । वस्तुत: अतीत व भविष्य क्रमश: स्मृति व उम्मीद के घटक हैं जिनका वर्तमान से गुज़रे बिना अपना स्व-अस्तित्व निर्धारित नहीं हो सकता । अपने परिवेश में जीते हुए की जानेवाली क्रियाओं का व्यक्ति के सुख से मूल संबंध होता है । ऐसा बिरला ही कोई काम होता है जिसे करने में व्यक्ति को व्यक्तिगत सुख प्राप्त नहीं होता । अतीत का सुख हो या भविष्य का, व्यक्ति उनका अवलोकन या मनगमन वर्तमान जीवन में ही करता है । बीते हुए काल के क्रियात्मक परिणाम, जो उसके उस समय विशेष के जीवन को सुखी बनाए होते थे, की स्मृतियों की पुनरावृत्ति वर्तमान में होती है या की जाती है ।

अधिकांश दार्शनिकों ने विशेषत: वर्तमान का ही अस्तित्व माना है । इस अनुसार वर्तमान क्षणों की घटनाएं ही व्यक्ति के जीवन में प्रमुखता रखती हैं, क्योंकि एक सतत् प्रक्रिया में हो रहा घटनाक्रम ही अपने भविष्यत् काल में अनुमानित होता है तथा प्रक्रिया के उपरान्त अतीत में स्थानान्तरित हो जाता है । भविष्य का आगत तथा संजोई गई धारणाएं एक प्रकार स्वप्निल सुख प्रदान करती है । भविष्यगत सुख वस्तुत: अनुमान, उम्मीद, स्वप्न तथा संभावनाओं का सुख है । व्यक्ति अपनी नीति निर्धारण तथा कार्य की रूपरेखा तथा ढांचा बना कर उसके होनेवाले परिणामों के आधार पर सुख की कल्पना तथा अनुभूति प्राप्त करता है । अतीत मनुष्य का वह डिपाज़िट खण्ड है जहाँ व्यक्ति अपने वर्तमान से गुज़र कर आई हुई उन घटनाओं को संजोकर रखता है जो उसके जीवन को विशेषकर प्रभावित करती है । "समय स्मृति है, आदत है, परम्परा है । व्यक्ति का अस्तित्व सोई और जागी हुई स्मृतियों का और जुड़ावों का समुच्चय है । व्यक्ति के अस्तित्व का सबसे बड़ा भाग है समय । वह समाज की इकाई में सोचता है । उसी में काम करता है और

उसी में व्यतीत होता है। अचानक हम सोचते हैं कि हम बूढ़े हो गये हैं और समय हमें अपने आप से छीन ले जाता है। सुख के संदर्भ में व्यक्ति उन्हीं घटनाओं की स्मृति को मानसिक रूप से पुनर्प्रस्तुत करता है जो कभी उसके वर्तमान जीवन को सुखी बनाई थीं। संभावित क्रियाओं का अपने मनोनुकूल पूर्ण होना तथा पूर्ण करना वर्तमान का सुख होता है।

कार्य तथा काल का अन्त: संबंध व्यक्ति के मन से होता है। मन का कार्य के प्रति कथित संबंध व्यक्ति की रूचि के अनुसार घटता या बढ़ता है। "समय एक छलावा है और वह मन की उत्पत्ति है। समय न ठहरता और न भागता, ठहरती और भागती है स्थितियाँ, मन की परतें"[78] भौतिक स्तर पर काल के माप में परिवर्तन क्रिया-आधारित होता है लेकिन मानसिक स्तर पर व्यक्ति को काल की अनुभूति विस्तरित होती या संकुचित होती प्रतीत होती है जिसका बाहरी परिवेश या घड़ी के समय से कोई सापेक्ष संबंध नहीं होता। व्यक्ति कार्य-विशेष में मग्न होता है यानि कथित कार्य में उसकी रूचि है। कार्य की गति व प्रगति में होनेवाली या आनेवाली कठिनाइयों का मन:स्तर पर कोई आघाती असर नहीं होता और काम की शीघ्र समाप्ति का अनुभव होता है। इसके विपरीत व्यक्ति का कार्य के प्रति मानसिक संतुलन न जमे या उसका कोई अभिप्राय न हो तो उसी कार्य का वही निर्धारित समय उसे लंबा प्रतीत होता है। चूंकि क्रिया में मन का योगदान नहीं होता है, अत: क्रिया के प्रति रूचिर भावना का जन्म नहीं हो पाता और जबरन या विवशतावश किये जानेवाले कार्य की अवधि की परिधि फैलती प्रतीत होती है। इस प्रकार कार्य तथा काल की सापेक्षता में अन्तर महसूस किया जा सकता है। कार्य के प्रति रूचिकर या अरूचिकर भावना का होना ही सुख या दु:ख का द्योतक है।

जहाँ काल से बोध की बात जुड़ती है, वहाँ समय की विभिन्न श्रेणियाँ या घड़ी के काल से अनुशासित समय की अर्थवत्ता निरर्थक सी जान पड़ती है क्योंकि मनुष्य का जहाँ बोध है वहाँ वह स्वयं बोध के क्षणों से काल का या समय का निर्धारण करने लगता है। काल-बोध काल के साथ उतना नहीं बंधा होता है जितना कि बोध के साथ। वस्तुत: काल को समय नापने की भिन्न-भिन्न श्रेणियों में मनुष्य की सुविधा के लिए बाँट दिया गया है लेकिन उसकी

सापेक्षता तथा मूल्यांकन कार्य या गति के परिप्रेक्ष्य में ही संभव है । "यदि गति का अस्तित्व हमेशा बना रहे तो समय नष्ट नहीं होता । जिस रूप में या जिस ढंग से गति होगी, समय भी वैसा ही होगा ।"[79] इस प्रकार गति ही काल का निर्धारण करती है । जहाँ तक गति या क्रिया-प्रक्रिया से काल के अस्तित्व का बोध होता है वह बोध स्वयं समय का नहीं परंच वह उस गति या प्रक्रिया से व्यक्ति के मन का तादात्म्य है जो घटनाविशेष से संबंधित होता है । "समय के स्वयं का कोई अस्तित्व नहीं होता बल्कि बीते हुए समय में की गई क्रिया के "होने" को चेतना जिस प्रकार ग्रहण करती है, उससे या उस वस्तु से समय का अस्तित्व निर्धारित होता है, साथ ही वर्तमान तथा उसके बाद आनेवाले समय में किये जानेवाले कार्य द्वारा समय का बोध होता है ।" बर्गसाँ का भी मानना यही है कि हमारी चेतना का तात्कालिक तथ्य है ।"[81] अतः समय का बोध तभी होगा जब वस्तु या पिण्ड अर्थात् भौतिकता में कोई गति या क्रिया हो तथा जिसका व्यक्ति के साथ प्रत्यक्ष या परोक्ष संबंध रहे ।

स्मृति § अतीत § सुख :

जीवन ग्रहण करनेवाला कोई भी प्राणी अपनी कुल आयु की पूर्व-गणना नहीं कर सकता । जीवन बिताते हुए एक ऐसी सीमा पर पहुंचता ही है जहाँ उसे अपनी भौतिक शिथिलता का आभास होने लगता है । अपने जीवन के अंतिम पड़ाव तक पहुंचते हुए व्यक्ति दैनन्दिनी क्रियाओं के मध्य से ऐसे विशिष्ट अनुभवों को स्मृति में इकट्ठा करता है जिन्होंने उसे न केवल सुखानुभूति दी थी वरन् विरह-वेदना भी परोसी थी । हमारी स्मृति किसी भी समय किसी घटना का पुनराह्वान कर सकती है और अतीत का पुनर्निर्माण कर सकती है । इससे उसे एक कालातीत आयाम मिल जाता है । इतना ही नहीं, स्मृति में किसी अनुभूति की गुणात्मकता अपने मूल रूप में सुरक्षित रहती है । यहाँ तक कि जिस घटना से वह अनुभूति संबद्ध है उसके प्रायः संपूर्णतया विस्मृत हो जाने पर भी अनुभूति की गुणात्मक छाप सुरक्षित बनी रह सकती है ।"[82] व्यक्ति मूलतः अतीत में जीता नहीं है बल्कि वहाँ वह आराम या विश्राम करता है । विश्राम ही वस्तुतः सुखानुभूति है । अतीत के वे क्षण जिन्होंने व्यक्ति में

कभी अपने क्रियान्वयन के समय में सुख का संचार किया था उन्हीं सुखानुभूतिपूर्ण स्मृतियों का ही व्यक्ति अपने वर्तमान समय में पुनरावलोकन कर सुख का अनुभव करता है । वर्तमान का अनुभव लगातार अतीत में इकट्ठा होता रहता तथा स्मृति की धरोहर बनता है । "अनुभव काल का स्वानन्द अतीत के आनंद द्वारा स्वयं में जीवन्त रूप में प्रारंभ होता है तथा भविष्य में स्वयं के आनंद के रूप में रूपान्तरित होता है ।"[83] इस प्रकार स्मृति में अवस्थित सुख वर्तमान जीवनकाल में आनन्द के प्रयत्न को दुगना करता है और यही आनन्द भविष्य में सुख प्राप्ति के कार्यों को परिष्कृत करने में सहयोग प्रदान करता है ।

प्रेम के संदर्भ में अतीत अपनी विशेष भूमिका निभाता है । बीते हुए समय का वर्तमान जीवन में पुन: उपस्थित करने की प्रक्रिया में स्थित प्रगाढ़ता अतीत की घटना की प्रमुखता तथा हमारा कथित व्यक्ति व घटना से संबंध को दर्शाती है । जीवित या मृत व्यक्ति से हमारे घनिष्ठतम संबंध प्रेम की विशिष्टता दर्शाते हैं । "प्रेम का हमेशा ही यह पहला प्रमाण रहा है कि किसी व्यक्ति की उपस्थिति में आनन्द प्राप्त करने के अलावा हम उसकी अनुपस्थिति में भी उसे याद करते हैं तथा आनन्द के समतुल्य दु:ख का भी अनुभव करते हैं क्योंकि वह व्यक्ति पास नहीं होता । इसी तरह स्वर्गवासी के प्रति प्रदर्शित शोक में भी आनन्द के तत्व उपस्थित रहते हैं । व्यक्ति-विशेष की मृत्यु पर उसकी अनुपस्थिति का दु:ख तो होता ही है लेकिन उसको याद करने की प्रक्रिया में उसकी उपस्थिति तथा क्रिया-विधियों का प्रत्यक्ष अनुभव हमें आनन्द की अनुभूति प्रदान करता है ।"[84] अनुभूति के इन्हीं स्मृतिवादी क्षणों में व्यक्ति को अपने प्रियजन की निकटता का अनुभव होता है और निकटता का अनुभव ही उसके सुख का कारण बनता है ।

<u>तात्कालिक सुख :</u>

जिस कालबिन्दु पर मनुष्य का जीवन होता है या जिस काल में मनुष्य जीवित रहता है, वह वर्तमान कहलाता है । वर्तमान को लेकर काल का विभाजन हमेशा ही संदिग्ध रहा है । वर्तमान का अन्तराल निश्चित कर पाना जितना असंभव है, उसे नकारना भी उतना ही गलत है । समय के किसी भी अंश को यदि वर्तमान के रूप में चिह्नित किया जाए तो अवश्य ही

उसका विभाजन अतीत व भविष्य में होगा । एक गणना या अवधारणा के रूप में यह कहा जा सकता है कि "प्रस्तुत समय का वह भाग क्षण के अतिसूक्ष्म कण में विभाजित नहीं किया जा सकता, जो स्वयं में अविभाज्य है, जो भविष्य से अतीत की ओर इतनी तेज़ गति से चला जाता है तथा जिसे अल्प काल के लिए भी फैलाया नहीं जा सकता उस भाग को वर्तमान कहा जा सकता है । यदि ऐसा कोई विभाजन हो भी तो वह फिर दुबारा भविष्य तथा अतीत में विभाजित होगा ।"[85] इस प्रकार तो वर्तमान को कोई अस्तित्व-निर्धारण कर पाना असंभव प्रतीत होता है लेकिन बिना वर्तमान के अन्य दो कालों की गणना भी असंभव होती है ।

जीवन में वर्तमान ही वह काल-बिन्दु है जिसको जैविक सत्ता को कोई भी दर्शन या विचार नकारता नहीं है । वर्तमान जीवन का वह पक्ष है जहाँ व्यक्ति जीवन को जी रहा होता है या भोग रहा होता है । व्यक्ति के जीवन के संदर्भ में इतनी छूट वर्तमान-निर्धारण हेतु की जा सकती है जिसके परिप्रेक्ष्य में यह कहा जा सकता है कि जीवन की कोई एक घटना या उद्देश्य या निर्धारित लक्ष्य की पूर्ति या समाप्ति का काल वर्तमान होता है । इसके अनुसार जहाँ तक तात्कालिक सुख का संबंध है, यह कहा जा सकता है कि समय विशेष में घटनेवाली घटना या पूर्ण-अपूर्ण होता उद्देश्य या लक्ष्य से जिस सुख या दु:ख का अहसास होता है वह तात्कालिक होगा । इस प्रकार एक पूरी घटना का समय, जो सुख का द्योतक होता है या फिर उस घटना या प्रक्रिया के आद्यान्त का अन्तराल तात्कालिक होगा तथा इस घटना/प्रक्रिया से प्राप्त सुख तात्कालिक सुख माना जाएगा । अकेले वर्तमान को लेकर उसका अन्तराल निश्चित करना नितान्त भ्रामक होगा । "यदि हम समय के उस बिन्दु के बारे में सोचें जो कि क्षण के अतिसूक्ष्म विभाजन के बाद अविभाज्य बच जाता है, वह अकेला बिन्दु वर्तमान कहलाता है । यह बिन्दु इतनी त्वरा से भविष्य के होने से अतीत के होने तक की यात्रा कर लेता है कि इसका कोई अंतराल निश्चित नहीं होता ।"[86] समय स्वयं का कोई अस्तित्व नहीं होता । उसके "होने" को निश्चित करने के लिये ही अन्तराल का निर्धारण किया जाता है। "समय का सत्व अन्तराल है । सहना या भोगना ही सामयिक होना है । अन्तराल हमेशा मात्रात्मक होता है । "अन्तराल का गुण ही यही होता है

कि एक प्राप्त अन्तराल से न्यूनाधिक मात्रा में अन्तराल को संचित करने की उसमें संभावना रहती है । इस प्रकार यह कह सकते हैं कि मात्रात्मकता द्वारा ही गणना संभव हो सकती है ।"[87] मात्रा की गणना के लिये किसी भौतिक क्रिया का होना आवश्यक है क्योंकि उसी की प्रक्रिया के आधार पर ही गणना के मान स्थापित किये जा सकते हैं । प्रसिद्ध दार्शनिक बर्गसाँ ने वर्तमान को अतीत का भविष्य की ओर न दिखाई देनेवाली, धीरे-धीरे होनेवाली विकास प्रक्रिया माना है ।"[88]

अतीत एवं भविष्य का संबंध वर्तमान से ही निर्धारित होता है । यदि काल की गणना में से वर्तमान को निकाल दें तो अतीत एवं भविष्य का कोई अन्तर्सम्बन्ध ही उपस्थित न हो पाएगा । अतीत व भविष्य एक दूसरे से सीधे ही आपस में जुड़ नहीं रह सकते । उनको जोड़नेवाला अंश वर्तमान होता है । जीवन की कोई भी घटना अथवा स्वरूप जब निर्धारित करती है, वह भविष्य में होती है और जब अस्तित्व में आती है वह वर्तमान में होती है । भविष्य से वर्तमान में आने तक उसके स्वरूप में बदलाव आ सकता है । इसीलिए जो स्थिति या घटना अपने वर्तमान में क्रियाशील होती है वही स्थिति या प्रक्रिया मूलत: सुख प्रदान करती है । इसी तथ्य के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वर्तमान में घटनेवाली घटनाएं ही वास्तविक एवं सम्पूर्ण सुख देने में सक्षम होती हैं, मनुष्य के जीवन में इसी का विशेष महत्व होता है । वर्तमान जीवन में प्राप्त सुख को ही अधिकांश, निम्नांश या संपूर्ण कल्पना का एक भविष्योन्मुख बोध व्यक्ति ने किया था जो उसके आनेवाले किसी क्षण की भविष्यात्मक सुख की कल्पना थी । उसी प्रक्रिया को वर्तमान स्वरूप देकर वह तात्कालिक सुख ग्रहण करता है और अंतत: वही वर्तमान का ऐच्छिक सुख स्मृति में अपना स्थान निर्धारित कर लेता है जिसका मन:स्तर पर उपयोग कर व्यक्ति अपने वर्तमान सुखको या तो दुगना करता है या फिर अपने वर्तमान दु:ख को कम करने का प्रयास करता है । वर्तमान के अन्तराल में सुख की मात्रा की संग्रह शक्ति का अनुमान लगभग असंभव है क्योंकि "वर्तमान का अन्तराल एक घटना से दूसरी घटना तथा एक पर्यवेक्षक से दूसरे पर्यवेक्षक में भिन्न-भिन्न होता है ।"[89] वैसे भी किसी योजना का, जो कि अभी वर्तमान में नहीं है, स्वरूप वर्तमान में व्यवहार में आते आते बदल भी सकता है तथा उसके कर्ता में भी अन्तर आ

आ सकता है अतः उसका अन्तराल या समय-निर्धारण कठिन होता है ।

भविष्य सुख :

भविष्य से जुड़ी हुई घटनाएं अर्थात् घटना की कल्पना या परिकल्पना का ढांचा व्यक्ति अपने वर्तमान को समुन्नत करने तथा अपने जीवन को परिष्कृत करने के लिये गढ़ता है । त्रिकाल के दर्शन का अवलोकन करते हुए इस निष्कर्ष के निकट पहुंचा जा सकता है कि अतीत का सुखजो स्मृति का धरोहर होता है उसका समुचित सहयोग वर्तमान में उस किसी गलती को न दोहराने के लिए होता है जो कभी भूतकाल में किसी दुःख की जनक रही थी । साथ ही यह स्मृति ज्ञान वर्तमान को वह दृष्टि प्रदान करता है जिसमें वह उस नीति का सही आयोजन कर सके जो भविष्य की सीमा त्याग कर वर्तमान की ओर यानि अपने क्रियान्वयन की ओर बढ़ रही है । वर्तमान के दिक् व परिवेश के आधार पर ही व्यक्ति अपने भविष्य में कुछ घटनाओं, नीतियों, अपेक्षाओं, उम्मीदों का गठन करता है तथा उनके क्रियान्वयन की अनुकूल परिस्थिति की प्रतीक्षा वर्तमान जीवन में करता है ।

व्यक्ति अपने जीवन में सुख की जो भी कल्पना करता है उसका प्रतिफलन वर्तमान जीवन में ही होता है । इस संबंध में यदि वह अपनी परिष्कृतता का दिवा स्वप्न भी देखता है तो उस स्वप्न का आधार भी वर्तमान ही होगा, क्योंकि यह कहा जा सकेगा कि वर्तमान में जो नहीं है, उसकी कल्पना को वह भविष्य के सहारे छोड़ रहा है तथा उसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिये पूर्ण प्रयत्न-शील रहेगा । "भविष्य वर्तमान तथ्य के सत्व को अपनाता है तथा वर्तमान तथ्य की वास्तविकता के अतिरिक्त अन्य कोई वास्तविकता नहीं रखता लेकिन वर्तमान तथ्य से उसके विशिष्ट संबंध वर्तमान तथ्य की प्रकृति में ही स्वीकारे गये हैं ।"[90] अतः यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति अपने सुख-बोध की जो कल्पना करता है उसके मूल अणु उसके स्वयं के वर्तमान जीवन में ही होते हैं । उन्हीं को सुगठित कर सुखानुभूति को प्राप्त करता है ।

यदि काल के तीनों विभाजनों -- अतीत, वर्तमान एवं भविष्य को एक श्रृंखलाबद्ध विभाजन मानें तो इन तीनों का आपस में अन्तः संबंध निश्चित

जान पड़ता है । प्रत्येक अनुभव में एक नियामक क्रिया काम करती है । यह नियामक क्रिया स्मृति है । स्मृति का गुण न केवल संग्रह करना है अपितु संग्रहीत में निरन्तर चुनाव करके नये उसके नये क्रम में व्यवस्थित करने, संशोधित करने तथा पुनर्मूल्यांकन करने का कार्य भी है । इसी प्रक्रिया में उसका संबंध वर्तमान तथा भविष्य से होता है । अतीत व वर्तमान के अवलोकन से ही भविष्य की दृष्टि व स्वरूप का निर्माण होता है । बिना अतीत या वर्तमान के भविष्य मात्र कल्पनाजन्य होता है । "इस तथ्य के कारण कि वर्तमान उन संबंधों का सत्व स्वयं में ही लिये होता है जो कि भविष्य में भी रहेंगे, भविष्य के बीज वर्तमान में होते हैं । इस प्रकार उस सत्व में उन आवश्यकताओं का अधिक समावेश होता है जिन्हें भविष्य प्रमुख रूप से ग्रहण करता है । भविष्य वर्तमान में होता है, यह सर्वविदित सामान्य तथ्य है जो वस्तु की प्रकृति को निर्धारित करता है ।"[91] वर्तमान की घटनाएं तथा वर्तमान की घटनाओं के तथ्य ही भविष्य के बोध या भविष्य में की जानेवाली घटनाओं का निर्धारण करती है । वर्तमान की स्थिति ऐसे ही भविष्य के सुख-निर्धारण में अप्रत्याशित दिवास्वप्न का भी निर्माण करती है । वर्तमान की घटनाओं, स्थितियों से अपरिचित रह जाने के कारण ही व्यक्ति का भविष्य सुख दिवास्वाप्निक सुख का रूप ग्रहण करता है ।

व्यक्ति के पास भविष्य की योजनाएं तथा उनकी क्रियान्वयन पद्धति अवश्य रह सकती है लेकिन उस परिवेश या अनुकूल समय को वह अपने भविष्योन्मुख कार्य हेतु साथ नहीं रख सकता जो कि प्रक्रिया का एक आवश्यक उपकरण होता है । इसीलिये भविष्यत् सुख मात्र एक कल्पना माना गया है । हर व्यक्ति जो अपने वर्तमान से संतुष्ट या असंतुष्ट हो तो भी वह एक बृहत् सुखमय भविष्य की कामना तथा कल्पना अवश्य करता है । मनुष्य के धन संचयन की प्रवृत्ति के पीछे भी भविष्य में सुखी जीवन की ही आकांक्षा होती है । भविष्य की रहस्यात्मकता भी किसी कार्य के प्रति संभावना व संदिग्धता को ही दर्शाती है जिसके घटित न होने का भय भी मनुष्य को विचलित किये रहता है ।

1·4 सुख के निर्णायक तत्व :

वस्तुत: हर जीवन सुखान्वेषी होता है । सुख और दु:ख कर्म की एकमात्र प्रेरणाएं होते हैं । सुख ही सबका गन्तव्य है तथा उसकी आकांक्षा सभी को मान्य है । चिरकाल से ही सुख खोज तथा प्राप्ति का विषय बना हुआ है । जो कुछ भी किया तथा सोचा जाता है, सभी का मूल परिप्रेक्ष्य सुख ही होता है । सुख की चाह, दु:ख से बचाव किंवा सुख के प्रति आसक्ति, दु:ख के प्रति विरक्ति -- यह सार्विक सत्य है । जीवन का परम ध्येय सुख है । इच्छा का अनिवार्य और स्वाभाविक विषय भी सुख है । स्वभावत: मनुष्य सुख की खोज करता है और दु:ख का परित्याग करता है । सुख सापेक्ष और वैयक्तिक होता है । वह परिस्थिति, चरित्र, मानसिक व शारीरिक स्थिति, दिक-काल-परिवेश, वस्तु, विषय पर निर्भर होता है । स्वभाव के अनुसार वस्तु दुखप्रद या सुखप्रद लगती है । सुख की स्थिति एक भावना, एक अनुभूति होती है जो मनुष्य में आनन्द एवं तृप्ति का भाव सहज ही उत्पन्न करती है । सुख एक ऐसी संवेदना है जो पुलकित कर व्यक्ति के जीवन में स्फूर्ति एवं उत्साह का भाव संचारित करती है । दु:ख से प्राप्त वेदना पर सुख राहत का कार्य करता है । हर सुखी कार्य के पीछे जीवन के विभिन्न आयामों की कोई न कोई वासना का स्वरूप अवश्य छिपा रहता है । इस अर्थ में सुख वासनाओं के तुष्टिकरण का परिणाम ही होता है । अत: सुख एक अनुभूत प्रक्रिया है जिसका प्रस्तुतीकरण शब्दातीत होता है । "सुख को एक प्रक्रिया या गतिविधि माना गया है और जिसका संबंध विशेषत: इच्छा से माना जाता है ।"[92] इसके अतिरिक्त सुख किन्हीं अक्रिय क्रियाओं की देन नहीं होता न ही सिर्फ अनुकूल परिस्थितियों की देन होता है । न तो सुख की गणना की जा सकती है न ही इसकी मात्रा नापी जा सकती है और न ही इसकी गहनता का अंकन हो सकता है ।

प्राय: सभी लोगों के लिये कुछ चीजें सुख के लिये अनिवार्य होती हैं । वस्तुत: यों वस्तुएं वे मूलभूत आवश्यकताएं होती हैं जो हर प्रकार के जीवन की ज़रूरी अंग होती हैं जैसे -- "रोटी, कपड़ा, मकान, स्वास्थ्य, स्नेह, कार्य में सफलता तथा समुदाय विशेष में सम्मान आदि । चूंकि इन्हीं कुछ के अभाव

से जीवनयापन कठिन ही नहीं अपितु दुष्कर भी होता है अत: इनकी अनुपस्थिति में भी सुखी जीवन का निर्वहन असाधारण व्यक्ति ही कर सकता है । सुख की अवधारणा में अनेक भेद मिलते हैं । कोई परिवार को समृद्ध बनाने में सुखी रहता है, कोई वस्तुओं के निर्माण में, कोई कला की रचना में, कोई खाने-पीने में, कोई परोपकारों में तो कोई ईश्वरोन्मुख आध्यात्म में व्यस्त होकर सुख प्राप्त करता है या सुख की खोज करता है । परन्तु ऐसा व्यक्ति शायद ही मिलेगा या उसे ढूंढ पाना असंभव है जो दु:ख की खोज में मग्न हो । जो ऊपरी या बाहरी रूप से कष्ट झेलते दीखते हैं, वस्तुत: वे स्वयं में आत्मिक रूप से सुख का ही अनुभव कर रहे होते हैं । जो रणक्षेत्र में शहीद होते हैं या अपने आपको बलि चढा देते हैं और वे जो आत्महत्या कर लेते हैं -- दोनों व्यक्तियों का उद्देश्य आत्मतृप्ति तथा सुख ही होता है ।

अधिकांशत: यह सच है कि वही मनुष्य सुखी है जिसकी रुचियाँ व्यापक हैं, जिसका स्नेह-संबंध उन्मुक्त है, जिसका जीवन वस्तुपरक है । वैसे ये सभी सुखी मनुष्य (जीवन) के पूर्ण, सटीक मानदण्ड नहीं माने जा सकते फिर भी सुख के व्यापक फलक पर एक व्यक्ति में ये गुण अनिवार्यत: हों तो वह व्यष्टि-समष्टिगत अपने को परिवर्तित कर सुखी रह सकता है । रुचियों में तनुता, संबंधों में सौहार्दता के गुण ही उसे दूसरे की रुचि तथा स्नेह का पात्र बनाते हैं । स्नेह-पात्र होना सुख का शक्तिशाली साधन है । संबंधों की इस सुख-दायी मधुरता का समागम बहुत कम ही समाज में विकसित रूप में मिलता है । संबंधों के इस दंश-विकार को व्यक्ति अपनी रुचियों की तन्यता द्वारा दूर कर सुख-प्राप्ति के लिये एक निर्बाध बहाव तैयार कर लेता है । वस्तुत: यह प्रक्रिया पण्यता की द्योतक है जहाँ पर स्नेह देकर ही स्नेह प्राप्त किया जा सकता है । किसी को त्रास या प्रताड़ित कर सुख की आकांक्षा नहीं की जा सकती ।

जीवन का ध्येय सुख अवश्य है लेकिन व्यक्ति निरन्तर श्रेष्ठ से श्रेष्ठतर सुख की कामना तथा प्राप्ति की ओर अग्रसर होता है । एक व्यक्ति के सुख की तुलना दूसरे व्यक्ति के सुख से करना असंभव है । सुख की भावना का स्वरूप व्यक्तिगत होता है । चरित्र, प्रकृति, अभ्यास, आयु, द्वन्द्व भावना, मान-सिकता, वातावरण, परिस्थिति, जलवायु आदि के अनुरूप प्रत्येक व्यक्ति की

सुख की भावना भिन्न होती है । अतः जो एक के लिये सुखप्रद है वह दूसरे के लिये दुःख दायी भी हो सकता है । सुख के महत्व को स्थापना देना भी आवश्यक है । ऐसे व्यक्ति भी होते हैं जिनके लिये दूसरों के सुख का कोई महत्व नहीं होता अथवा दूसरों का सुख नगण्य होता है । वे दूसरों के सुखी जीवन के प्रति ईर्ष्या रखते हुए स्वयं के जीवन को दुःखी बना लेते हैं । स्वयं के सुखी जीवन के लिये यह ज़रूरी है कि दूसरों के सुख को भी महत्ता प्रदान करें ।

समय और गति के साथ-साथ व्यक्ति की चिन्ता के स्रोत, उसकी सोचने की दिशा व प्रक्रिया ही बदल गई है तथा उसके अवबोधन का स्वरूप बदला है जिससे उसकी संवेदना के स्वरूप में काफी अन्तर तथा परिवर्तन आया है । व्यक्ति के जीवनोपयोगी परम्परागत आदर्शों में परिवर्तन हुआ है जिससे पुरानी व्याख्याएं हास्यास्पद लगने लगी हैं । परम्परा की सामंजस्यता में व्यक्ति को कई स्तरों पर जीना पड़ता है । इस प्रकार विभाजित जीवन में सुख का स्वरूप भी बंट जाता है तथा उसकी शक्ति क्षीण हो जाती है । इस प्रकार विभाजित तथा क्षीणकार्य सुख अपने निर्वासित स्वरूप में दुःख का ही द्योतक हो जाता है । इसी कारण समकालीन जीवन में सुख के मानदण्ड तथा उसका स्वरूप नये ढंग से एवं नई व्याख्या के साथ उपस्थित होता है । विश्वास के बदले परीक्षण, श्रद्धा की जगह तर्क, आस्था के स्थान पर विश्लेषण ही आज की बौद्धिक श्रेष्ठता के उपादान हैं । आज का बुद्धिजीवी अपने हर कर्म में श्रेष्ठ सुख की तलाश करता है । इसके परिणाम में मानव का मूल्य जिस गति से बढ़ा उसी गति से मानवेतर शक्तियों का मूल्य घटता गया । बौद्धिकता और विज्ञान के सहयोगी दृष्टिकोण के कारण नैतिकता ईश्वरोन्मुख न रहकर मानव-सापेक्ष बनती जा रही है । इससे संपूर्ण मानवीयता की सुख की धारणा बदल गई । इस तथ्य को नकारा नहीं जा सकता कि जीवन केवल उद्वेगों और आवेगों का वासनापूर्ण तूफान नहीं बल्कि वह एक संगतिपूर्ण इकाई है । जीवन की संगति को ध्यान में रखकर तथा उसके परिप्रेक्ष्य में परिणामात्मक स्वरूप लेखकीय कथ्य के दृष्टिकोण में भी लगातार बदलाव आता जा रहा है । इस बदलाव के बावजूद यदि कोई रचना दिक्-काल परिवेश से आबद्ध अनुभव की

विराटता और चिन्तन की गहराई को सँचित व सिंचित कर चलती है तो उसका संबंध स्वतः ही मानव के सुख-दुःख से होता जाता है ।

उत्साह :

उत्साह सुखी जीवन का एक आवश्यक तत्व है । उत्साही व्यक्ति में कार्य-क्षमता अधिक बढ़ जाती है । जीवन्तता का अनुभव उत्साही क्षणों में ही किया जाता है । किसी कार्य के प्रति इच्छा या इच्छित वस्तु को पाने की उत्कट अभिलाषा की भावना से उत्साह जागता है । कार्य के प्रति सफलता और इच्छित वस्तु की प्राप्ति से व्यक्ति में उत्साह जागना स्वाभाविक है । उत्साह एक प्रेरक तत्व भी है । निरन्तर किसी को उत्साहित करते रहने पर वह व्यक्ति-विशेष अवश्य ही कार्य में सफलता पाता है । सफलता स्वयं में एक उत्साह है । सफलता व्यक्ति को उसके अस्तित्व का एहसास कराती है, और यह अहसास भी उत्साहमय ही होता है । इसके विपरीत निरन्तर प्राप्त निरुत्साह व्यक्ति का मनोबल तोड़ता है । इससे कार्य के प्रति अरूचि पैदा होती है और इसके परिणाम में असफलता ही प्राप्त होती है । "दुःख के वर्ग में जो स्थान भय का है, वही स्थान आनन्द वर्ग में उत्साह का है ।"[93] उत्साह के अंश व्यक्ति अगर जीवित हैं तो वह यदि हारता भी है तो टूटता नहीं । उसे विश्वास होता है कि कार्य के प्रति उसे भविष्य में अवश्य सफलता मिलेगी।

उत्साह का जन्म कर्म के धरातल पर होता है । कर्म में यदि आनन्द का समावेश न रहे तो वह उत्साह नहीं कहलाता । "साहसपूर्ण आनन्द की उमंग का नाम उत्साह है । कर्म सौन्दर्य के उपासक ही सच्चे उत्साही कहलाते हैं ।"[94] "जिस आनन्द से कर्म की उत्तेजना होती है और जो आनंद कर्म करते समय तक बराबर चलता है उसी का नाम उत्साह है ।"[95] व्यक्ति द्वारा किया गया कोई कार्य साहसपूर्ण तो हो सकता है लेकिन यदि वह सिर्फ बल प्रदर्शन या दुःसाहसता पर ही आधारित हो तो उसे उत्साह नहीं कहा जाता । किसी कार्य के प्रयोजन में जितनी मात्रा कर्म व उसके परिणाम के प्रयोजन की होती है उतनी ही मात्रा में कर्म के प्रति लगाव और आनन्द की भी होनी चाहिए । यानि "जब तक आनंद का लगाव किसी क्रिया, व्यापार या उसकी भावना के साथ नहीं दिखाई पड़ता तब तक उसे "उत्साह" की संज्ञा प्राप्त नहीं

होती । प्रयत्न और कर्म संकल्प उत्साह नाम आनन्द के नित्य लक्षण हैं।*[96] अत: कर्म व्यापार के साथ-साथ कर्म करने की दृढ़ शक्ति एवं उसकी सफलता की भी इच्छा होनी चाहिए ।

अक्सर यह देखा जाता है कि व्यक्ति अपने साहस व शौर्य के प्रदर्शनार्थ अनोखे कार्य करने की ओर प्रवृत्त होता है । लेकिन इस कार्य के उद्देश्य के लिये जब व्यक्ति की मानसिकता का विश्लेषण किया जाता है तब यह पता चलता है कि दु:साहस कम करने के पीछे व्यक्ति का लगाव वस्तु या व्यक्ति से जुड़ा होकर कर्म से जुड़ा होता है । "उत्साह एक यौगिक भाव है जिसमें साहस और आनंद का मेल रहता है । x x x किसी व्यक्ति या वस्तु के साथ उत्साह का सीधा लगाव नहीं होता । समुद्र लाँघने के लिए जिस उत्साह के साथ अनुमान उठे हैं उसका कारण समुद्र नहीं, समुद्र लाँघने का विकट कर्म है । कर्म भावना ही उत्साह उत्पन्न करती है, वस्तु या व्यक्ति की भावना नहीं।*[97] किये गये कर्म की मनोनुकूल फल की प्राप्ति अपार हर्ष को जन्म देती है । "यदि किसी मनुष्य को बहुत सा लाभ हो जाता है या उसकी कोई भारी कामना पूर्ण हो जाती है तो जो काम उसके सामने आते हैं उन सबको वह बड़े हर्ष और तत्परता के साथ करता है । उसके इस हर्ष और तत्परता को भी लोग उत्साह ही कहते हैं । इसी प्रकार किसी उत्तम फल या सुख-प्राप्ति की आशा या निश्चय से उत्पन्न आनंद, फलोन्मुख प्रयत्नों के अतिरिक्त और दूसरे व्यापारों के साथ संलग्न होकर, उत्साह के रूप में दिखाई पड़ता है । यदि हम किसी ऐसे उद्योगों में लगे हैं जिससे आगे चलकर हमें बहुत लाभ या सुख की आशा है तो हम इस उद्योग को तो उत्साह के साथ करते ही हैं, अन्य कार्यों में भी प्राय: अपना उत्साह दिखा देते हैं ।*[98] अत: यह कहा जा सकता है कि कर्म के द्वारा इच्छित या अनुकूल फल की प्राप्ति व्यक्ति के मन में अपार उत्साह को जन्म देती है । जिससे व्यक्ति को किये गये कर्म में उत्पन्न कष्ट सिर्फ कष्ट या दु:ख का स्रोत बनकर ही नहीं रह जाता बल्कि वह फल-प्राप्ति के कर्म के एक अंश का रूप हो जाता है ।

इस प्रकार व्यक्ति का मन कर्म-विशेष से अपने उत्साही मनोभाव से जुड़ा रहकर अपनी मानसिकता बनाए रखता है तो वह अपने जीवन में लगातार सुखी

रहता है एवं जीवन से जुड़े अन्य कार्य, अन्य विषयों का कार्यान्वयन भी वह उत्साहपूर्वक करने में सक्षम रहता है ।

विश्वास तथा, आत्म-विश्वास :

मन अनेक प्रकार की शक्तियों का पुंजीभूत रूप है । मन की दृढ़ता से व्यक्तित्व तथा व्यक्तित्व से जीवन का निर्माण होता है । मन की दृढ़ता के लिए आत्मविश्वास ही सबसे अधिक आवश्यक तत्व है । मनुष्य चाहे कितना भी शक्तिशाली या प्रतिभावान् क्यों न हो, यदि उसमें आत्म-विश्वास न रहे तो न तो उसे अपने कार्य में सफलता ही मिलेगी न ही आत्म तुष्टि । इसके विपरीत यदि व्यक्ति में दृढ़ आत्मविश्वास है तब चाहे उसे किसी बाहरी शक्ति का सहयोग न भी मिले, अन्ततः वह अपने लक्ष्य को प्राप्त कर ही लेता है ।

आत्मविश्वास की सहायता से व्यक्ति अपने मन की बिखरी हुई शक्तियों को एकत्रित कर अपनी उन्नति का मार्ग प्रशस्त कर सकता है । उसके भीतर निर्बलता के स्थान पर दृढ़ता का जन्म होता है । आत्म-विश्वास का प्रमुख गुण यह है कि इससे व्यक्ति के मन में निराशा के भाव उत्पन्न नहीं हो पाते । निराश व्यक्ति बहुत कम ही अपने उद्देश्यों में सफल होता है । आत्म-विश्वास निराशा को मन में घर करने से रोकता है । यही सफलता का भी रहस्य है। आत्मविश्वास मन की एक ऐसी आस्था है जिससे व्यक्ति का धीरज बंधा रहता है । इसी आन्तरिक धैर्य के बल पर व्यक्ति विपरीत तथा दुःखपूर्ण परिस्थितियों का सामना करता है । अतः आत्मविश्वास एक ऐसा आत्मबल है जिसके सहयोग से व्यक्ति स्वयं को सशक्त तथा समर्थ महसूस करता है ।

आत्मविश्वास की प्रगाढ़ता से मनुष्य तथा उसके उद्देश्य व लक्ष्य के बीच किसी भी प्रकार का द्वन्द्व शेष नहीं रह पाता । यही द्वन्द्वहीनता मनुष्य में सुख का संचार करती है । व्यक्ति का मन जब द्वन्द्वहीन हो जाता है तब वह सुख का अनुभव करता है ।

भावनाएं :

भावनाओं का संबंध भावुकता से है । मन की आन्तरिक अनुभूतियाँ बाह्यजगत से जिस प्रकार के संबंध को प्रकट करती हैं वे भावनाएं कहलाती । इस प्रकार भावना वस्तु के प्रति व्यक्ति के व्यक्त-अव्यक्त संबंध का नाम है । खुशी, दु:ख, क्रोध, भय, ईर्ष्या, प्रेम, आदि मनोभाव भावनाओं के अंतर्गत आते हैं, जो व्यक्ति के कर्म व प्रकृति के अनुरूप बनते व बदलते रहते हैं । व्यक्तित्व की सम्पूर्णता के लिए भावनाओं का विकास आवश्यक है । भावनाओं का ही विकास संवेग में होता है । "जब भावनाएं प्रबल रूप धारण कर लेती हैं तो संवेग बन जाती हैं । मनोवैज्ञानिक दृष्टि से संवेगों के अंतर्गत भाव, आवेग तथा शारीरिक एवं दैहिक सभी प्रतिक्रियाएं आती हैं ।"[99] संवेगों का स्वरूप जहाँ एक ओर बुद्धि को परिष्कृत कर सुखानुभूति की राह सुझाता है तो वहीं दूसरी ओर उसका कुप्रभाव भी दिखाई देता है ।

संवेगों का प्रभाव शरीर तथा मन दोनों पर दिखलाई देता है "व्यक्ति के बाह्य तथा आन्तरिक दोनों ही व्यवहारों पर संवेगों का प्रभाव पड़ता है। अत्यधिक संवेगात्मक अवस्था में मानसिक शक्तियों पर अवरोधात्मक प्रभाव पड़ता है तथा वे कुछ समय तक कार्य करना बन्द कर देती हैं ।"[100] ऐसी अवस्था में संवेग सुख का स्त्रोत नहीं होते लेकिन दूसरी ओर "संवेग वह प्रेरणा शक्ति है जो बुद्धिपूर्ण विभिन्न प्रकार के व्यवहार की उसी प्रकार सेवा करती है जिस प्रकार स्वाभाविक मूल प्रवृत्यात्मक प्रतिक्रियाएं अपरिवर्तनशील व्यवहार की आवश्यकता की सेवा करती है ।"[101] अत: संवेगों से व्यवहार को बल प्राप्त होता है ।

व्यक्ति के मन में जिस प्रकार की भावना का जन्म होता है वह उसी प्रकार का स्वरूप वस्तु में देखता है । यदि भावनाओं में सुख प्राप्ति का उद्देश्य निहित होगा तो व्यक्ति को उक्त वस्तु सुख ही प्रदान करेगी । तुलसीदास ने भी लिखा कि "जाकी रही भावना जैसी, प्रभ मुरत देखी तिन वैसी" तात्पर्य यही कि भावना से न केवल सुख की प्राप्ति हो सकती है, अपितु भावों तथा संवेगों द्वारा व्यक्ति के व्यक्तित्व का नियंत्रण होता है तथा उसके विकास के लिये भी ये एक आवश्यक तत्व के रूप में काम करते हैं ।

वस्तु कोदेखकर भी व्यक्ति के मन में उसके प्रति आकर्षण तथा भावना जागृत होती है । यह वस्तु पर निर्भर होता हैकि कथित वस्तु को देखकर हमारे मन में किस प्रकार की भावना या भावना का कौन-सा प्रकार जागृत हुआ । मन में उत्पन्न यह भावना सुख की भी हो सकती है तथा दुःख की भी हो सकती है । सुख या आनन्द के मूल स्रोत भावनाएं मानी जा सकती हैं । भावनाओं में एक रागात्मक संबंध होता हैजो एक को दूसरे के साथ जोड़ती है । इन्हीं भावनाओं के टूटने से वियोग या पीड़ा भी होती है । "संवेग वे सभी भावनाएं होती हैं जो निर्णय को प्रभावित करने के लिये व्यक्ति में बदलाव उत्पन्न करती है तथा जिनको दुःख व सुख का सहयोग भी प्राप्त होता है।"[102] इस प्रकार भावनाएं संवेग का स्वरूप प्राप्त कर मनुष्य के जीवन में निर्णायक भूमिका निभाती हैं ।

उपलब्धि की खुशी हो या कुण्ठा की दुःखदायी पीड़ा, सुरक्षा का उपकार हो या अपराध दोष-सभी भावनाएं हैं जिनसे दुःख के साथ-साथ सुख की प्राप्ति भी होती है । भावनाओं में बहकर जहाँ तन और मन दोनों एकाग्र हो जाएं वही स्थिति सुख की होती है क्योंकि व्यक्ति इस अवस्था में द्वन्द्वरहित हो जाता है ।

सौन्दर्यानुभूति :

सुख की खोज में व्यस्त व्यक्ति को सुख किसी वस्तु के रूप में प्राप्त नहीं होता । सुख अपने सूक्ष्म रूप में सृष्टि में हर जगह व्याप्त होता है । आवश्यकता यही होती है कि व्यक्ति किस तरह अपनी आसपास की बिखरी हुई वस्तुओं में सौन्दर्य देखता है तथा अपने को खुश रख सकता है । इन अर्थों में व्यक्ति में ही सौन्दर्य को खोजने की कला होनी चाहिए । उसे स्वयं ही यह चाहिए कि वह अपने स्व को जागरित कर सके तथा स्वयं के जागरण को इस ऊँचाई पर पहुँचा सके जहाँ वह सौन्दर्य का अनुभव करके अपने मन में सुख का संचरण कर सके । इस प्रकार सौन्दर्य के सिद्धान्त, जो दर्शनशास्त्र में समाहित हैं, से अधिक जीवन में सौन्दर्य की चेतना ही प्रमुख होती है ।"[103] जब चेतना को सौन्दर्य का माध्यम बनाया जाय तो यह तर्क सीधे मनुष्य से जुड़ता है जहाँ सिद्धान्तों की

अपेक्षा उसे स्वयं को अपने सुख-खोज से जुड़ना पड़ता है ।

जीवन में सुख की प्राप्ति सीधे तथा सरल ढंग से व्यक्ति के अपने ही निर्मित किये जीवन से हो सकती है । व्यक्ति में जब तक अनुभूत करने की क्षमता या आत्मजागरण नहीं होता तब तक वह अपने परिवेश की किसी भी वस्तु से सुख प्राप्त करने में असमर्थ ही होता है । व्यक्ति अपना निवासस्थान, अपने कपड़े या अपना सहयोगी साथी मित्र का चुनाव अपनी सौन्दर्य चेतना के बिना, उनके प्रभाव के बिना नहीं कर पाता ।"[104] इस प्रकार आत्मजागरण के लिए व्यक्ति अपने परिवेश का भी सहयोग तथा प्रभाव ग्रहण करता है । परिवेश के सहयोग के साथ-साथ स्वयं मनुष्य में भी इतनी योग्यता की आवश्यकता होनी चाहिए जिससे व्यक्ति के मन तथा वस्तु में सुखानुभूति युक्त रागात्मक संबंध स्थापित रह सके । इस प्रक्रिया में वस्तु के प्रति रुचि का होना भी आवश्यक है अन्यथा व्यक्ति में भले ही सौन्दर्यानुभूति रहे या उसका स्व जागा हुआ रहे या कितनी ही कलात्मकता रहे, उसका कोई उपयोग नहीं रह जाएगा। "वस्तुएं इसीलिए रुचिकर होती हैं क्योंकि हम उनके प्रति सजग रहते हैं तथा वे विशिष्ट या आवश्यक इसलिए होती हैं क्योंकि हमें उनकी आवश्यकता होती है ।"[105] इसलिए सुख के स्रोत व्यक्ति की सौन्दर्यानुभूति तथा उसका आत्मजागरण है और अनुभूति या जागरण के लिये परिवेश एवं आसपास बिखरा जीवन सहयोगी होता है ।"[106] इसी का अनुसरण कर कलाकार उन्हें आत्मसात कर पुनः समाजोपयोगी बनकर समाज को लौटाता है । इसीलिए समाज का अनुकूल, सहज, उत्तम होना कलाकार/व्यक्ति के सुख के लिए आवश्यक होता है ।

अनुकूलता :

यदि सुख को एक मानसिक अनुभूति मान लें तब इस अनुभूति के लिए यह आवश्यक है कि जीवन की हर घटनाएं, जीवन के हर आयाम अनुकूल ही हों, जीवन में अनुकूल परिस्थितियों के लिये यह भी आवश्यक है कि देश, काल और वातावरण से हमारा सहोदर संबंध रहे । स्थितियाँ, चाहे वे भौतिक हों या मानसिक, यदि वे अनुकूल हों तो ही सुखदाई हो सकती हैं । मनुष्य का अधिकांश विकास उसके स्वभाव के अनुकूल स्थितियों में होता है । प्रतिकूल परिस्थितियों में हुआ विकास कष्टकर होता है । अनुकूल परिस्थितियों में

ही व्यक्ति का सहज एवं स्वभाविक विकास होता है । विरोधाभासों में जीते हुए कभी-कभी व्यक्ति इतना विक्षिप्त-सा हो जाता है कि अनुकूल परिस्थितियाँ भी उसे सहज आनन्द प्रदान नहीं कर पातीं । आनन्द को ग्रहण करने की उसकी शक्ति ही क्षीण होती जाती है । परिस्थितियों के साथ सामन्जस्य न बैठा पाना ही दु:खी होना है या यह भी कहा जा सकता है कि "असम्बद्धता से ही दु:ख होता है ।[107] आज की मानवीय त्रासदी यही है कि न चाहते हुए भी उसे विरोधाभास में जीना पड़ता है क्योंकि "जीवन विरोधों से परिपूर्ण है फिर भी उसमें ऐसी बहुत सी सक्रिय अच्छाइयाँ हैं जिनसे सहयोग किया जा सकता है ।"[108] विरोधाभासों से सहयोग कर पाने या सामंजस्य स्थापित कर लेने की कला ही व्यक्ति को सुख प्रदान कर सकती है ।

मनुष्य जब जीवन में प्रविष्ट करता है तब उसे इस बात का ध्यान नहीं रहता या वह उक्त बात या घटना के आधार पर कोई कार्य प्रारंभ नहीं करता कि उक्त कार्य-प्रक्रिया में उस घटना-विशेष के साथ उसका परिवेश या उस घटना विशेष के साथ उसका मानसिक संतुलन अनुकूलता बनाए हुए है या नहीं । लक्ष्य के प्रारंभ के साथ क्रियाशील रहते हुए वह क्रिया और कर्म में अनुकूल सामंजस्य बनाए रखते हुए कार्यान्वित करता है । अत: यह कहा जा सकता है कि परि-स्थितियों तथा घटनाओं के अनुरूप ही स्वयं को ढाल लेने से सुख की प्राप्ति होती है ।

लक्ष्य :

अपने ध्येय तथा उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये मनुष्य जीवन में कुछ लक्ष्यों का निर्धारण करता है । लक्ष्य वस्तुत: भविष्य के वे परिणाम होते हैं जिनकी प्राप्ति की प्रक्रिया व्यक्ति अपने वर्तमान से करता है । मूलत: लक्ष्य परिणाम न होकर प्रक्रिया का अंतिम सोपान या बिन्दु होते हैं । लक्ष्य की प्राप्ति के लिये व्यक्ति संघर्ष भी करता है । परिवेश को अनुकूलता न होना ही प्रक्रिया में संघर्ष को जन्म देता है । लक्ष्यप्राप्ति का ध्येय मनुष्य को संघर्षी बना देता है । संघर्ष से प्राप्त होनेवाला कष्ट या दु:ख लक्ष्य की इच्छा तथा उसकी प्राप्ति तक आते-आते सुख मे बदल जाता है इस प्रकार लक्ष्य सुख प्रदान करता है । लक्ष्य की प्राप्ति में व्यक्ति के मन में यही भविष्य विचार होते हैं कि समकालीन प्रक्रिया में प्राप्त होनेवाला दु:ख तो क्षणमात्र के लिये है लेकिन इसका

इसका परिणाम सुखद ही रहेगा । इस प्रकार भी लक्ष्य का मूल उत्स सुखपरक ही होता है । लक्ष्य तक पहुंचने की मनोदशा सुखकर होती है । व्यक्ति के जीवन में लक्ष्य प्राप्ति का ढंग सही होना चाहिए, चाहे वह कितना भी संघर्षमय क्यों न हो अन्यथा इससे पाप तथा अपराध का जन्म भी हो सकता है । "दुष्टता जीवन के प्रति अबोद्धिक कार्य है । पाप लक्ष्यहीनता का सूचक है।"[109] समकालीन जीवन में अधिकांशतः यही होता है कि व्यक्ति लक्ष्य-प्राप्ति हेतु नैतिकता से हट जाता है और अन्ततः वही लक्ष्य दुःख का कारण बनते हैं ।

लक्ष्य प्राप्ति के लिए इच्छा शक्ति का मज़बूत होना भी आवश्यक है । इच्छा-शक्ति ही लक्ष्य प्राप्ति की प्रक्रिया में प्राप्त संघर्ष के दुःख को दूर करने में सहायक होते हैं । लक्ष्य को प्राप्त करने की इच्छा-शक्ति जितनी प्रबल होगी व्यक्ति उतनी ही तीव्रता से कष्टों को झेलता हुआ अपना लक्ष्य प्राप्त करता है।

विविधता :

व्यक्ति के जीवन में विविधता के कई आयाम होते हैं या कई प्रकार से व कई प्रकार की विविधता उसके जीवन को समृद्ध करती है । वस्तुतः विविधता सुख की आत्मा होती है ।"[110] विविध प्रकार से जिये हुए जीवन में सुख किसी न किसी रूप में अवश्य प्राप्त होता है । जो व्यक्ति जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में रुचि लेता है वह जिन्दगी में सक्रिय रूप से भागीदार होता है और इस प्रक्रिया में निरन्तर अपना विकास करता है । रुचियों में विविधता का होना ही इस बात को स्पष्ट करता है कि व्यक्ति का मानसिक क्षेत्र विस्तृत है । रुचि में एक प्रकार की सुखकर अनुभूति होती है तथा इसमें इच्छित वस्तु को प्राप्त करने अथवा उसके साथ संबंध स्थापित करने की गत्यात्मक प्रवृत्ति होती है । अरुचि एक अप्रिय अनुभूति और वस्तु-विशेष से पलायन करने की वृत्ति होती है । जिस वस्तु में अरुचि होती है, उसे व्यक्ति अपने से दूर रखने का प्रयत्न जाने या अनजाने करता रहता है । इसके विपरीत जिस वस्तु या विषय में रुचि होती है, उसे प्राप्त करने या उसके साथ संबंध बनाये रखने में व्यक्ति सुख का अनुभव करता है । रुचि के अनुसार वस्तु का चयन तथा प्राप्तेय वस्तु के अनुसार रुचि का निर्माण व्यक्ति की वैविध्य प्रकृति पर निर्भर करता है ।

व्यक्ति की विभिन्न क्षेत्रों में रुचि या दिलचस्पी के निर्माण के मुख्यतः दो कारण हैं । पहला -- जन्मजात गुण या मूल प्रेरणाएं तथा दूसरा अनुभव एवं शिक्षण । कुछ रुचियों के क्षेत्र जन्मजात गुणों पर अर्थात् घरेलू वातावरणपर आधारित होते हैं । आयु के विकास के साथ-साथ अनुभव व शिक्षण से अन्य प्रकार की रुचियों का विकास होता है । व्यक्ति विशेष द्वारा वस्तु-विशेष का पसंद करना या उसमें रुचि जतलाना उसका नितान्त व्यक्तिगत मामला होता है । इस प्रकार की रुचिरता पर बहुत हल्का ही विश्लेषण संभव है क्योंकि इसका संबंध व्यक्ति की वैयक्तिकता तथा वस्तु के साथ उसके आत्मिक संबंध पर निर्भर होता है । व्यक्ति की समकालीन मनःस्थितियों के विश्लेषण से ही कुछ सीमा तक रुचि का पता चल सकता है, क्योंकि व्यक्ति अपने मनोनुकूल ही किसी सौन्दर्य के प्रति आकृष्ट होता है । उसे वही अच्छा लगता है जो उसके विचारों तथा भावनाओं से मेल खाता है ।

विविधता से गृहीत रुचियों में समय एवं परिवेश के साथ अप्रत्याशित अंतर भी दिखलाई पड़ता है । परिवेश की विविधता व्यक्ति के सामान्य जीवन को प्रभावित करती है । इसके अतिरिक्त यह भी माना जा सकता है कि लगातार एक ही प्रकार की रुचि व्यक्ति को निरंतर सुख नहीं दे पाती । अपने परिवेश से टकराते हुए व्यक्ति परिवेश या समाज को तो अपने अनुरूप ढाल पाने में असमर्थ होने के कारण वह उसी समाज को खनिज मानकर स्वयं को उसमें से सत्व या सुख पाने के अनुकूल बना देता है । व्यक्तित्व का यही लचीलापन व्यक्ति में सुख का संचार करता है । इस प्रकार व्यक्तित्व में जितनी भी तरह से विविधताएं लाई जा सकती हैं वे सभी उत्तम सुख की दात्री होती हैं । अन्यथा व्यक्ति जितना कठोर होगा, उसके जीवन में उतनी ही सीमा तक दुःख व्याप्त रहेगा ।

प्रेरणा :

प्रोत्साहन की प्रक्रिया में व्यक्ति अकेला नहीं होता । प्रोत्साहन एक ऐसी प्रक्रिया है जहां व्यक्ति का समाज से जुड़ना आवश्यक हो जाता है । चूंकि यह कोई वस्तु नहीं होती जिसको किसी अन्य व्यक्ति से प्राप्त कर खुश हो ले ।

फिर भी कार्य करते हुए व्यक्ति इस बात की अपेक्षा समाज से रखता ही है कि कोई उसकी कार्य प्रगति के संदर्भ में उसे और अधिक प्रोत्साहित करें तथा दिशा निर्देश देते हुए और अधिक आगे बढ़ने की प्रेरणा भी दें। इससे व्यक्ति द्वारा किये जा रहे कार्य में और अधिक निखार आता है। इस परिष्कृत कार्य के परिणाम ही व्यक्ति को सुख की अनुभूति प्रदान करते हैं।

प्रेरणा तथा प्रोत्साहन व्यक्ति को संघर्षशील कार्य में प्राप्त हो रहे दु:ख को कम करने में सहायक होते हैं। सामाजिक हों या वैयक्तिक, कार्य तो स्वयं व्यक्ति को ही करना पड़ता है। इस संघर्ष में कोई अन्य भागीदारी नहीं निभाता लेकिन यदि कार्य के प्रति प्रेरणा तथा प्रोत्साहन उसे लगातार मिलता रहे तो संघर्ष का दु:ख उसे अधिक कष्टकारी नहीं प्रतीत होता। कभी-कभी प्रत्यक्ष व्यक्ति के अतिरिक्त अप्रत्यक्ष व्यक्ति या वस्तु भी प्रेरणा की स्त्रोत बन सकती है। प्रेरणा या प्रोत्साहन चाहे प्रत्यक्ष रूप से मिले या किसी निर्जीव वस्तु से, अन्तत: कारण संबंध पर ही टिकते हैं कि कथित प्रेरणादायक वस्तु का संघर्षरत व्यक्ति से कैसा तथा कितना आत्मिक संबंध है। जो प्रेरणा तथा प्रोत्साहन आत्मीय जनों से प्राप्त होते हैं, वस्तुत: उनमें तीव्र शक्ति होती है। इसी आत्मीयता की तीव्रता प्रक्रियाजन्य दु:ख को बहुत सीमा तक कम कर देते हैं तथा व्यक्ति अधिकाधिक प्रेरित होकर अपने लक्ष्य तथा उद्देश्य की ओर बढ़ता है और अन्तत: सुख का अनुभव करता है।

अत: यह कहा जा सकता है कि किसी संघर्षों या दु:खपूर्ण कार्य की प्रक्रिया के समय यदि सही व्यक्ति से प्रेरणा और प्रोत्साहन मिलता रहे तो व्यक्ति अपना लक्ष्य बिना किसी त्रुटि, थकान या चिन्ता के सुखपूर्वक प्राप्त कर सकता है।

कलात्मक सृजन :

कलात्मक सृजन या रचनात्मकता का सुख व्यक्ति का स्वयं-अर्जित सुख होता है। कोई भी कलाकार अपनी कृति का निर्माण स्वयं की बौद्धिकता द्वारा ही करता है। वैसे भी कलाकार का अपना कुछ नहीं होता। जिसकी भी रचना वह करता है उसका बीज वह अपने समाज से ही प्राप्त करता है। उस मूल खनिज पदार्थ को ही अपने विचारों से सुसंस्कृत व संपन्न

कर दुबारा उसी वस्तु को समाज में लौटा देता है । इसी प्रक्रिया में कलाकार को, जो कि स्वयं भी समाज का ही एक प्राणी होता है, एक अव्यक्त सुख की प्राप्ति होती है जिसे सृजन का सुख कहा जा सकता है ।

सृजनात्मकता मानव की एक श्रेष्ठ उपलब्धि है । नये-नये आविष्कार आदि भी मानव की सृजनात्मक शक्ति का फल है । भावनाओं का सृजन से गहरा संबंध है । " ..... सृजनात्मकता स्मृति के कार्य में सघनता की उस डिग्री को कहते हैं जहां पहुंच कर उसकी प्रक्रिया की तेज रफ्तार ज्ञान और अनुभूतियों की संचित राशि में से अधिकतम असाधारण और विशिष्ट तथ्यों, चित्रों और ब्योरों को निकाल कर उन्हें ऐसे सटीक, नपे-तुले और सजीव शब्दों में अभिव्यक्ति देती है जिन्हें सब समझ सकें ।"[111] अपने विचारों तथा अभिव्यक्ति को समाज में पहुंचाना ही स्वयं को सुखी करना है । इस प्रकार व्यक्ति से व्यक्ति तक का सम्प्रेषण सुख-प्राप्ति का ही एक मार्ग बनता है । व्यक्ति को तभी आत्मतुष्टि होती है जब उसकी बात सामनेवाला व्यक्ति बिना किसी कष्ट के समझ लेता है । दूसरे व्यक्ति को अपनी बात समझा देना ही सृजनात्मक कला है । इससे जो आनन्द की अनुभूति होती है वही सुखकर क्षण होते हैं ।

सृजन का सुख किसी विशिष्ट वर्ग की देन नहीं होता न ही कोई व्यक्ति विशेष ही इसमें सिद्धहस्त माना जा सकता है । सृष्टि का हर व्यक्ति अपने बुद्धिचातुर्य तथा स्वानुभव युक्त कला-कौशल द्वारा सृजन कर सकता है तथा आनन्दित होता है । "सृजनात्मकता हमारे जीवन को सुखी व सम्पन्न बनाती है । वह आविष्कारक, अन्वेषक, लेखक या वैज्ञानिक जैसे कुछ विशिष्ट व्यक्तियों तक ही सीमित नहीं है । एक सामान्य व्यक्ति जो किसी साधारण धंधे, जैसे बढ़ईगिरी या सुनारी में लगा हुआ है, वह भी सर्जनात्मक शक्ति द्वारा अपनी बनाई हुई चीजों में नवीन गुण, नवीन सौंदर्य उत्पन्न कर सकता है ।"[112] अपनी ही बनाई गई वस्तु में सौंदर्य उत्पन्न करना तथा सौन्दर्य के मान स्थापित करना सर्जन का एक उत्तम गुण है और जब यही सौन्दर्य समाज में अन्य व्यक्तियों द्वारा सराहा जाता है तब जिस प्रकार की मानसिक आनन्दोपलब्धि होती है वस्तुत: वह परम आनन्द की ही

अनुभूति होती है । यही प्रक्रिया सत्य, शिव तथा सौन्दर्य का एक दूसरे में रूपान्तरित व गुम्फित हो जाने की प्रक्रिया है ।

सर्जनात्मकता एक प्रतिभा है जिसके द्‌वारा व्यक्ति स्वयं को अभिव्यक्त कर सकता है । लेखक अपने लेखन में, चित्रकार अपने रंग में, शिल्पी पत्थर में, संगीतज्ञ नाद-स्वर में अपनी विशिष्ट, नई, अधुनातन कृति में अपने को अभिव्यक्त कर अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन करते हैं । यद्यपि सृजन की प्रमुख प्रक्रिया में सुख प्राप्त नहीं होता, बल्कि एक तनाव ही व्याप्त होता है । यह तनाव तब तक बना रहता है जब तक कृति अपना संपूर्ण स्वरूप, जिसकी छवि रचनाकार की प्राक्कल्पना में होती है, प्राप्त नहीं कर लेती । संपूर्ण सृजन के प्राप्त परिणाम में यही तनाव अपना स्वरूप बदलकर सुख तथा आनंद में रूपान्तरित हो जाता है । इस प्रकार तनाव से सृजन संपूर्ण होता है तथा सृजन से शान्ति प्राप्त होती है और शान्ति का ही अगला चरण सुख और आनन्द की अनुभूति होती है ।

प्रेम :

प्रेम वह जैविक बोध है जिसके केन्द्र में आकर्षण होता है । आकर्षण के बिना न तो प्रेम संभव है न ही सृष्टि । जहाँ आकर्षण होता है, वहीं प्रेम की उत्पत्ति भी संभव है । आकर्षण का मूल कारण सौन्दर्य है । जिस वस्तु की अन्य वस्तु के प्रति अन्तर्मन में सौन्दर्याभिरुचि उत्पन्न होती है उन्हीं संबंधों में प्रेम का जन्म होता है । प्रेम पारस्परिक आकर्षण की वह सहज तथा सहअनुभूति है जहाँ पर व्यक्ति मानसिक धरातल पर अपने सहकर्मी के साथ एक अदृश्य डोर से बंधता है । प्रेम के साथ निर्जीव तथा सजीव, दोनों तरह के सौन्दर्य का संयोग होता है । व्यक्ति अपनी दृष्टि तथा चाहत के अनुरूप ही अपने मनोनुकूल सौंदर्य का संधान करता है । सौन्दर्यासक्ति ही अपने अगले चरण में प्रेम का रूप धारण करती है ।

प्रेम को मूलतः सुख का पर्याय माना गया है । प्रकृति में व्याप्त चर-अचर के साथ बनते संबंधों में कोई नई वस्तु का जन्म नहीं होता बल्कि वह एक स्थिति-परिवर्तन ही है जो सुख या प्रेम का कारण बनती है। स्पिनोजा ने प्रेम की परिभाषा में कहा कि "प्रेम वह सुख है जिसके साथ किसी बाहरी कारण का प्रत्यय मिला हो । x x x और सुख वह स्थिति परिवर्तन

है जिसमें वह पूर्णता की अधम स्थिति से उत्तम स्थिति को जाता है ।"[113] पूर्णता की ओर जाने की प्रक्रिया में हुआ स्थिति का परिवर्तन ही सुखोन्मुख आग्रह है और इसी प्रक्रिया में जब बाहरीकारण का प्रत्यय गुंथ-मिल जाता है तो वही स्थिति या परिणाम प्रेम होता है । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने स्पिनोजा के बाहरीकरण के प्रत्यय को अलग ढंग से वस्तु या व्यक्ति के प्रति होनेवाला लोभ कहा । उनके अनुसार "विशिष्ट वस्तु या व्यक्ति के प्रति होने पर लोभ वह सात्विक रूप प्राप्त करता है जिसे प्रीति या प्रेम कहते हैं।[114] लोभ की अलग से व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा कि "किसी प्रकार का सुख या आनन्द देनेवाली वस्तु के संबंध में मन की ऐसी स्थिति को, जिसमें उस वस्तु के अभाव की भावना होते ही प्राप्ति, सान्निध्य या रक्षा की प्रबल इच्छा जाग पड़े, लोभ कहते हैं ।"[115] अर्थात् यह कि वह वस्तु जिससे हमारा प्रेम है उसके थोड़े से भी अभाव की पूर्ति के लिये मन व्याकुल हो उठता है, उसकी पूर्ति ही प्रेम है । प्लेटो ने सौन्दर्य के प्रति या उससे भी अधिक उसके मूल या निचोड़ के प्रति होनेवाले प्रेम को प्रेम माना है ।"[116] अन्य दार्शनिकों बौद्धिकों ने इसी से मिलती-जुलती परिभाषाएं दी हैं जैसे जीवन में सुंदर तथा अच्छे की खोज का प्रेरणा-स्त्रोत ही प्रेम है ।"[117] सृष्टि में एक सर्जनात्मक तथा आकर्षक शक्ति के रूप में भी प्रेम की व्याख्या की गई है ।"[118] स्वयं में या दूसरे में संवेगात्मक सहसंबंध या लगाव उत्पन्न करना भी प्रेम माना गया ।"[119] अन्ततः यह कि गुण, रूप आकार, सौंदर्य आदि बाहरी तत्वों के माध्यम से जिस ऐच्छिक मनःस्थिति द्वारा किसी वस्तु से सहसंबंध होता है या हो जाता है उसे प्रेम कह सकते हैं ।

प्रेम की अनुभूति अपने प्रारम्भिक अवस्था से लेकर पराकाष्ठा तक पहुंचने की प्रक्रिया में भिन्न-भिन्न आवेगों-संवेगों तथा स्वरूपों में रूपान्तरित एवं पल्लवित होता रहता है । प्रेम चूंकि एक जैविक अनुभूति है अतः जीवन के विकास के साथ-साथ जिन-जिन स्थिति परिवर्तनों का सामना तथा उनको जिस सीमा तक मनुष्य अपनी इन्द्रियों के परिप्रेक्ष्य में आत्मसात करता गया उसके अनुसार भी प्रेम के कायिक स्वरूप में परिवर्तन आता रहा । व्यक्ति की भावनाएं देश-काल परिवेश के अनुरूप परिवर्तित होती रहती हैं और "प्रेम अथवा प्रेमन् एक भाव-वाचक संज्ञा है तथा इसकी व्युत्पत्ति प्रिय शब्द से

मानी गई है ।"[120] इसलिए व्यक्ति को अन्य भावनाओं जैसे घृणा, सहचर्य, वैवाहिक संबंध, प्रतिकार, मित्रता आदि के साथ इसके विभिन्न समागम प्रस्तुत होते रहे हैं ।

मित्रता का प्रारंभिक उद्देश्य कुछ भी रहे लेकिन प्रकारान्तर में उसकी धुरी प्रेम पर आकर टिक जाती है । फिर भी इस बात में एक प्रकार की असम्भवता या द्वन्द्व भी इस तथ्य का अवश्य रहता है कि हर मैत्रिक संबंध अन्तत: प्रेम में रूपान्तरित नहीं होते । अन्य प्रकार के आकर्षण तथा चेष्टाओं में मित्रता का विकास प्रेम में हो भी सकता है लेकिन यहाँ प्रेम की सीमा समाज के नैतिक मानदण्डों से कुछ अलग हटकर बनती है । वस्तुत: ऐसे संबंधों का प्रेम शारीरिक या प्लेटोनिक प्रेम का पर्याय होता है । प्रेम का अन्य सामाजिक स्वरूप माता-पिता, भाई-बहन के संबंधों के बीच उत्पन्न होनेवाला होता है जबकि दोस्ती से उत्पन्न प्रेम के गुण भिन्न होते हैं । इसमें समर्पण का भाव प्रमुख होता है ।

मित्रता का प्रमुख कार्यकारण सहयोग है और सहयोग कार्य की परिधि में आता है । अधिकांशत: मौसमी मित्रता का संबंध एक विशिष्ट कार्य की समाप्ति के बाद उसके साथ समाप्त हो जाता है । ऐसे में जो संबंध बनता है वह नितान्त व्यवसायिक होता है जिसमें उस प्रेम का कोई अंश नहीं होता जो कि मानसिक धरातल को सम्पृक्त करता है । फिर भी ऐसे संबंधों में यदि सहृदयता का संयोजन रहे तो यही क्षणिक संबंध आगे विकसित होकर प्रगाढ़ होते हैं और यही प्रगाढ़ता प्रेम में रूपान्तरित होती है । क्षणिकता का प्रगाढ़ता में रूपान्तरित होने की प्रक्रिया में परोपकारिता का विशिष्ट योगदान होता है । "सच्ची मित्रता में हमेशा ही परोपकारिता का समावेश होता है जो कि अपने प्रियजन की आवश्यकताओं की पूर्ति की ओर उन्मुख होती है । यह विशेषता व्यक्तियों में किसी घटनात्मक दृष्टि से नहीं आती बल्कि यह उनकी प्रकृति में ही होती है । इसलिए ऐसे मित्रों की मित्रता तब तक बनी रहती है जब तक उनके प्राकृतिक व्यवहार में अच्छाई होती है और ऐसी अच्छाई कभी समाप्त नहीं होती ।"[121] अत: ऐसे व्यक्तियों का मैत्रिक प्रेम स्थाई होता है । वे जब भी जिस किसी से भी मित्रता करेंगे उसमें अपनत्वभरा प्रेम अपनी विशिष्टता के साथ अवश्य उपस्थित रहेगा ।

इस बात का विश्लेषण करना कठिन होता है कि मित्रता में प्रेम का क्या स्वरूप होता है अथवा प्रेम का कौन-सा भाग मित्रता में संयोजित है। वैसे सच्ची मित्रता तथा उसका प्रेम एकदम शुद्ध ही माना जाता है। चूंकि मित्रता प्रमुखत: मानसिक स्तर पर ही स्थिर तथा स्थित रहती है अत: ऐसे संबंधों में शरीर की उपयोगिता गौण मानी जाती है, हालांकि कई प्रकार की मित्रताओं का सामान्य प्रारंभ सौन्दर्य के ही आधार पर होता है। कुछ मित्रताओं में सौन्दर्य परोक्ष में होता है तथा आपसी समझदारी का माध्यम मन तथा मानसिक विचार होते हैं। जब मानसिक स्तर पर मित्रता-वत् संबंध होता है एक व्यक्ति दूसरे के लिये अपनी भावना के निमित्त उससे कुछ नहीं छिपाता। उसके सामने अपने आन्तरिक स्वरूप को खोल कर रख देता है। -दो सच्चे मित्र अपने संबंधों में कुछ गुप्त नहीं रखते। एक की वस्तु पर दूसरे का समान अधिकार होता है।-[122] मित्रता गहराते हुए जब प्रेम का रूप धारण करने लगती है तब साथी के प्रति समर्पण की भावना भी बलवती होने लगती है। यह समर्पण मूलत: वैचारिक होता है। मित्र की मित्र के प्रतिचाहत की भावना इतनी तीव्र होती है कि वह अपने मित्र को संकट के समय अपना जीवन न्योछावर करने से भी नहीं हिचकता और समग्रत: यही उच्चतर प्रेम का स्वरूप होता है।-[123]

मित्रता के मूल में आनन्द की भावना भी होती है। वस्तुत: जहां सहृदयता है या हृदय की सहजता होती है वहीं प्रेम का जन्म भी होता है और सहृदयता आनन्द का सूचक होता है। जिस व्यक्ति में मित्रवत् भावना होती है वह इस संबंध में आनन्द व सुख प्राप्त करता है। मित्रता में दो व्यक्तियों के गुण, व्यवहार में कुछ न कुछ समानताएं अवश्य होती हैं। मित्रता में अच्छाई, आनन्द या सुख का सैद्धान्तिक पक्ष नहीं होता बल्कि इसमें सहजता होती है और सहजता तथा प्राकृतिकता ही उत्तम लक्षण या गुण होते हैं। ऐसे ही प्राकृतिक संबंधों में बंधे व्यक्तियों में ही मित्रता तथा प्रेम का उत्तम स्वरूप पाया जाता है।

व्यक्ति जब किसी से प्रेम करता है तो दूसरे से जुड़ता है। प्रेम जिस भावना को दर्शाता है उसी के अन्य रूपों में घृणा भी व्यक्ति में विद्यमान रहती

है । प्रेम तथा घृणा मनुष्य की दो ऐसी परस्पर विरोधी मानसिक वृत्तियाँ हैं जो एक दूसरे की विरोधी शक्तियों के रूप में मन में उभरती रहती हैं । घृणा, ईर्ष्या, प्रतिकार आदि विपरीत गुणोंवाली वृत्तियाँ प्रेम का अविच्छिन्न अंग मानी जाती हैं । इसलिए व्यक्ति जितनी गहराई से प्रेम की अभिव्यक्ति करता है तथा अपना संबंध बढ़ाता है, वह उतनी ही तेज़ी तथा तीव्रता से उसी वस्तु से घृणा भी कर सकता है । चूँकि प्रेम में व्यक्ति को जोड़ने का गुण होता है, यह वृत्ति मनुष्य में प्रगाढ़ होती है । प्रेम के स्वतः स्फुरण में उसके कारण अधिक प्रभावी होते हैं । प्रेम के प्रभाव की भी अपनी विशेष विशिष्टता होती है । "एक "प्रभाव" के लिये यह असंभव है कि वह अपने "कारण" से अधिक शक्तिशाली हो । हर घृणा अपने "कारण" रूप में कुछ न कुछ प्रेम से उत्पन्न होती है । ..... इसलिए घृणा के लिये यह असंभव है कि वह प्रेम से अधिक शक्तिशाली बन सके ।"[124] फिलहाल यह मनोविज्ञान का मूल विश्लेषण है जिससे यह स्पष्ट होता है कि घृणा के मूल में प्रेम होता है । अर्थात् व्यक्ति की मूल वृत्ति प्रेम है ।

देश, काल, परिवेश के भिन्न संदर्भों या संदर्भों की भिन्नता में ही किसी वृत्ति का दूसरा पहलू या स्याह पक्ष चित्त पर उभर आता है जिससे मूल वृत्ति या तो गौण हो जाती है या क्षीण हो जाती है । "कभी-कभी घृणा प्रेम से अधिक शक्तिशाली दीखती है जिसके दो कारण हैं । पहला यह कि घृणा प्रेम की अपेक्षा अधिक गहराई से महसूसी जाती है । दूसरा यह कि प्रेम तथा घृणा के बीच में तुलना की जाती है कि एक दूसरे से किसी प्रकार का भी संबंध नहीं रखते ।"[125] प्रेम प्रेम ही होता है और घृणा घृणा ही फिर भी परिस्थितियों के अनुरूप किसी वृत्ति का दूसरे में रूपान्तरण होता है । जैसा कि यदि किसी वस्तु के प्रति अब तक प्रेम रहा था तो परिस्थितियों के बदलाव के साथ-साथ उसी वस्तु के प्रति घृणा के भाव उपजना शुरू हो सकता है । वस्तु के प्रति प्राप्त ज्ञान ही प्रेम या घृणा की भावना स्थापित करने में सक्षम होता है । जब तक वस्तु का "सही" ज्ञान प्राप्त नहीं होता तब तक कोई भावना व्यक्ति के मन में बन नहीं पाती । वस्तुतः यह ज्ञान ही है, साथ ही ज्ञान-प्राप्ति का ढंग भी, जिस ज्ञान के परिप्रेक्ष्य में वस्तु के प्रति प्रेम उमड़ता है,

उसी ज्ञान का अन्य पहलू उसी वस्तु के प्रति घृणा की तीक्ष्णता भी फैला सकता है। एकदम मन की गहराइयों से उपजा लगातार प्रेम का स्वरूप जब घृणा की ज्वाला में परिवर्तित होता है तब उसमें वह पूरी तथा लगभग दुगनी शक्ति होती है जो कि प्रेम के निर्मल बहाव में होती है और यह शक्ति इतनी तीव्र हो जाती है कि घृणा की स्थिति प्रतिकार में बदल जाती है। जिसका परिणाम यह होता है कि वस्तु और व्यक्ति के बीच या व्यक्ति और व्यक्ति के बीच का संबंध एकदम विरोधी पक्ष में बदल जाता है। "प्रेम और कुछ नहीं बल्कि परम आनन्द है जो कि बाह्यकारण के विचार से मिश्रित होता है तथा घृणा कुछ और नहीं बल्कि वह दु:ख है जो कि बाह्य कारण के विचार से मिश्रित होती है।"[126] अर्थात् वस्तु का ज्ञान ही व्यक्ति के मन में कथित भावनाएं उत्पन्न होती हैं। इसे ऐसा भी कह सकते हैं कि "घृणा की भावना जितनी बुरे कार्यों से प्राप्त होती है उतनी ही अच्छे कार्यों से।"[127]

व्यक्ति की मानसिकता इसी बात पर निर्भर होती है कि उसका उस वस्तु के साथ कैसा संबंध है। वस्तु की संबंधता के परिणाम ही निकटता या प्रेम तथा दूरी या घृणा प्रदर्शित करते हैं। व्यक्ति जिससे प्रेम करता है उसी की निकटता उसे सुख प्रदान करती है तथा घृणा का इसका विपरीत प्रभाव पड़ता है। "जो व्यक्ति जिससे प्रेम करता है वह उसे अपने निकट या सामने रहे रखने तथा रक्षा करने का पूर्ण प्रयत्न करता है तथा दूसरी ओर वही जिस वस्तु से घृणा करता है, उसे हटा देने या नष्ट कर देने का भरसक प्रयत्न करता है।"[128] इसका अर्थ एक दृष्टि से यही है कि व्यक्ति किसी भी वस्तु से सुख ही प्राप्त करना चाहता है। घृणित वस्तु, जो निश्चय ही उसके मनोनुकूल नहीं होती, से इतनी घृणा करता है कि यदि कथित वस्तु उसके सामने से नहीं हटी तो वही घृणा प्रतिकार की जननी बन जाती है और वस्तु नष्ट तक हो सकती है। दूसरी ओर यह भी देखने में आता है कि यदि वस्तु का प्रतिदान न हो पाए तो भी उस वस्तु के प्रति घृणा उपजने लगती है। लेन-देन की भावना व्यक्ति में होती ही है। ~~[illegible]~~ "प्राप्त किये हुए उपकार या लाभ तब तक ही हमें प्रीतिकर प्रतीत होते हैं जब तक हमें यह अहसास रहता है कि हम उसको चुकता कर सकते हैं लेकिन जब वे संभावनाएं इस सीमा से परे

हो जाती हैं तब वे ही उपकार कृतज्ञता के बदले शीघ्र ही घृणा में बदल जाते हैं ।"[129] इस स्थिति में परोपकार को अहसान या स्वयं की कमज़ोरी मान लिया जाता है जो कि स्वास्थ्य के लिये ठीक नहीं होता । इसके अतिरक्त इस बात का विश्लेषण करना भी आवश्यक होता है कि किया गया उपकार या पहुँचाया गया लाभ किस भावना से युक्त है । इस तथ्य का गलत विश्लेषण ही कथित सहयोग या प्रेम के प्रति घृणा उत्पन्न कर सकता है ।

प्रेम में जहाँ आनन्द, संतोष आदि के तत्व होते हैं वहीं इसके दूसरे पहलू में घृणा एवं बदले के भाव भी होते हैं । प्रेम के विकास के साथ-साथ व्यक्ति को पाने की तीव्र इच्छा होती है । व्यक्ति की सामर्थ्यता इसमें सहयोग करती है । सामर्थ्यहीनतायुक्त व्यक्ति में इच्छा की अपूर्णता से विकृतियाँ उत्पन्न होती हैं जिसके परिणाम में वह आत्मपीड़न या परपीड़न से ग्रस्त हो जाता है । इसके अतिरिक्त प्रेम संबंधों में विकसित हुई अधिकार भावना का दुरुपयोग भी घृणा का रूप प्राप्त कर लेता है । प्रेम की स्वाभाविक भावनाएं जब तृप्त नहीं होतीं अर्थात् प्रेम को प्रतिदान में तिरस्कार प्राप्त होता है तब प्रेम का उत्तम स्वरूप प्रतिकार में परिणत हो जाता है । इन सभी बातों के अतिरिक्त इस बात में वास्तविकता है कि "मानव की प्रकृति उस व्यक्ति से घृणा करती है जो उसे आहत करता है ।" व्यक्ति उस से प्रेम कर ही नहीं सकता जो उसकी इच्छा या रुचि की सीमा में नहीं आता प्रेम का घृणा या प्रतिकार में बदलना वस्तुत: विश्वासहीनता का परिणाम होता है । चूंकि व्यक्ति के परिवेश तथा उसके समाज में सभी कुछ ऐच्छिक या उसके मनोनुकूल व्याप्त नहीं होता, तिस पर समाज के हर प्राणी के मन की मुक्त तथा दमित भावनाएं भिन्न होती हैं, वह प्रेम की भावना को अपनी इच्छानुरूप अधिकांशत: ढाल नहीं पाता ।

काम :

काम मानव की सहज, मूल वृत्तियों में से एक है । चूंकि व्यक्ति को मानसिक एवं शारीरिक संतुष्टि के लिए भोजन के अतिरिक्त काम की भी सहज आवश्यकता होती है, अत: इसे एक भूख भी माना गया है । काम-वृत्ति नैतिक-अनैतिक द्वन्द्व में अनादिकाल से ही फंसी रही । सृजन के लिए काम दो

विषमलिंगी के परस्पर समागम का भाव है । "काम के लिये द्वन्द्वभाव आवश्यक है, अर्थात् सृष्टि के पूर्व में जो एक अविभक्त तत्व था वह विश्व रचना के लिए दो विरोधी भावों में आ गया ।"[130] यह द्वन्द्व स्त्री-पुरुष के रूप में सृष्टि में व्याप्त होता है । काम को बुनियादी शारीरिक आवश्यकता माना गया है ।"[131] इस आवश्यकता के परिप्रेक्ष्य में व्यक्ति की मानसिकता में सहृदयता होनी चाहिए । प्रत्येक प्राणी के भीतर रागात्मक प्रवृत्ति की संज्ञा काम है[132] यदि व्यक्ति में सहृदयता या रागात्मकता न हो तो काम का स्तर स्थूल हो जाता है तथा वह मानवोचित सीमाओं को फांदकर पाशविक गुणों से युक्त हो जाता है ।

काम की सहज वृत्ति से कोई भी प्राणी अछूता नहीं रहता । काम व्यक्ति की प्रबल मानसिक एवं संवेगिक अवस्था है । काम का मूल स्त्रोत शरीर है । काम पारिवारिक जीवन की आधारशिला है । सृजनशील अंत:प्रेरणा की प्रेरक शक्ति का स्त्रोत भी काम ही है । इसी को लिबिडो, जिजीविषा या जीवनी शक्ति कहा गया है । "जीवन के सूक्ष्म आनन्द और निरुद्देश्य सुख के जितने भी स्त्रोत हैं, वे कहीं न कहीं काम के पर्वत से फूटते हैं । जिसका काम कुण्ठित, उपेक्षित अथवा अवरूद्ध है वह आनन्द के अनेक सूक्ष्म रूपों से वंचित रह जाता है ।"[133] परिपक्व, सामान्य एवं स्वस्थ्य काम प्रवृत्ति विषमलिंगी होती है जिसमें स्त्री पुरूष की ओर और पुरूष स्त्री की ओर आकर्षित होताह है । प्रेम शारीरिक और मानसिक स्वस्थता की आश्रयभूमि है । "कायिक, प्राणिक और मानसिक, तीन ही व्यक्तित्व के परस्पर संयुक्त धरातल हैं, और इन तीनों में काम का आकर्षण समस्त रागों और वासनाओं के प्रबल रूप में अपना अस्तित्व रखता है ।"[134] व्यक्ति का सुख इसी बात में निहित होता है कि वह काम के अस्तित्व को मानते हुए अपने व्यक्तित्व के धरातल को और अधिक प्रगाढ़ करें ।

कामवृत्ति में निहित जीवनशक्ति सृजन करने, सीखने व एक भरा-पूरा जीवन जीने के लिये प्रेरणास्त्रोत का कार्य करती है । इसके विपरीत काम के दमन से मन में कुण्ठाएं पैदा होती हैं । इसकी विकृति से व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों ही स्तरों पर अनेक दुष्कर्म होते हैं । "फ्रायड की मान्यता है कि अवचेतन मन में स्थित इच्छाएं, वासनाएं तथा भावनाएं सामाजिक अथवा

अन्य भय से तृप्त नहीं हो पातीं क्योंकि मनुष्य का चेतन मन उन्हें हमेशा दबाने की कोशिश करता है । फलस्वरूप वे दमित इच्छाएं अचेतन मन में दबी पड़ी रहती हैं और समय-समय पर ये दमित इच्छाएं तृप्ति के लिये सक्रिय होने का प्रयत्न करती रहती हैं । फ्रायड ने इस शक्ति का आधार व्यक्ति के दमित काम को माना है । सेक्स की मनोग्रंथी व्यक्ति के अंतर्बाह्य मन तथा व्यक्तित्व को प्रभावित करती है और साथ-साथ क्रोध, द्वेष, ईर्ष्या करूणा तथा मालिन्य आदि अनेक मनोविकारों को प्रज्ज्वलित करती है । काम-वासना के दब जाने के कारण व्यक्ति के मन में अतिशय प्रबल कुण्ठा उत्पन्न होती है जो व्यक्तित्व के बहाव तथा उभार में बाधाएं खड़ी करती है ।"135 इस प्रकार, पीनेवाले व्यक्ति की सभी मानसिक एवं दैहिक क्रियाएं उसके दुःख का स्त्रोत बनती हैं । मानव की यह वह स्थिति है जहां वह स्वयं से दुःख प्राप्त करता है । "सेक्स पर अंकुश डालने का काम हवा को बांधने के समान दुष्कर सिद्ध हुआ है । यह मनुष्य के आचरणों और क्रियाओं का वह अदृश्य उत्स है जो लाख आवरणों के भीतर से भी बराबर ऊपर को झांकता ही रहता है ।"135 अतः सामान्य सुखापेक्षी जीवन के लिए काम का दमन उचित नहीं माना जाता ।

आदिम युग में प्रेम का पर्याय काम ही रहा है । काम भावना से प्रेरित व्यक्ति जब विपरीत लिंगी से शारीरिक संबंध स्थापित करता है तो उसके इस संबंध को प्रेम से सम्बोधित किया गया परन्तु धीरे-धीरे व्यक्ति के जीवनविकास के साथ-साथ उसकी भावनाओं में विकास होना शुरू हुआ, तब उसे यह पता चला कि काम-भावना के अतिरिक्त कोई और भी भावना है जो शारीरिक संबंध के बिना भी उसे बांधे रहती है । इसी भावना ने अपने को काम से अलग प्रेम नाम को ग्रहण किया और यहीं से काम प्रेम से दूर होता गया । काम और प्रेम के अन्तःसंबंध पर विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत रहे हैं । फिर भी काम की प्रक्रिया में जिस समाधि-सुख की कल्पना की जाती है वह सुख सौहार्द्रपूर्ण संबंध से ही प्राप्त किया जा सकता है ।

विवाह :

समाज के अन्तर्सम्बन्धों को जीवन्त बनाए रखने के लिए वैवाहिक संस्था का एक मानक स्वरूप मानवीय समाज में स्थापित किया गया । विवाह का उद्देश्य इतर पक्षों के अतिरिक्त परिवार बसाने व सन्तानोत्पत्ति में सहभागी की भूमिका निबाहते हुए समाज की निरन्तरता को बनाए रखना ही प्रमुख रहा। विवाह समाज की ऐसी संस्था रही है जहाँ एक परिपक्व व्यक्ति का समाजन दूसरे व्यक्ति से होता है । अधिकांशत: यह समाजन या समायोजन मानसिक परिपक्वता तथा समानता रूढ़ियों तथा परम्परा की दृष्टि को मूल में रख कर अपने भिन्न स्वरूप में संयोजित कर दी जाती है लेकिन ऐसे कार्य को समाज का प्रश्रय प्राप्त होता है इसलिए संबंधों में कोई भेद उत्पन्न नहीं हो पाता । जैसे "विवाह दो विभिन्न लिंग के व्यक्तियों के व्यक्तित्व का खुले रूप में समर्पण का परिणाम होता है -- वह व्यक्तित्व जिसमें हर ओर के व्यक्ति की हर संभावित राह विशिष्ट हो । हालाँकि विवाह की प्रमुख धारणा यही रही कि यह नैतिक कार्य व्यवहार की खुली प्रक्रिया है न कि भौतिक जीवन तथा उसकी इच्छाओं का बन्धन । इससे यह पता चलता है कि रक्त संबंधों में हुआ विवाह इस धारणा तथा प्रमुख प्राकृतिक अनुभूति के विरूद्ध बैठता है ।"[137] अत: एक परिपक्व अवस्था के बाद जो संबंध बाँध दिये जाते हैं उनमें प्रेम नये सिरे से पैदा करना पड़ता है । उसमें वह सहजता नहीं होती बल्कि परिस्थिति के अनुकूल तथा उसके परिवेश में अपनी परिपक्वता को पति व पत्नी दोनों को ढालना पड़ता है ।

सामाजिक बंधनों में जकड़े रहने के लिए व्यक्ति हमेशा ही किसी न किसी प्रकार से बाध्य रहता ही है । यह भी कहा नहीं जा सकता है कि सामाजिक बंधनों से घिरी यह संस्था अपने आप में अर्थहीन होती है क्योंकि हर संस्था के अपने विशिष्ट मानदण्ड होते हैं । यदि व्यक्ति को उनमें सुख ढूंढना हो तो यह आवश्यक हो जाता है कि व्यक्ति नियमबद्ध रहे । "सभ्य पुरूष तथा स्त्री के लिये वैवाहिक जीवन में सुखी रहना संभव है हालाँकि इसके लिये कई नियमों की पूर्ति आवश्यक है । दोनों (स्त्री व पुरूष) ओर से पूर्ण समानता की अनुभूति होना चाहिए, आपस की स्वतंत्रता में कोई व्यवधान नहीं होना चाहिए, शारीरिक व मानसिक स्तर पर दोनों ओर का संपूर्ण ज्ञान

होना चाहिए, मूल्य की स्थापना को लेकर दोनों में समान वैचारिकता होनी चाहिए। लेकिन यह दुर्भाग्य ही रहा, जैसे, यदि एक पक्ष सिर्फ धन के परिप्रेक्ष्य में मूल्यों का निर्धारण करता है तो दूसरा अच्छे कर्म को लेकर। इन सभी नियमों की पूर्ति पर ही दो व्यक्तियों के बीच विवाह सबसे अच्छे तथा विशिष्ट संबंध के रूप में स्थापित हो सकता है।"[138] आधुनिक भारतीय समाज धीरे-धीरे अपनी अस्मिता, अपना अस्तित्व तथा अपनी परंपरा आधुनिकता तथा पाश्चात्यीकरण के प्रभाव में खोता जा रहा। विवाह-संस्था भी इसी फंदे में फंस कर अपना अर्थ खोती जा रही है। विवाह जीवनपर्यन्त सुख से जीने का बन्धन नहीं रह गया। दो व्यक्ति आपस में अपने आवश्यक नियमों को मानने को तैयार नहीं है। विवाह दो व्यक्तियों की वह आपसी मान्यता तथा साझा स्वीकार है जो उन्हें उम्र भर सुखी रखता है। "लेकिन इसे अब तक भी समझा नहीं गया है तो इसका प्रमुख कारण यही है कि पति-पत्नी एक दूसरे के लिए पुलिसवाले की ही भूमिका निभाते रहे हैं। यदि विवाह को उसकी संभावनाएं प्राप्त करनी हों तो पति व पत्नी को यह समझना आवश्यक है कि कानून चाहे कुछ भी कहते हों, उनके व्यक्तिगत जीवन में उन्हें उन्मुक्त रहना चाहिए।"[139] आपसी समझ से प्राप्त उन्मुक्तता ही वैवाहिक संबंधों में सुख का संचार कर सकती है।

अंततः यह सच है कि व्यक्ति जिससे प्रेम करे उसी के साथ विवाह भी करे। रूढ़िबद्ध भारतीय समाज जो कि मुख्यतः जाति पर आधारित होता है, प्रेम तथा प्रेम-विवाह को मान्यता नहीं देता। चूंकि विश्व का अधिकांश जन-समाज पुरुष-प्रधान रहा है तथा भारतीय समाज में तो यह प्रधानता अधिक प्रभावी रही है, इस समाज में हमेशा ही प्रबन्धी-विवाह को ही मान्यता रही है। स्त्री के मानसिक स्तर की इस अवहेलना के कारण स्त्री को विवाह के बाद नये सिरे से प्रेम करना पड़ता है जिसकी शुरुआत संवेगात्मक न होकर जबरन होती है। इस स्थिति में स्त्री के प्रारंभिक प्रेम का कोई अर्थ नहीं रह जाता। विनम्रता को यह एक बड़ा आघात ही है कि कोई उस व्यक्ति के साथ शयन करे जिसे उसने एक-दो बार ही हल्की नज़र से देखा हो तथा पंडित के कुछ गूढ़ार्थी मंत्रोच्चार के बाद उस व्यक्ति को समर्पित हुई हो,

बनिस्बत ﴾ तुलना में ﴿ उस व्यक्ति के जिसको उसने दो वर्ष तक समर्पित मन से चाहा ।"[140] भारतीय समाज में अधिकांशत: प्रेम की परिणति विवाह में नहीं होती । इसका मूल कारण शायद यही है कि विवाह-पूर्व पर-पुरुष संबंध हीन व अमान्य माना जाता है और प्रेम इसी वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है । दोस्ती, प्रेम व विवाह, ये तीनों वैसे तो क्रमिक विकास की स्थितियाँ हैं । तीनों के नियम, भावनाएं, अभिव्यक्तियाँ विशिष्ट, भिन्न तथा अनूठी होती हैं । "प्रेम और विवाह दो भिन्न अभिप्राय हैं जिनकी अपनी विशिष्ट तथा अलग राह होती है । एक स्त्री उस पुरुष को स्वयं को समर्पित कर सकती है जिसके साथ वह कतई विवाह करना नहीं चाहती ······ कुछ व्यक्तियों को अपने विवाह से कोई पछतावा नहीं होता ।"[141] सुख-प्राप्ति हेतु मान्य विशेषता इसी बात में निहित होती है कि विवाहोपरान्त जीवन को किस प्रकार जिया जाता है ।

विवाह की परिणति चाहे प्रेम से नि:सृत हो या प्रबन्धित, इस परिस्थिति को अवश्य माँग करता है कि उसमें प्रेम तथा सोहार्द्य ﴾सहृदयता﴿ का निश्चित तथा विशेष योगदान रहे । मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह प्रतिबद्धता कठिन तो अवश्य है लेकिन दोनों पक्षों में कुछ सीमा तक त्याग की भावना रही तो वैवाहिक जीवन प्रेममय हो जाता है । समाज-निर्माण की सामाजिक दृष्टि को ध्यान में रखकर विवाह को सन्तानोत्पत्ति या समाज-विकास की संस्था नहीं माना जा सकता । वैवाहिक जिम्मेदारियाँ बच्चे पैदा करने तथा उन्हें शिक्षित कर उन्हें "ठिकाने" लगा देने से ही समाप्त नहीं हो जाती । अधिकांशत: विवाह को ऐसा ही माना जाता है लेकिन यह हमेशा, हर समय ऐसा ही हो, यह आवश्यक नहीं । यदि ऐसा ही होता तो शिशु को जन्म देने की एक विशिष्ट उम्र की समाप्ति के साथ ही वैवाहिक बन्धन समाप्त हो जाता । ऐसा न होने का मूल कारण संबंधों में प्रेम की प्रगाढ़ स्थिति का होना है । वस्तुत: आदर्श वैवाहिक संबंध मित्रता का पर्याय होता है । उत्तम मैत्रिक संबंध में जिस प्रकार का त्याग, समर्पण व प्रेम होता है वही विवाह से भी अपेक्षित होता है । "उत्तम विवाह मित्रता का पुनर्निर्माण करता है । यह जीवन का एक मधुर गठबंधन है जो दृढ़ता, विश्वास, आवश्यक तथा ठोस सेवाएं तथा पारस्परिक कर्तव्यों से परिपूर्ण होता है ।"[142] जब मानवीय संबंधों में

मैत्रिक गुणों का समावेश हो जाता है तथा हर आयाम से एक दूसरे को भली प्रकार से समझने की समझ आ जाती है तो उस प्रकार के संबंध में किसी भी प्रकार की दरार उत्पन्न होना असंभव है ।

वैवाहिक गठबंधन में लगभग हमेशा ही स्त्री की यह रूढ़िवादी स्थिति व मन:स्थिति रही है कि उसे गौण ही समझा गया । यह पुरुष प्रधान समाज का अभिशाप रहा है । स्त्री की भूमिका हमेशा नगण्य मान कर उसकी अवहेलना की जाती रही । चूंकि स्त्री का चरित्र हमेशा ही संदिग्ध माना गया, उसके प्रेम तथा क्रोध की थाह पाना कठिन है । इतना अवश्य है कि स्त्री उस सर्प की तरह होती है जिसे यदि छेड़ा न जाए तो वह मृदु ही बनी रहती है। लेकिन पुरुष ही उसे छेड़ कर स्वयं को विपदाग्रस्त बनाता रहा । अपनी गौणता अवहेलना तथा संदिग्धता के कारण ही "स्त्री से यह उम्मीद की जाती है कि वह अपने पति पर किसी भी कार्य या शब्द के माध्यम से क्रोध नहीं करना चाहिए । जिस दिन से वे वैवाहिक बन्धन में बंधते हैं उस दिन से पति-पत्नी को उस बन्धन का सहभागी बना रहना चाहिए तथा वैवाहिक नियमों का पालन करना चाहिए ।"[143] नियमों के पालन की समस्या तथा जिम्मेदारी किसी एक पक्ष की नहीं होती फिर भी परिवार के ऐक्य की जो आन्तरिक तथा महीन बुनावट होती है उसकी प्रमुख जिम्मेदारी स्त्री पर ही निर्भर होती है।

विवाह एक दायित्व है । व्यवस्थित विवाह में जो प्रेम का अंकुर फूटता है वह प्रेम "धर्म प्रेम" होता है । कर्तव्य एवं दायित्व के घेरे में यह प्रेम विकसित होता है । कर्तव्य एवं दायित्व का सहयोग या अवहेलना ही वैवाहिक जीवन में सुख-दु:ख का संचार करते हैं । इस दायरे में कहीं प्रेम विकसित हो जाता है तो कहीं मुरझा जाता है । कर्तव्य एवं उत्तरदायित्व के पीछे यदि व्यक्ति की आकांक्षाएं तथा इच्छाएं पूरी नहीं होती हैं तो प्रेम की स्फूर्ति घटने लगती है । प्रेम का यथार्थ रूप विवाह में खुलकर प्रकट होता है । जिनमें कल्पना से हटकर यथार्थ को स्वीकारने की शक्ति होती है वही विवाह सफल हो सकता है ।

सफलता :

यदि जीवन में कहीं सुख की खोज या सुख प्राप्त होता हो तो वह व्यक्ति की सफलता ही है । सफलता न सिर्फ शारीरिक सुख को प्रकट करती है अपितु उससे मानसिक भावनाओं को एक आत्मतुष्टि भी प्राप्त होती है । इसके ठीक विरोध में असफलता की कार्यक्षमता होती है । चूंकि सफलता किसी एक क्रिया या प्रक्रिया का परिणाम होती है अत: इससे प्राप्त असफलता या हार व्यक्ति को निराश कर देती है । साथ ही लगातार घटित होनेवाली असफलता या हार व्यक्ति को जीवन से विरक्त कर आत्महत्या या फिर जुर्म के लिये उकसाकर उसे कानून के कटघरे में बन्द भी कर देती है । लगातार की सफलता व्यक्ति में आनन्द का जागरण करती है तथा उसके जीवन में यही क्षण सुख के क्षण होते हैं । जैसे लगातार की असफलताएं व्यक्ति को निष्ठुर या निर्मोही बना देती हैं उसी प्रकार लगातार की सफलताएं व्यक्ति को घमण्डी बना देती हैं । वैसे भी लगातार की सफलता यह दर्शाती है कि उक्त व्यक्ति की इच्छाओं में लगातार वृद्धि ही हो रही है । इच्छाओं को सीमाहीन बना देना स्वस्थ्य मन का परिचय नहीं है । लगातार की प्राप्त सफलताएं अधिकांशत: पागल मन की उपज मानी जाती हैं ।

निरंतर सफलता व्यक्ति के मन में अविश्वसनीय प्रवृत्तियों को जन्म देती प्रारंभ कर देती हैं अत: उनकी अधिकता तथा सफलता का नशा, दोनों मिलकर व्यक्तित्व में विक्षिप्तता बोती रहती हैं । यह सच है कि मानव स्वभाव के किसी एक आयाम को अन्य आयामों की उपेक्षा करके विकसित करने पर परम संतोष की उपलब्धि नहीं होती । जहाँ मानसिक दमन होता है वहाँ वास्तविक सुख नहीं होता । इस प्रकार कहा जा सकता है कि अत्यधिक सफलता तथा अत्यधिक विफलता दोनों ही असामान्य व्यक्ति के लक्षण होते हैं ।

सफलता प्राप्त करने का अन्य मनोवैज्ञानिक पहलू यह है कि व्यक्ति बाल्यावस्था से युवावस्था की परिपक्वता के बीच किसी सामान्य तुष्टि से वंचित हो जाता है तब वह इस तुष्टि की पूर्ति को अन्य की अपेक्षा अधिक महत्व प्रदान करता है तथा इस धारणा के निर्माण में अपने जीवन को सिर्फ एक विशिष्ट

दिशा की ओर मोड़ देता है । इसका मूल कारण हठ और दमन भी है । चूंकि वह सिर्फ तुष्टि विशेष की उपलब्धि को ही अधिक महत्वपूर्ण मानता है इसीलिए कथित उपलब्धि से संबंधित अन्य कार्य-कलापों पर वह अपेक्षाकृत कम बल देता है । अन्ततोगत्वा उसका प्रमुख ध्येय तथा उद्देश्य तुष्टि-विशेष की प्राप्ति तथा उससे जनित सफलता ही होती है । इस प्रकार से प्राप्त सफलता या सफलता प्राप्त करने की प्रक्रिया एक विकृत मानसिक रूप को ही निर्दिष्ट करती है ।

सफलता सुख का एक आयाम, एक अंश, एक अवयव है । यदि सफलता की प्राप्ति के लिये सुख के अन्य अवयवों का बलिदान करना पड़े तो यह सुखी जीवन के लिये एक महंगी प्रक्रिया होगी । सफलता के पश्चात् वस्तु-विशेष के उपयोग का मूल्य या भोग का कौशल ज्ञात न हो तो वही सफलता तथा वही प्राप्त वस्तु दुःख का कारण भी बन जाती है ।

नशा :

व्यक्ति का समाज से कटकर अपनी इच्छानुसार कोई कार्य करना, जिनके परिणाम समाजोपयोगी नहीं होते हैं, सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध माने जाते हैं। अक्सर यह देखा जाता है कि जब अकेला व्यक्ति अपनी असफलता को छिपाना चाहता है या उनसे स्वयं को काट लेना चाहता है तब अपनी शारीरिक चेतना को क्षीण करके कथित घटना/कार्य/व्यक्ति विशेष से हटने का यत्न करता है । चेतना की क्षीणता के लिये व्यक्ति अधिकांशतः नशे का सहयोग प्राप्त करता है । नशीली वस्तुओं के सेवन का प्रभाव सीधे स्नायुतंत्र पर पड़ता है । स्नायु तंत्र की अव्यवस्था का प्रभाव शरीर की विभिन्न क्रियाओं पर होता है । नशे का सेवन भारतीय संस्कृति के इतिहास में सामाजिक रूप से बहुत पुरानी परंपरा रही है लेकिन इसे सामाजिक मान्यता तभी मिलती है जब यह समाज में सांस्कृतिक कार्य के अंतर्गत किया जाए । प्रमुखतः व्यक्ति अपने दुःखों को भूलने के लिये नशीले पदार्थों का सेवन करता है । चूंकि नशा स्थाई नहीं होता इसीलिए वह लगातार नशे में डूबे रहने के लिए नशे का प्रयोग करता है । नशे का लगातार प्रयोग ही व्यक्ति को दुर्व्यसनी बना देता है ।

मद्यपान आज के युग की ऐसी सामाजिक समस्या है जो व्यक्ति की कार्य-कुशलता, उसके पारिवारिक जीवन एवं सामान्य व्यवहार को प्रभावित करती है । जीवन में व्याप्त असुरक्षा एवं चिन्ताओं से मुक्ति हेतु व्यक्ति नशे की ओर

आकर्षित होता है । यह व्यसन वह अपने दु:ख, असफलता, हताशा, निराशा, कुण्ठा आदि को भूलने के लिए अपनाता है परन्तु इसके परिणाम उसके तथा समाज के लिए दु:खदायी होते हैं । निर्धनता, बेकारी, पारिवारिक दायित्वों की आपूर्ति, असामाजिक संबंध या संबंधों की असफलता, इच्छा के विरूद्ध कार्य करने की विवशता व्यक्ति को दुर्व्यसन की ओर ले जाती है । मात्र रूचि के लिए मद्यपान या अन्य किसी मादक द्रव्य को सेवन दु:ख का कारण नहीं होता है । व्यक्ति के दुर्व्यसनी बनने के पीछे समाज का ही अप्रत्यक्ष योगदान होता है और यह भी तथ्य ही है कि व्यक्ति को दुर्व्यसन की गलत राह से हटाने एवं उसको पुन: सामाजिक प्राणी बनाने के लिये भी समाज की उतनी ही आवश्यकता तथा योगदान की ज़रूरत होती है, चाहे समाज के रूप में अकेला व्यक्ति ही क्यों न सहयोग के लिये सामने आए । "यह माना हो गया है कि दुर्व्यसन घातक होता है जो कई वर्षों तक चल सकता है लेकिन जीवन का अपेक्षित कर्म नहीं होता । इन दुर्व्यसनी या शराबी में अपनी सामाजिक अस्मिता की आवश्यकता उत्पन्न करके तथा सामाजिक दबाव द्वारा उन्हें पुन: उस जीवन की ओर मोड़ा जा सकता है जहाँ से वे पूरे जीवन के लिये विमुख हो चुके थे ।"144 शराबी को इस बात का आभास करा देना कि वह दुर्व्यसनी है, एकदम गलत है और जब उसे इस बात का अहसास होगा कि उसका दुर्व्यसनी बने रहना न तो उसके और न ही समाज के हित में है तथा उसे अपनी बुरी आदतों का त्याग करना ही चाहिए तो व्यक्ति पुन: सामान्य जीवन की ओर आ सकता है । इसके लिए समाज की समाजोचित प्रक्रिया तथा तार्किक व नैतिक दबाव का सहयोग भी उतना ही आवश्यक है ।

व्यक्ति के दुर्व्यसनी होने के पीछे उसके अपने कोई व्यक्तिगत -- जो स्वयं उसके हैं -- कारण नहीं होते बल्कि इसके पीछे समाज या समाज के किसी प्राणी का हाथ होता है । इसके निवारण के लिये भी व्यक्ति की ही प्रमुखत: आवश्यकता होती है । "इसके लिये मानवीय संदर्भ की आवश्यकता होती है । वे अच्छे व्यक्ति जिन पर विश्वास किया जा सके तथा जो अपनी व्यक्तिगत कठिनाइयों को उस व्यसनी के सम्मुख प्रकट न करें जबकि वह व्यक्ति शराब, गाँजा आदि मादक पदार्थ त्यागने की प्रक्रिया में होता है ।"145 चूँकि व्यक्ति ऐसी

अवस्था में अपने मन को सामान्य स्थिति में लाने के लिये जूझ रहा या प्रयत्न कर रहा होता है, ऐसे में उसे पुनः दुःखी वातावरण देना घातकसिद्ध हो सकता है। समाज में सताये व प्रताड़ित किये हुए व्यक्ति ही अपने सामाजिक दुःख से बचने के लिये नशे की शरण में जाते हैं। समाज द्वारा प्रदत्त दुःख क्षणिक नहीं होता इसीलिए प्रताड़ित व्यक्ति लगातार स्वयं को चेतनाशून्य स्थिति में रखे रहने को विवश होता है। लगातार नशे में डूबे रहने की प्रक्रिया ही उसे दुर्व्यसनी बना देती है। यही स्थिति दुःख का कारण होती है जिसके परिणाम न तो व्यक्ति के हित में होते हैं न ही समाज के विकास के पक्ष में।

नशे का प्रयोग आधुनिक युग की देन नहीं है। मनुष्य आदिकाल से ही भिन्न-भिन्न नशे का प्रयोग भिन्न-भिन्न अवसरों पर भिन्न-भिन्न कारण-स्वरूप करता आया है जिसके पीछे प्रमुख उद्देश्य सुख-प्राप्ति ही रहा। शरीर में नशे के संचरण से उसका सीधा प्रभाव स्नायुतंत्र पर पड़ता है जिससे उससे प्रभावी क्षेत्रों में एक ओर तो शिथिलता आती है तथा दूसरी ओर रक्त का संचार बढ़ जाने के कारण सामान्य जैविक क्रियाओं में अप्रत्याशित गतिशीलता उत्पन्न हो जाती है। अन्ततोगत्वा नशे का प्रयोग सुख प्राप्ति के लिए होता है। जब तक इसका संचरण शरीर में होता है तथा इसका प्रभाव बना रहता है तब तक व्यक्ति स्वयं की चेतनावस्था से दूर होकर अचेतावस्था में मग्न रहता है।

सुख-प्राप्ति के भिन्न-भिन्न मानदण्डों के अनुसार आदिकाल में भी उन्नत तथा पिछड़ी दोनों ही प्रकार की जनजातियाँ मद्य का प्रयोग करती थीं। विवरणों से यह भी पता चलता है कि निचली या पिछड़ी जातियाँ अपने प्रियजन की मृत्यु पर भी मद्यपान का आयोजन करती थीं। इसके अतिरिक्त खुशी के अवसरों पर तो यह आयोजन होता ही था। मृत्यु पर मद्यपान का आयोजन इस बात को दर्शाता है कि मृत्यु जैसी दुःखदायी सत्य से जीवन खुशी से सामना कर सके।

आधुनिक युग में नशे का प्रयोग जहाँ एक ओर फैशन का पर्याय हुआ है वहीं दूसरी ओर इसका प्रयोग दुःखपूर्ण जीवन से क्षणमात्र के लिये छुटकारा पाने के लिए भी किया जाने लगा। हालांकि नशे का खुला प्रयोग समाज-हित से परे

रखा जाता है फिर भी आधुनिकता तथा पाश्चात्यीकरण द्वारा मद्यपान उन्नत समाज का आवश्यक अंग बनता रहा । अक्सर यह सुना जाता है कि शराब का प्रयोग दुःख के नाश के लिये किया जाता है । वस्तुतः मद्यपान से दुःख की मात्रा में कोई कमी नहीं आती अपितु व्यक्ति कुछ समय के लिए अपने स्नायुतंत्र या मस्तिष्क पर एक अचेतनता का झीना आवरण ओढ़ लेता है जिससे उसका ध्यान समकालीन घटनाओं से कुछ हद तक हट जाता है जिस कारण उसे यह अहसास होता है कि उसने दुःख से छुटकारा पा लिया । इस प्रकार व्यक्ति को प्राप्त सुख संतुष्टि का द्योतक नहीं होता क्योंकि इस प्रकार के सुखभोग में सभी इन्द्रियों का समान सहयोग नहीं होता। "...... जो सुख वास्तव में तृप्ति दे सकता है उसकी अनुभूति अपनी शक्तियों के पूर्णतः उपयोग और अपने संसार के संपूर्ण बोध के साथ ही संभव है ।"[146] मद्यपान से प्राप्त सुख कल्पना तथा दिवास्वप्न का ही परिष्कृत रूप होता है । साथ ही इसका शारीरिक चयापचयन पर भी बुरा प्रभाव पड़ता है । "शराब जैसी घातक नशीली वस्तुओं का प्रयोग जब व्यसन बन जाता है, जो कि एक समय पर किसी के जीवन को संरचनाविहीन करने का एक आवश्यक रसायन होता है, तब यह किसी के जीवन को मूल रूप से पुनर्संरचित करने के लिये प्रारंभिक स्वरूप माना जा सकता है लेकिन यह एक गलत राह है जिसका सुझाव नहीं दिया जाता."[147] इस प्रकार मद्यपान से जहां एक ओर जीवन-यापन के स्वरूप में बदलाव आता है वहीं दूसरी ओर सामयिक जीवन भी बदल जाता है ।

व्यसन से पूर्व तक ही शराब या अन्य नशीली वस्तुएं सुखकर होती हैं। जीवन में किसी एक वस्तु के आधार पर या माध्यम से लगातार सुख प्राप्त नहीं किया जाता । भारतीय निम्न वर्ग, जो अधिकांशतः दिहाड़ी पर जीवन-यापन करता है, भी लगभग प्रतिदिन नशे का सेवन विभिन्न माध्यमों से करता है । हालांकि वह नशे का प्रयोग प्रतिदिन करता ही है फिर भी उसे दुर्व्यसनी कहा नहीं जाता क्योंकि नशे का सेवन उसके दैनिक जीवन का एक अंश हो जाता है । इस प्रकार के नशे का मूल कारण शारीरिक थकान से छुटकारा प्राप्त करना है जिसे शारीरिक सुख की प्राप्ति भी कहा जा सकता है । इससे विपरीत उच्च वर्ग में व्याप्त अकेलेपन का आधुनिक रोग नशे के सेवन को उकसाता है । स्वयं

को अकेले पाकर जो दु:ख होता है, उसको दूर करने के प्रयासों में अधिकांश नशे का प्रयोग ही है । नशे में डूबा व्यक्ति शीघ्र ही चेतनावस्था की ज़मीन से कट कर अचेतित हो जाता है जहाँ उसे स्वयं का भान नहीं होता ।

नशे के संबंध में अधिकांशत: यह माना जाता है कि नशा दु:खों को दूर करता है । वस्तुत: नशीली वस्तु का ऐसा कोई गुण नहीं होता जिससे यह सिद्ध होता हो । इतना अवश्य है कि नशीली वस्तु के अत्यधिक सेवन से मानसिक रूप से बहुत कुछ सीमा तक अक्रिय हो जाता है तथा लगभग बेहोशी की स्थिति में चला जाता है जहाँ वह आसपास के जीवन से कट जाता है लेकिन नशीली वस्तु के पचने के बाद वह फिर से वास्तविक जीवन में आ जाता है । इसी वास्तविकता से साक्षात्कार न करने के लिए लगातार नशे का प्रयोग करते हुए अन्तत: व्यक्ति दुर्व्यसनी बन जाता है । इस प्रक्रिया में, जहाँ व्यक्ति दु:ख से छुटकारा पाने के लिए बाहरी शक्तियों का सहयोग प्राप्त करता है, वह धीरे-धीरे स्वयं को उन शक्तियों के प्रति समर्पित कर देता है और अन्तत: अपनी जीवन के प्रति दायित्व जिम्मेदारियों से विमुख होकर एक के बाद दूसरे दु:ख में उलझता चला जाता है । इस प्रकार नशा जो अपनी विशिष्ट मात्रा में सुख का अनुभव कराता रहा था वही अपनी विशिष्ट मात्रा में दु:ख का कारण भी बनता है ।

रीति-रिवाज़ :

मनुष्य जब से समुदाय में जीवन बिता रहा है तब से लेकर आज तक भिन्न-भिन्न युगों में भिन्न-भिन्न पर्यावरण, ज्ञान, भय, हर्ष, प्रकृति आदि के परिप्रेक्ष्य में कुछ न कुछ ऐसे स्थाई-अस्थाई कार्यक्रम तथा चर्याएं बनता रहा है जिनमें वह सामूहिक रूप से अपना रंजन कर सके । ऐसी प्रक्रिया में ही कई कर्मों, अनुष्ठानों का आविर्भाव होता रहा तथा इनका आवर्तन मनुष्य के जीवन का आवश्यक अंग होते रहे । यही कार्य, अनुष्ठान, चर्याएं कालान्तर में रीति-रिवाज़ के नाम से जानी जाने लगी । रीति-रिवाज़ों के निर्माण में प्रकृति, धर्म तथा सामयिक ज्ञान का लगातार विशेष सहयोग प्राप्त होता रहा । प्रकृति की विपदाएं हों या उनसे प्राप्त उल्लास, धर्म के नैतिक मानदण्ड हों या पुरा-कथाओं पर आधारित बनावटी भय, ज्ञान का आदर्शोन्मुख स्वरूप हो या जीवन

का यथार्थपरक सहयोग -- सभी का रीति-रिवाज़ों के चलन तथा स्थापना में अपना-अपना विशिष्ट योगदान रहा है ।

रीति-रिवाज़ों के माध्यम से व्यक्ति आज भी सामूहिक रूप से उनका अनुष्ठान करके समाज को सामूहिक बने रहने की सार्थकता को अक्षुण्ण बनाये रखा है । व्यक्ति जब अपने विशिष्ट समूह में पदार्पण करता है तब वह अपने अकेलेपन को भूल जाता है तथा समूह की उपयोगिता तथा उनके सामूहिक मानदण्ड के आधार पर अपने को ढाल कर अपनी अस्मिता सिद्ध करने का प्रयास करता है । "समाज में आराम से तथा सुखपूर्वक जीवन बिताने की सबसे उत्तम कला व्यक्ति के आचरण का सही अध्ययन करने में है । यहाँ तक कि अपने घनिष्ट मित्र के साथ भी सहृदयता का संबंध रखना चाहिए अन्यथा हम अभद्रता की सीमा तक एक दूसरे से अशिष्ट आचरण करेंगे तथा हर व्यक्ति दूसरे से स्वयं को तिरस्कृत होता समझता रहेगा ।"[148] व्यवहार की इस जानकारी का ज्ञान रीति-रिवाज़ अधिक समृद्ध करते हैं, क्योंकि रीति-रिवाज़ सिर्फ एक रस्म की पूर्णता या उनका निभाना भर नहीं होते बल्कि इनके माध्यम से समाज के अन्य सदस्य एक जगह संगठित होते हैं। ऐसे मिलन में व्यक्ति के अच्छे-बुरे, सुख-दुःख पर चर्चा, बहस तथा समाधान होते हैं । अपने सम-विचारी समाज में व्यक्ति अपनी कठिनाइयों, परेशानियों तथा दुःखों को दूसरे से कह कर उनका समाधान प्राप्त करता है तथा स्वयं को हल्का महसूस करता है ।

कालान्तर में वही रीति-रिवाज़ स्थापित रह जाते हैं जिनकी उपयोगिता व्यक्ति के जीवन से जुड़ी रहती है । कभी-कभी कुछ रीतियाँ रूढ़ियाँ भी बन जाती हैं जिनका समय तथा परिवेश के परिप्रेक्ष्य में कोई औचित्य नहीं रह जाता । ऐसी रूढ़ियाँ अधिकांशतः भयजनित होती हैं । यह भय अलौकिक या परम सत्ता का भी हो सकता है या सामाजिक पारिवारिक प्रतिबद्धताओं का । ऐसे रूढ़ बन चुके रीति-रिवाज़ व्यक्ति के सुख में किसी भी प्रकार की वृद्धि नहीं करते । समय के साथ-साथ जो रीति-रिवाज़ स्थाई हो जाते हैं, उनका उद्देश्य उनका गुण तथा उनकी उपयोगिता जीवन को सुखी बनाने में ही होता है। व्यक्ति उन्हीं रीतियों को पीढ़ी-दर-पीढ़ी अपनाता रहता है जो कि समय-विशेष में उसके सुख के स्त्रोत होते हैं । "रीति-रिवाज़ मानवीय जीवन के प्रमुख पथ-प्रदर्शक होते हैं । यह वे प्रमुख नियामक होते हैं जो हमारे उपयोगी अनुभवों को हमें

प्रस्तुत करते हैं । साथ ही जो घटनाएं अतीत में घटीं थीं उनका भविष्य में पुनरागमन की प्रतीक्षा भी रीति-रिवाज़ करवाते हैं ।"[149] रीति-रिवाज़ों की प्रतीक्षा में सुख का अनुभव होना ही इस बात को दर्शाता है कि वे सुखद अतीत की पुनरावृत्ति करते हैं और दुबारा उसी प्रकार के सुखदाई क्षणों को वर्तमान जीवन में बिखेरते हैं ।

स्वप्न और दिवा स्वप्न :

मनुष्य की दैनिक चर्या में कुछ काल ऐसा होता है जब मस्तिष्क का विधान कुछ इन्द्रियां नहीं मानतीं । यह निद्रा की स्थिति है । इस अवस्था में कुछ इन्द्रियां सुप्त अवस्था से गुज़रती हैं । दिन भर की भौतिक, मानसिक प्रक्रिया से गुज़रते हुए कुछ घटनाएं या अंश मन की सतह पर इस प्रकार से बैठ जाते हैं कि वे सोच की सीमा से बाहर नहीं निकल पाते । निद्रावस्था में चूंकि मस्तिष्क के कार्यक्रम में कोई बदलाव नहीं आता अत: मन पर जमें हुए वे सभी विचार अव्यवस्थित या व्यवस्थित रूप से स्वप्न के रूप में आन्तरिक दृष्टि-पटल पर एक फिल्म की तरह चलते रहते हैं । इस प्रकार एक जीवित व्यक्ति स्वप्न अवश्य देखता है ।

अक्सर स्वप्न के यथार्थ पर आक्षेप या प्रश्न-चिह्न लगाया जाता है । स्वप्न मिथ्या माने जाते हैं । "स्वप्नों की आधुनिक व्याख्या स्वप्न देखने को संबद्ध कल्पना-शक्ति से जोड़ती है ।"[150] जहां तक स्वप्न देखने की बात है, व्यक्ति निद्रा की स्थिति में बन्द पलकों के भीतर जो कुछ भी देखता है उसका कहीं न कुछ आधार यथार्थ होता है । यह यथार्थ कल्पना का सहयोग प्राप्त कर अतियथार्थ में परिणत हो जाता है । कल्पना मिश्रित अतियथार्थ में भविष्य-परक सुख की कामना होती है । कल्पना तथा यथार्थ से हटकर कुछ बातें, घटनाएं तथा चित्र अवचेतन में जीवन के प्रारंभ से ही भरते-दबते चले जाते हैं । स्वप्न की प्रक्रिया में यही वस्तुएं व्यवस्थित या अव्यवस्थित क्रम से समकालीन जीवन की घटनाओं, चित्रों के साथ जुड़कर एक नया बिम्ब नई दृष्टि दवारा प्रस्तुत करते हैं । "इस प्रकार स्वप्न अवचेतना की अभिव्यक्ति होता है । इस अभिव्यक्ति में स्वप्न देखनेवाले को उन इच्छाओं, संवेगों तथा वृत्तियों का अनावरण होता है जिनके बारे में वह स्वयं भी अनभिज्ञ होता है ।"[151] इसी अनभिज्ञता तथा दमित

भावनाओं, जिनका कोई विशिष्ट भौतिक स्वरूप निर्मित नहीं होता, अपने अनोखे मिथकों, आद्यबिम्बों या ऐसे ही अवर्णनीय आकारों में स्वप्न में दिखाई दे जाते हैं । सुविधा के लिये जिन्हें प्रतीक कहा जा सकता है ।

व्यक्ति स्वप्न में मुख्यत: वही सब कुछ देखता है जो उसके दिन भर के घटनाक्रम में होता है । स्वप्न में व्यक्ति उन स्मृतियों की पुनरावृत्ति करता है जो कि उसके जीवन के किसी आयाम के प्रिय क्षणों के परिणाम होते हैं । सुखदायी स्मृतियाँ चूँकि मन में गहराई से उतर जाती हैं अत: उसकी सोच की प्रक्रिया में उन्हीं का आवर्तन होता रहता है । व्यक्ति अपने सुख को भूल नहीं पाता न ही वह ऐसा चाहता है । वह बार-बार उन्हीं क्षणों को अपने सामने होता रहने की इच्छा रखता है । अत: स्वप्न एक वास्तविक रूप से वैध मानसिक वृत्ति, या इच्छा-पूर्ति है ।[152] उन्हीं इच्छाओं की पूर्ति होती है जो मानसिक संतुलन में सहयोग प्रदान करती है । कभी-कभी स्वप्न में वह भी दिखाई दे जाता है जिसकी कल्पना न तो व्यक्ति करता है, न ही इच्छा होती है और न ही कभी उनका वास्तविक जीवन से कोई नाता ही होता है । इन्हें वास्तविक जीवन के प्रति असहयोगी मानकर इनकी अस्मिता को झुठलाया भी नहीं जा सकता क्योंकि जीवन-काल में कभी ये मन में आकर अवचेतन में समा गये होते हैं । जो स्वप्न भयानक होते हैं उन्हें आदमी भूल जाने की कोशिश करता है । इसके विपरीत अच्छे, मनोनुकूल स्वप्नों को उसे दिन में भी याद करके खुशी मिलती है ।

स्वप्न और सुख या स्वप्नों से सुख की प्राप्ति मनोविज्ञानत: कुछ जटिल कार्य है । चूँकि व्यक्ति स्वप्नों में उन्हीं क्रियाओं का प्रक्षेपण होता है जो कि उसके मस्तिष्क में चल रहा होता है और मस्तिष्क में वह सब कुछ चलता है जिन घटनाओं-क्रियाओं से उसका सामयिक जीवन आबद्ध होता है । अत: जो घटनाएं-क्रियाएं व्यक्ति को सुख प्रदान करती हैं उनका अपूर्ण तथा पूर्ण रूप एक प्रकार से कम्प्यूटरीकृत होकर स्वप्न में दीखता है । व्यक्ति का मन अपने व्यवहारिक पक्ष तथा उससे जुड़ी घटनाओं पर भिन्न-भिन्न दिशाओं से उसके

परिणामों के बारे में सोचता रहता है । इसी सोच के परिणाम घटनाओं के परिणाम से पूर्व ही स्वप्न में कम्प्यूटर प्रणाली की तरह पहले दीख सकते हैं । इन्हीं अर्थों में सुख का स्वप्न से संबंध होता है । इसी प्रवाह में दिवा स्वप्न भी आते हैं । "दिवास्वप्नों की खोज, रात्रि-स्वप्नों को समझने की सबसे अच्छी तथा आसान विधि हो सकती है । स्वप्नों की तरह ये इच्छा-पूर्ति युक्त होते हैं, ये मुख्यत: बाल-सुलभ अनुभवों की छाप पर आधारित होते हैं। इनके बनावट को खोज करते हुए यह भी जाना जा सकता है कि इच्छा-प्रेरणा [ऐच्छिक प्रेरणा] किसप्रकार अपने निर्माण में सहायक उस सामग्री का उपयोग करती है जिनसे वे बने होते हैं, एक दूसरे में गुंथे होते हैं तथा एक नये रूप में पुन: प्रस्तुत होते हैं ।"[153] इस प्रकार दिवा स्वप्न ही स्वप्न का रूप धारण करते हैं ।

दिवा-स्वप्न मनुष्य के सोचने का विशिष्ट स्तर है । यह अवचेतन को स्पर्श करता हुआ भी मानवीय चेतना की खुली आँखों में पलता है । दिवा-स्वप्न का एक अर्थ फैंतासी भी है । अतृप्त कामनाएं ही फैंतासी की मूल पृष्ठ-भूमि है । तृप्त व्यक्ति दिवा-स्वप्न नहीं देखता । फैंतासी के निर्माण तथा प्रक्षेपण में वैयक्तिक अनुभव अधिक रहता है । " ..... फैंतासी अतिकल्पना और यथार्थ की दो दुनियों में से किसी एक के निकट रहती है । इनकी दुनियां में चीजों का कायाकल्प होता रहता है ।"[154] व्यक्ति कल्पना के माध्यम से अपने दु:खपूर्ण क्षणों तथा क्रियाओं का सुखद रूपान्तरण करता है । इस मन-भावन की प्रक्रिया में अपनी तात्कालिक घटनाओं का सुखद भविष्य निर्धारित करता है । यह एक ओर जहाँ काल्पनिक होता है, वहीं दूसरी ओर इस प्रक्रिया-निर्धारण हेतु एक खाका भी खींच लेता है ।"दिवा-स्वप्न या फैंतासी कुछ और नहीं बल्कि कार्य का वह काल्पनिक स्वरूप है जो न्यूनाधिक रूप से चेतना के अधीन होता है या जो कुछ दिशात्मक उद्देश्य युक्त होते हैं । ..... लेकिन स्वप्न नींद में या जागने की अवस्था में ऐसी किसी अधीनता या दिशात्मक उद्देश्य पर आधारित नहीं होते"[155] दिवा-स्वप्न में अभिलाषा एवं महत्वाकांक्षा की तृप्ति होती है । इस तरह काल्पनिक रूप से व्यक्ति अपनी इच्छा-पूर्ति करता है । स्वप्न में ऐसा नहीं हो पाता । "दिवा-स्वप्न में स्वप्न के दो तत्व -- निद्रा तथा अनुभव -- नहीं होते ।"[156] स्वप्न में व्यक्ति यह भूल जाता है कि वह स्वप्निल

है । इसीलिए वह उसे अनुभव प्रतीत होता है परन्तु जागने पर पता चलता है कि वह अनुभव नहीं अपितु स्वप्न था लेकिन दिवा-स्वप्न में आदमी यह भूल नहीं पाता क्योंकि वह पूर्णतः चेतन अवस्था में होता है । उसे इस बात का अनुभव बना रहता है कि व न तो निद्रित है और न ही पूर्ण चेतन अर्थात् वह चेतनावस्था में भी दिवास्वप्न की प्रगाढ़तावश अपने पास-परिवेश से कटासा होता है । अन्य स्थिति में यह भी है कि व्यक्ति जब वर्तमान स्थिति से अत्यधिक हताश व निराश हो जाता है तो कम सचेत होकर जीना चाहता है और सुख की तलाश के लिये वर्तमान परिवेश से कट जाता है और दिवा स्वप्न में सुख की खोज करता है ।

धर्म :

धर्म का जन्म आत्मा के धरातल पर होता है । आत्मा वह अलौकिक आभा है जिसका स्वरूप धर्म की सीमा में सुस्पष्ट होता है । इसे मनुष्य के साथ जोड़ा गया है । मनुष्य का शरीर आत्मा के लिये कवचतुल्य माना गया । शरीर से नश्वरता का सहसंबंध स्थापित किया गया है । आत्मा अमर मानी गई । इसी संदर्भ में उसका ऐक्य-मिलन परमात्मा से माना गया । यह विश्लेषण व्याख्या धर्म की देन है । आत्मा का परमात्मा में सात्विक प्रणाली द्वारा विलय को मोक्ष कहा गया । इसीलिए धर्म में मोक्ष की अवधारणा भी है । इसके विपरीत अर्थ एवं काम का संबंध जैव धरातल अर्थात् शरीर से माना गया है । चूंकि इनके अर्जन तथा भोग का माध्यम शरीर से इतर यानि बाहरी सहयोग पर आधारित होता है अतः मोक्ष प्राप्ति या धार्मिक बने रहने में इनका योगदान हीन समझा गया है । इसके बावजूद मोक्ष प्राप्ति की शिक्षा, जो पूर्ववैदिक काल से समाज में प्रसारित होती रही है, में इनकी विशिष्टता भी निर्धारित होती रही । देवताओं की प्रसन्नता अर्थात् आत्मा का परमात्मा में मधुर मिलन के निमित्त यज्ञ तथा अन्य धार्मिक कर्मकाण्ड का प्रावधान वैदिक धर्म-शिक्षा का प्रमुख आशय रहा । वस्तुतः हर तरह से मनुष्य को सुखी व संपन्न बने रहने की यह धार्मिक राह थी जो उसे मृत्यु के बाद भी परलोक के सुखी जीवन की कामना को फलित कराने की चेष्टा उत्पन्न करती रही थी । इसी आधार पर स्वर्ग व पुनर्जन्म की अलग-अलग व्याख्या की गई । आत्मा का परमात्मा में विलीन होना ही परम-सुख माना गया ।

वस्तुत: धर्म मानव समुदाय के इतिहास की वह मूल वृत्ति है जिसमें व्यक्ति इहलोक के दु:ख को भूलने का आत्मिक प्रयत्न करता है । आदिकाल से ही समाज समुदाय धर्म में ही दु:खों की आहुति देता रहा । बिना धर्म के उसने जीवन को निरर्थक माना । इसीलिये यह माना गया कि "धर्म जीवन को अर्थ प्रदान करता है ।"[157] धर्म की व्यापकता को मानवीय जीवन से अलग करना असंभव है । "धार्मिक स्थिति, दृष्टि तथा समर्पित भावना के प्रमाण मानव-जीवन के हर क्षेत्र -- सामान्य मानवीय अनुभव, संस्कृति में धर्म की स्थिति, दृष्टि, भावना की प्रगाढ़ स्थिति, तथा इतिहास में सामाजिक एवं व्यक्तिगत आचरण के लेखों में प्राप्त होते हैं ।"[158] मानव के जीवन का ऐसा कोई क्षेत्र नहीं रहा जिस पर धर्म के किसी भी रूप का प्रभाव न हुआ हो । कष्टों की भयावहता से अपने को अलग करने के लिये धर्म तथा उसका प्रणेता ईश्वर ही ऐसे आश्रय के रूप में कल्पित किये गये जहाँ दु:खों के जनक के रूप में स्वयं की अपेक्षा प्रकृति या पराशक्ति को प्रमुख मानता रहा । धर्म के द्वारा मनुष्य को आत्मिक शान्ति मिलती है ।धर्म आत्मा का विकास है । वस्तुत: यह वह माध्यम है जो व्यक्ति के आगे जीने का एक आदर्श प्रस्तुत करता है । "धर्म मनुष्य को आनन्द-प्राप्ति हेतु प्रयत्न करने की अपेक्षा सुख-प्राप्ति के लिये प्रोत्साहित करता है । यह हमारे आदर्श परिवार, आदर्श समाज तथा आदर्श राष्ट्र के लिये आधार भी प्रदान करता है ।"[159] व्यक्ति के दु:खों की सम्पदा का जब कोई संग्राहक उपस्थित हो जाता है तब व्यक्ति को उससे अधिक प्रिय कोई और दिखाई नहीं देता । धर्म एक समाज, एक समुदाय, एक संगठन का निर्माण करता है जहाँ व्यक्ति अपनी भावनाओं का दूसरे के साथ साझा करता है, अपने दु:ख बाँटता है तथा सुख बटोरने का यत्न करता है ।

आदिकाल से ही, जब मनुष्य को प्रकृति की विशिष्टता का विशेष ज्ञान नहीं था, प्राकृतिक विपदाओं के प्रति आश्चर्य व भय उत्पन्न होता रहा था । इन विपदाओं की लगातार पराशक्ति के रूप में व्याख्या होती रही । यही पराशक्ति अनन्तर में ईश्वर में कल्पित हो गई । इस धारणा के अनुसार "धर्म -- मनुष्य का उस शक्ति में विश्वास है जो उससे अधिक उन्नत तथा पहुँच से परे होती है जिसके द्वारा वह अपनी संवेगी या भावुक आवश्यकताओं की

तृप्ति कर जीवन में स्थिरता प्राप्त करना चाहता है जिसे वह पूजा तथा सेवा द्वारा अभिव्यक्त करता है ।"[160] मनुष्य का यह विश्वास गहरा होता गया कि यही सर्वोच्च शक्ति ही उसे दुःखों से छुटकारा दिला सकती है । भारतीय दर्शन के महादार्शनिक श्री अरविन्द का भी यही विचार है कि -- "ईश्वर सर्वोच्च शान्ति है । ईश्वर में लीन रहने से आप शान्ति से जी सकेंगे ।"[161] समग्रत: यही कि व्यक्ति अपने दुःखों को ईश्वर या अपनी आस्थानुरूप किसी अन्य शक्ति को सौंप कर सुखपूर्वक जीवन व्यतीत कर सकता है । विशिष्ट सत्ता या शक्ति के प्रति समर्पण की भावना ही धर्म कहलाता है । इस प्रकार धर्म दुःखहारक का भी कार्य करता है ।

पुरुषार्थ : धार्मिक अवधारणा :

पुरुषार्थ वस्तुत: एक साधना है जिसमें धर्म के आधार पर अर्थ तथा काम की साधना करते हुए परलौकिक जीवन को साधने का प्रयास निहित होता है । पुरुषार्थ का तात्पर्य है "प्रयत्न" अथवा "प्रयत्नों से" वे प्रयत्न जिनसे जीवन के उद्देश्य की पूर्ति होती है । मानव-जीवन के विभिन्न क्षेत्रों की सभी आवश्यकताओं, इच्छाओं और लक्ष्य या उद्देश्य से युक्त भारतीय विचारधारा को चार प्रमुख भागों में विभाजित किया गया है -- धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष । मोक्ष जीवन का परम तथा अंतिम पुरुषार्थ है, अर्थ और काम उस लक्ष्य तक पहुंचने के साधन तथा इन साधनों को प्रयोग में लाने के नियम ही धर्म हैं । मोक्ष मानव को आंतरिक आध्यात्मिक अनुभूति का प्रतीक है । अर्थ सहज-मानवीय स्वभाव की ओर संकेत करता है तथा उसके संग्रह, उपभोग तथा प्रवृत्तियों की ओर संकेत करता है । काम मानव की सहजता, भावुकता तथा तुष्टि का द्योतक होता है । अर्थ और काम मनुष्य के सांसारिक लगाव, कार्य-कलाप एवं जीवन की सफलता का प्रतिनिधित्व करते हैं । धर्म मानव की पाशविक तथा दैवीय प्रकृति के बीच की श्रृंखला है ।

भारतीय दर्शन के अनुसार मनुष्य को बुद्धि, मन, शरीर तथा आत्मा - इन चार तत्वों का समन्वय माना गया है इसीलिए "शरीर" के विकास के लिए अर्थ या सम्पत्ति को, "मन" के विकास के लिये काम तथा प्रेम को, "बुद्धि" के विकास के लिये धर्म को और "आत्मा" के विकास के लिये मोक्ष को पुरुषार्थ माना

गया है । ये चारों पुरुषार्थ भारतीय संस्कृति की आचार-मीमांसा के आधार स्तम्भ माने गये हैं । चारों पुरुषार्थों को ही मानव-जीवन की सफलता का साधन स्वीकार किया गया है । मूलत: ये पुरुषार्थ साधन भी हैं और साध्य भी । जीवन की सर्वांगीणता इन्हीं में समाहित है ।

"जगत् के सकल नानात्मक रूप व्यापारों की संज्ञा "धर्म" है।"[162] "धर्म" का तात्पर्य किसी "अलौकिक शक्ति" में विश्वास[163] का होना है जिसका आधार भय, श्रद्धा, भक्ति, तथा पवित्रता की धारणा है तथा इसकी अभिव्यक्ति प्रार्थना, पूजा या आराधना द्वारा होती है । "धर्म शब्द की जो भी व्याख्या हो लेकिन इतना अवश्य है कि वह कुछ साफ तौर पर कुछ चारित्रिक प्रकार के मानों जैसे विश्वास, सेवाभाव, भावनाएं मन:स्थिति, आस्था आदि को संदर्भित करता है ।"[164] मनुष्य की कई इच्छाएं होती हैं । धर्म का उद्देश्य इन सभी इच्छाओं तथा आवश्यकताओं को व्यवस्थित, नियमित एवं संयोजित करना है । अर्थ और काम को धर्म ही उचित दिशा प्रदान करता है। "जो पुरुषार्थ धर्म पर आश्रित होता है वह कभी निष्फल नहीं होता"[165] समाज में मानवीयता तथा उसमें एकता बनाए रखने के लिये धर्म विशेष भूमिका निभाता है। धर्म में बंधा मनुष्य अलौकिक, अज्ञात सत्ता के प्रति आस्था प्रकट करते हुए उससे भय तो खाता ही है, साथ ही वह धर्मजनित भक्ति में लीन होकर अपने दु:ख भूलता है तथा आनन्द की प्राप्ति की ओर अग्रसर होता है । धर्म व्यक्ति को संगठित करता है । "धर्म पवित्र वस्तुओं से संबंधित विश्वास एवं अज्ञात आस्था का संगठित तंत्र है अर्थात् जो वस्तुएं असम्बद्ध तथा अज्ञात या निषेधक होती हैं यानि विश्वास एवं आस्था -- का नैतिक संगठन अर्थात् मंदिर के रूप में विलय होता है । साथ ही उस व्यक्ति-समुदाय का भी जिन्हें वह प्रणाली आवश्यक रूप से मान्य होती है ।"[166] "धार्मिक व्यक्ति नैतिक तथा सौन्दर्य के मूल्यों को प्रदर्शित करने का इच्छुक रहता है तथा इन मूल्यों को प्राप्त करने के लिए आवश्यक कार्य करता है ।"[167] ये आवश्यक कार्य यानि नैतिक रूप से सुख की खोज व्यक्ति में परम सत्ता के प्रति आस्था जगाते हैं । नैतिक मूल्यों की प्राप्ति का आवश्यक कार्य उसके जीवन का अविभाज्य अंग होते हैं जिनका कालान्तर में रूपान्तरण एक स्थापित रूढ़ि तथा परम्परा में होता है ।

विश्वास की प्रक्रिया में भारतीय धर्म दर्शन सदाचार के उपदेश देता है। चूंकि धार्मिक आस्था आवश्यक रूढ़ि बन जाती है अत: उसमें प्रतिबद्धता बढ़ जाती है। इसी प्रतिबद्धता की शक्ति द्वारा व्यक्ति और अधिक आक्रान्त होता जाता है। "हिन्दू धर्म इस बात पर विशेष ध्यान देता है कि हमारा जीवन सदाचारमय हो। जीवन की विभिन्न परिस्थितियों में मनुष्य किस प्रकार सदाचार-वृत्त का पालन करे, धर्म इसका निर्देश करता है। भौतिक सुखों अथवा आध्यात्मिक आनन्द की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करने में मनुष्य को धर्म की मर्यादा में अटूट विश्वास रखना चाहिए।"[168] धर्म का विभिन्न समाजों में भिन्न-भिन्न स्वरूप है। जीवन में संयम का महत्व है। संयम संस्कारों को सम्पन्न करता है। शरीर और जीवात्मा का उत्तरोत्तर विकास की दिशा संस्कार निर्धारित करते हैं। धर्म से जीवन का संतुलित, संयमित स्वरूप निर्धारित होता है। जीवन का संतुलित होना ही वस्तुत: सुख तथा आनन्द की स्थिति होती है।

अर्थ :

धर्म में अर्थ का तात्पर्य उन भौतिक या पार्थिव वस्तुओं से है जिनसे गृहस्थी चलाने, परिवार बसाने तथा धार्मिक कार्यों का सम्पादन की आवश्यकता पड़ती है। "धर्म भोग का साधन है। कौटिल्य के अनुसार "मनुष्की भूमि: अर्थ:" यानि मनुष्योपेता धरती ही अर्थ है।" x x x "भगवान व्यास का कहना है कि "धर्मादर्थश्च कामश्च" अर्थात् धर्मसे अर्थ तथा काम दोनों की प्राप्ति होती है।"[169] अर्थ का सामान्य परिचय भौतिक सुखों व आवश्यकताओं की पूर्ति से है। अर्थ वैराग्य का विरोधी है। धन का उद्देश्य भी सुख है -- जिस धन से सुख प्राप्त न हो वह धन बेकार है -- क्योंकि धन एक विशेष सीमा तक सुख को बढ़ाने में सहायक होता है। जब धन अपने प्राकृतिक गुण यानि सुख को उत्पन्न करने में अपनी विशिष्ट भूमिका नहीं निभा पाता तब वैसा अर्थ व्यर्थ-सा प्रतीत होता है तथा उसका महत्व भी कम हो जाता है। मानव की यह आकांक्षा हमेशा ही रही कि वह सुखी रहे और सुख-प्राप्ति के लिये भौतिक साधनों को जुटाने में धनार्जन का प्रयत्न करता रहे। अर्जन तथा भोग की स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिये यह आवश्यक होता है कि व्यक्ति अपनी इच्छाओं

को सीमाबद्ध करे । आध्यात्मिक सुख यानि परम-सुख के लिये यह आवश्यक है कि व्यक्ति मानव-जीवन का नियमन करे । जीवन-मुक्ति में जितना योगदान धर्म से प्राप्त होता है, उतना ही अर्थ व काम का भी होता है ।

काम :

भारतीय विचारधारा में काम को तीसरा पुरुषार्थ माना गया है । "प्रत्येक प्राणी के भीतर रसात्मक प्रवृत्ति की संज्ञा का नाम काम है ।"[170] काम एक भोग है जिसके बिना व्यक्ति न तो धर्म के लिये प्रयत्न करता है और न ही अर्थ के लिये । काम मनुष्य जीवन का एक अविभाज्य अंग है जो मनुष्य की सद्गति एवं दुर्गति दोनों का सहज कारण भी होता है । जीव में पाये जानेवाला द्वन्द्व ही काम को जन्म देता है । "काम के लिये द्वन्द्वभाव आवश्यक है, अर्थात् सृष्टि के पूर्व में जो एक अविभक्त तत्व था वह विश्वरचना के लिये दो विरोधी भावों में आ गया ।"[171] दो विरोधी भावों में ही बंटा हुआ तत्व इन्द्रियों की संतुष्टि से आनन्द की दशा प्राप्त करता है । सामान्यत: काम का अभिप्राय उस आनंद-युक्त अनुभूति से है जो पांचों इन्द्रियों -- दृष्टि, श्रवण, गंध, स्पर्श व स्वाद के द्वारा मन में होती है । "अभीष्ट रूपरसगंध-स्पर्शशब्दादि की रसानुभूति ~~अभिरुष्ट-रूपरसगंध~~ ही काम है।"[172] इन्द्रियजनित आनन्द का नाम ही काम है । काम की संतुष्टि से इन्द्रियां तुष्ट होती हैं । "आनन्द काम का स्वरूप है । यदि मानव के भीतर का आकाश आनन्द से व्याप्त न हो तो उसका आयुष्यसूत्र उच्छिन्न हो जाए ।"[173] जीवन के भौतिक स्वरूप को यह भौगिक तुष्टि न सिर्फ इन्द्रियों या स्नायुतंत्र का तनाव कम करती है अपितु मानसिक अवस्था को समाधितुल्य आनन्द की उत्तम एवं उच्च कोटि तक भी पहुंचाती है । काम का आदर्श मान भारतीय परम्परा का कोई अर्वाचीन ज्ञान खण्ड नहीं है अपितु हजारों साल की मेधा का उन्नत प्रमाण है ।

भारतीय आचार्यों ने काम के परिप्रेक्ष्य में जीवन पर बल दिया और आश्रमों की व्यवस्था करते समय गृहस्थाश्रम पर विशेष बल दिया । इसका कारण यह था कि शेष आश्रम प्रमुखत: इसी पर निर्भर होते हैं । हिन्दू धर्म में काम को देवता या काम के देवता की भी कल्पना की गई है ।"भारतीय विचार के अनुसार काम स्वयं ईश्वर का रूप है । वह ऐसी कोई विकृति नहीं जिसे हेय माना जाए ।"[174] काम के सुख व दु:ख दोनों पक्ष व्यक्ति के कर्म द्वारा ही

निर्धारित होते हैं । अत: यह व्यक्ति पर ही निर्भर होता है कि आनन्द की प्रक्रिया में काम का कौन-सा स्वरूप चुने या निर्धारित करे । काम का स्वरूप व्यक्ति के ठोस जीवन से ही नि:सृत होता है । "कायिक, प्राणिक और मानसिक, तीन ही व्यक्तित्व के परस्पर संयुक्त धरातल हैं और इन तीनों में काम का आकर्षण समस्त रागों और वासनाओं के प्रबल रूप में अपना अस्तित्व रखता है ।"[175] वासना एवं राग का उत्तम स्वरूप जहाँ एक ओर धर्म-परायणता से जुड़ता है वहीं दूसरी ओर उसका लौकिक या भौतिक स्वरूप अर्थ से जुड़ता है ।

मोक्ष :

मोक्ष जीवन का सर्वोच्च एवं अंतिम पुरुषार्थ है । पुरुषार्थ के अन्य तीन खण्ड -- धर्म, अर्थ व काम-मोक्ष की प्राप्ति के लिये साधन तथा माध्यम बनते हैं। जीव का निर्माण इसी सृष्टि के तत्वों से हुआ माना जाता है तथा उसका निर्वाण भी इन्हीं तत्वों के अमेल का परिणाम होता है । पंच तत्वों को एक नैतिक प्रक्रिया द्वारा पुन: उनकी मुक्तावस्था में पहुंचा देना ही मोक्ष कहा जा सकता है । "भारतीय दर्शन में नश्वरता को दु:ख का कारण माना गया है । संसार आवागमन, जन्म-मरण और नश्वरता का केन्द्र है । इस अविद्याकृत प्रपंच से मुक्ति पाना ही मोक्ष है । x x x इसे परमार्थिक मूल्य मानकर जीवन के परम उद्देश्य के रूप में स्वीकार किया गया है । x x x यद्यपि विभिन्न प्रणालियों ने अपनी-अपनी ज्ञान-मीमांसा के अनुसार मोक्ष की अलग-अलग कल्पना की है तथापि अज्ञान, दु:ख और मृत्यु से मुक्ति को सभी ने मोक्ष की स्थिति माना है । मोक्ष के भी दो रूप मिलते हैं । एक व्यक्ति अपने इसी जीवन में अज्ञान, मृत्यु, भय एवं दु:ख से मुक्त हो सकता है । इसे "जीवन मुक्ति" कहेंगे । किंतु कुछ प्रणालियाँ, जिनमें न्याय वैशेषिक एवं विशिष्टा द्वैत उल्लेखनीय हैं, जीवन-मुक्ति की संभावनाओं को अस्वीकार करते हैं । दूसरे रूप को "विदेह मुक्ति" कहते हैं । जिसके सुख-दु:ख के भावों का विनाश हो गया हो, वह देह त्यागने के आवागमन के चक्र से सर्वदा के लिये मुक्त हो जाता है, उसे विदेह-मुक्ति कहेंगे।[176] मूलत: यह कि मोक्ष एक ओर जहाँ दैहिक या भौतिक या शारीरिक रूप से निर्वाण की स्थिति की द्योतक है वहीं दूसरे दर्शन के अनुसार मानसिक रूप से या भावों

के विनाश की स्थिति भी मोक्ष ही है । जिन स्थितियों में सुख व दु:ख से निवृत्ति हो जाती है वही मोक्ष की अवस्था कहलाती है ।

शरीर नश्वर तथा आत्मा अमर मानी गई है । ईश्वर में लीन होने के लिये जीव के लिये कर्म आवश्यक है । मनुष्य अपने कर्मों द्वारा ही माया के बन्धनों को तोड़कर ईश्वर में लीन हो सकता है । ईश्वर में तल्लीनता ही आनंद की उपलब्धि है । "उपनिषदों में आनन्द की स्थिति को ही मोक्ष की स्थिति कहा गया है, क्योंकि आनन्द में सारे द्वन्द्वों का विलय हो जाता है ।"[177] काम की स्थिति द्वन्द्व की स्थिति है । इस द्वन्द्वात्मकता का विलय जब चरम परिणति पर यानि नश्वरता या दु:ख के धरातल से ऊपर उठ जाता है तब आनन्द की अनुभूति अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति होती है । लेकिन "न्याय दर्शन मोक्ष की स्थिति को आनन्दमय नहीं मानते । सुख-दु:ख इनके अनुसार आत्मा के विशेष गुण हैं । दु:ख का अभाव आनन्द का होना नहीं माना जा सकता । अत: सुख-दु:ख दोनों से परे होना ही इनके अनुसार मोक्ष है ।"[178] ऐसी स्थिति प्राप्त करते हुए प्राणी एकदम भौतिक जगत् से विलग हो जाता है । मोक्ष शुद्ध रूप से निर्वाण की स्थिति का द्योतक हो जाता है जहाँ व्यक्ति भौतिक जगत् से अलग हो जाता है तथा आत्मा को परमात्मा में मिला देता है ।

पुरुषार्थ के संबंध में धार्मिक अवधारणा यह कहती है कि मनुष्य के जीवन का आधार मात्र रोटी, कपड़ा, मकान जैसी मूलभूत आवश्यकताएं या इन्द्रिय सुख नहीं माना जा सकता । अर्थ एवं काम से सुख के साथ-साथ दु:ख की भी अनुभूति होती है । चूंकि सुख-प्राप्ति के परिप्रेक्ष्य में अर्थ और काम का व्यक्ति उचित ढंग से उपभोग नहीं कर पाता अत: वे सुखोन्मुख होने की अपेक्षा दु:ख ही अधिक उत्पन्न करते हैं । अर्थ व काम का संबंध तृप्ति या अतृप्ति से है । तृप्ति से संतोष मिलता है तथा अतृप्ति से निराशा । इसी निराशा के कारण ही सामाजिक एवं व्यक्तिगत व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं । सृष्टि, संसार, समाज तथा स्वयं का समत्वज्ञान ही एकमात्र साधन है जो व्यक्ति को नैराश्य भाव से दूर रख सकता है । इसी में निवृत्ति है तथा यही मोक्ष का साधन है तथा यही व्यक्ति का मानव-परक धर्म भी होता है ।

दुःख के कारण और परिणाम :

दुःख का अस्तित्व सृष्टि-तत्व के साथ बंधा होता है । सृष्टि का जन्म हो या सृष्टि में प्राप्त पदार्थ, सभी का जन्म व विकास द्वन्द्व का परिणाम होता है । सृष्टि की संपूर्ण प्रकृति अपूर्ण होती है और यही अपूर्णता दुःख का कारण होती है । इसमें पूर्णता हेतु विकास तथा गति लगातार होती रहती है । "जगत् अपूर्ण है, इसीलिये गतिशील है । मानव-समाज अपूर्ण है, तभी तो वह प्रयासोन्मुख है । और हमारा आत्म-ज्ञान भी अपूर्ण है, इसीलिये हम आत्मा को "समस्त" से अलग जानते हैं । वास्तव में दुनिया की गतिशीलता में ही शान्ति है ।"[179] गति वहाँ नहीं होगी जहाँ पूर्णता है तथा पूर्णता वहाँ ही होगी जहाँ सुख है । जहाँ सम्पूर्ण सुख की प्राप्ति हो जाती है वह व्यक्ति के निर्वाण की अवस्था है । व्यक्ति का जीवन पूर्णतः सुखी कभी हो नहीं सकता । उसकी सुख-प्राप्ति की प्रक्रिया यही होती है कि वह उस वर्तमान समय में होनेवाले दुःख से छुटकारा पा जाए । दुःख-विस्थापन की प्रक्रिया में ही व्यक्ति का जीवन विकास पाता है । दुःखों का सही व सार्थक दिशा में विकास ही सुख-प्राप्ति का नियम रहा है ।

विश्व के लगभग सभी महापुरुषों एवं विद्वानों ने दुःख को साधना व तपस्या के रूप में स्वीकारा है । सुख की पूर्णता का भोग करने के लिये जीवन में दुःख के महत्व को नकारा नहीं जा सकता क्योंकि जब तक लक्ष्य या उद्देश्य प्राप्ति के लिये संघर्ष न किया जाए तब तक सुख का मूल या सही उपभोग नहीं किया जा सकता । दुःख का महत्व तभी स्थापित हो सकता है जब उसे सार्थक रूप दिया जाए । यदि दुःख को एक तिरस्कार या अपमान के रूप में देखा गया तो उससे जीवन की दिशा पलायनवादी हो सकती है तथा अपमानस्वरूप व्यक्ति आत्मघात या हत्या कर सकता है । व्यक्ति का दुःख उसकी असफलता में है । अपने कार्य, अपनी इच्छाएं या स्वप्न को व्यक्ति जब ढहते देखता है या उनकी पूर्णता में विघ्न (बाधा) होती है तब उसे घातक दुःख होता है ।"व्यक्ति दुःखी इसीलिए है क्योंकि उसकी संभावनाएं वास्तविकता नहीं बन पातीं । संभावना के वास्तविक बनने पर आनन्दोपलब्धि होती है ।"[180] व्यक्ति का जीवन संभावनाओं से पूर्ण लक्ष्य या उद्देश्य पर टिका होता है । संभावनाएं ही जीवन की आपूर्ति के माध्यम होते हैं । ऐसी आधारभूत स्थिति का विखण्डन

ही व्यक्ति के दुःख का कारण बनता है ।

दुःख का अन्य प्रमुख कारण "स्व" का अपरिचय है । व्यक्ति का स्वयं को न पहचानना और अपने आस-पास के जगत् में बिखरी वस्तुओं का आत्मिक तथा भौतिक ज्ञान न होना दुःख का कारण बनते हैं । व्यक्ति अपने आसपास की वस्तुओं से स्वयं का सहज-संबंध न बना पा सकने के कारण उसे ऐसा प्रतीत होता है कि वह अकेला है एवं व्याप्त वस्तुएं उसे किसी भी प्रकार का सुख नहीं दे रही हैं । लेकिन ऐसा वास्तव में होता नहीं है । व्यक्ति की अभिरूचि इतनी नकारात्मक होती है कि वस्तुओं से सुख-सौहार्द्य प्राप्त नहीं कर पाता । सुख व दुःख दोनों प्रकृति के नियम हैं । सामान्यतः दुःख का अस्तित्व कोई भी सहर्ष स्वीकार करना नहीं चाहता । लेकिन इससे छुटकारा भी असंभव है । इसके लिए ऐसी जीवन-दृष्टि स्थापित करना चाहिए जिसमें दुःख जीवन के विकास में बाधा नहीं बन सके । "अपने जीवन में मनुष्य दुःखी इसलिये है कि वह दुःख से भागता है और दुःख छाया की भाँति उसका पीछा करता चला जाता है । जिन्दगी की रफ्तार को यदि बदल दिया जाए तो दुःख अपने आप रफूचक्कर हो जाएगा ।"[18] दुःख जीवन में कुछ समय के लिए मार्ग अवश्य अवरूद्ध कर सकता है या सुख-प्राप्ति की प्रक्रिया में बाधा उत्पन्न कर सकता है लेकिन दुःख का अस्तित्व स्थायी नहीं होता । लक्ष्य प्राप्ति की प्रक्रिया में मनुष्य अपने प्रयासों द्वारा दुःखदायी स्थितियों को बदल कर सुख प्राप्त कर सकता है । अतः व्यक्ति वस्तु की प्रकृति तथा उसके गुण-दोष को जान ले तथा उससे अपना सामंजस्य स्थापित कर ले तो उसके जीवन में दुःख के क्षण कम हो सकते हैं ।

सुख-दुःख :

भौतिकता के एक अंश में सुख-दुःख सम्पन्नता तथा दरिद्रता के द्योतक होते हैं । अर्थ के ढाँचे से जुड़ी यह बात आधुनिक जीवन के कटु सत्य को दर्शाती है जहाँ जीवन का हर पहलू, उसमें प्रयुक्त होनेवाले हर उपादान बाज़ारू हो गये हैं, जहाँ हर अनुभूतेतर वस्तु खरीदी तथा बेची जाती है । आज जीवन को जी लेने की आकांक्षा ही दुःख नहीं देती अपितु मृत्यु की भयावहता भी दुःख उत्पन्न करती है । सीमित आर्थिक स्थिति जहाँ सुख देती है वही दूसरी ओर उसकी अपारता दुःखदायी बन जाती है । सुख एवं दुःख की समान मात्रा ही जीवन

को स्थिरता प्रदान करती है । "सही जीवन वही है जो न केवल सुख की कामना करे या पूर्णतः दुःखों का तिरस्कार करे बल्कि इसकी मध्यम स्थिति को प्राप्त करे ।"[182] सुख-दुःख से समान मिश्रित जीवन ही आदर्श स्थिति का सूचक होता है ।

भारतीय तथा पाश्चात्य दोनों दर्शनों ने दुःख के स्वरूप का सुख में रूपान्तरण बहुत ही औचित्य ढंग से किया है । व्यक्ति हमेशा ही मृत्यु से भय-भीत होता रहा है । इसका एक मूल कारण यह भी है कि मनुष्य अपनी बौद्धिकता के परिप्रेक्ष्य में मृत्यु के सत्यवादी रहस्य को जान नहीं पाया है । मृत्यु को सुगम और सरल रूप देने का कार्य दर्शन ने किया । पश्चिमी दर्शन में भोगवादियों ने जीवन का अंतिम उद्देश्य सुख की अनुभूति में देखा है । भारतीय दार्शनिक सुख के पीछे न भाग कर केवल दुःख से बचना चाहते रहे हैं । भारतीय दर्शन जिस मोक्ष की बात करता है वस्तुतः वह मृत्यु का दुःख निवारक उपाय ही है । त्याग में आनन्द की खोज करना ही बौद्ध दर्शन का ध्येय रहा । बुद्ध का कहना है कि "सुखी वे हैं, जिन्हें मुक्ति प्राप्त हो गई । मैं शान्ति की खोज करूंगा निर्वाण-प्राप्ति का यत्न ...."[183] मनुष्य का दुःख अकारण नहीं होता । उसका निरोध तथा निवारण विशिष्ट प्रवृत्त मार्ग से किया जा सकता है । दूसरी ओर त्याग की अपेक्षा कर्म करने की प्रेरणा गीता के उपदेशों में प्राप्त होती हैं । इस प्रकार मोक्ष प्राप्ति के लिये बौद्ध धर्म निवृत्ति मार्ग की ओर संकेत करता है और गीता गृहस्थ जीवन में कर्म व संघर्ष को स्थापित करती है । भिन्न-भिन्न दार्शनिक विचारों के बावजूद मनुष्य अपनी प्रकृति एवं दृष्टिकोण के अनुरूप ही उन्हें अपनाकर दुःख से निवृत्त होने के उपाय किये हैं । जीवन-प्राप्ति के पश्चात् मृत्यु के शाश्वत सत्य के लक्ष्य की ओर बढ़ते हुए मनुष्य सुख-दुःख से सम्पृक्त रहता है । मनुष्य को मृत्यु इसीलिए ही दुःखदायी प्रतीत होती है कि वह जानता है कि मृत्यु के बाद उसका कोई जैविक अस्तित्व नहीं रहेगा ।

दुःख अभाव का सूचक है । इस अभाव को भरना ही सुखी होना है । अभावता की सम्पूर्ति हेतु वह दिवास्वप्नी हो जाता है तथा उन्हें वास्तविकता में परिणत करने का प्रयत्न करता है । "व्यक्ति दुःखी इसलिये है क्योंकि उसकी

संभावनाएं वास्तविक नहीं बन पातीं। संभावना के वास्तविकता बनने पर आनन्दोपलब्धि होती है।"[184] इच्छित सुख की प्राप्ति से व्यक्ति में नशीली मस्ती छा जाती है जिसकी मदता में व्यक्ति स्वयं को भूल-सा जाता है। इस स्थिति में सुख शरीर से हट कर मन में छा जाता है। आनन्द की यह स्थिति ही वास्तविक सुख की सूचक होती है। इसके विपरीत जिस सुख की प्राप्ति तथा भोगने के लिये व्यक्ति मद्य का सहारा लेता है, उस सुख की अनुभूति में सच्चाई या वास्तविकता नहीं होती।

सुख सभी के लिये वांछनीय होता है परन्तु सुख की स्थिरता मनुष्य को उत्तेजनाहीन बना कर उसमें ऊब भर देती है। जीवन के विकास के लिये सुख व दुःख दोनों का समावेश होना आवश्यक है। अतिशय सुख या अतिशय दुःख व्यक्ति को विक्षिप्त कर देते हैं। संवेदनशीलता की अधिकता से भी सुखानुभूति या दुःखानुभूति उतनी ही गहरी होती है। यह बात पूर्णतः अमान्य है कि पूर्णतः सुखी जीवन ही उत्तम जीवन होता है। सुख को परिमाणात्मक बनाने के लिये जीवन में दुःख का समावेश भी आवश्यक है। इसी के आधार पर तुलना कर यह ज्ञात किया जा सकता है कि सुखी जीवन कितना सुखी है।

त्याग, परोपकारिता और निस्वार्थ सेवा भाव भारतीय जीवन-पद्धति के आवश्यक सामाजिक तत्व रहे हैं। महानता की श्रेणी में रखे जानेवाले जितने भी व्यक्तियों का अवतरण इस भूमि पर हुआ, सब में ये भाव मूलतः विद्यमान थे। "बात यह है कि जो दूसरे के दुःख को अपना बनाता है, वही अपने दुःख से दुःखी नहीं होता। जो अपने आप ही में है, वही यथार्थ में दुःखी है। जो दूसरे के लिये जीवन धारण करता है, दूसरे के लिये जीता है, दूसरे के लिये मरता है, वही अमर है, वही सुखी है। जो केवल अपने ही लिए जीता है, वह केवल शरीर बोझ वहन करता है। वह जीते-जी मृतवत् है। इसी गुण से आभूषित रहने के कारण हम लोगों में से कितने मनुष्य से देवता हो जाते हैं और इसी के अभाव से कितने मनुष्य से पिशाच बन बैठते हैं।"[185] सुख की खोज आत्म शान्ति की तलाश ही है। इसी तलाश में लगातार दुःख से सामना होता रहता है। आत्म-संतुष्टि की तलाश की प्रक्रिया में सुख का वास्तविक स्वरूप निर्धारित नहीं हो पाता इसीलिए हर स्थिति लगातार दुःख को ही चिह्नित करती है।

सुख की प्राप्ति के लिये धन-सम्पत्ति एक आवश्यक तत्व तो है लेकिन इससे भौतिक सुख की ही प्राप्ति होती है । इसका प्रभाव देह और इन्द्रियों पर पड़ता है । किन्तु सन्ताप विपत्ति या दुःख अपने मर्म का प्रभाव, अपनी वेदना का असर मन और आत्मा तक पहुंचाती है । इस प्रकार सुख का विषय-क्षेत्र शरीर तक सीमित है तो दुःख का विस्तार क्षेत्र पवित्र, अमर आत्मा तक है । जीवन के अव्यक्त तथा अछूते पहलुओं को देखने के लिये वेदना एक दृष्टि प्रदान करती है । अधिकांश दार्शनिकों ने दुःख का ही सहर्ष वरण किया । दुःख से सुख की ओर प्रयाण कर ही उन्होंने आनन्द की प्राप्ति की । सुख से सुख प्राप्त करना दार्शनिकों का ध्येय रहा और सुख प्राप्ति की चाह में दुःख में डूब जाना सामान्य व्यक्ति का गुण रहा है ।

दुःख से प्राप्त असंतुलित जीवन के कारण ही व्यक्ति दुःख से दूर रहता है । वह कभी स्वभाववश स्वयं ही दुःख का चयन नहीं करता बल्कि उसकी उपेक्षा करता है । दुःख के इस स्वाभाविक तिरस्करण के बावजूद व्यक्ति स्वयं कभी यह समझ नहीं पाता कि उसके दुःख का कारण क्या है, उसकी व्यथा की क्या वज़ह है । फिर भी वह लगातार दुःख से घिरता ही जाता है । ऐसे समय में उत्पन्न तनाव से खुशी द्वारा राहत प्राप्त होती है ।"[186] यह सच है कि सुख-दुःख एक आवर्त में लगातार गतिशील रहें तो व्यक्ति के मानसिक तथा शारीरिक जीवन में एक संतुलन बना रहता है । मनुष्य की मानसिक स्थिति कुछ इस तरह की होती है कि वह लगातार एक ही स्थिति पर, चाहे वह सुखकर हो या दुःखदायी, सोचता नहीं है । एक समय के पश्चात् वह विपरीत स्थिति की ओर अग्रसर होता है ।

नियतिगत दुःख :

दुःख को नियति बनाकर जीनेवाले वे व्यक्ति होते हैं जो स्वयं अपने दुःख को नहीं जानते । प्राप्त दुःख को जीवन का अंग बनाकर उसमें निमग्न होकर आनन्द ग्रहण करते हैं । दुःख को अपनी नियति बना लेते हैं तथा सुख की आशा ही त्याग देते हैं । नकारात्मक जीवनयापन करनेवाला व्यक्ति डरपोक या पलायनवादी चरित्र का होता है । व्यक्ति का जीवन सुख व दुःख

दोनों के सम-संयोग का परिणाम होता है जिसमें से किसी को भी नकारा नहीं जा सकता । सहजावस्था के कारण व्यक्ति सुख को तो पचा लेता है लेकिन उसी प्रकार दुःख के प्रति सहयोग न करके उसे अपनी नियति मान लेता है । प्राप्त दुःख के प्रति कोई प्रतिक्रिया न जतलाना उसका पलायनवादी आचरण होता है । यह सच है कि दुःखी व्यक्तियों में श्रेष्ठता की भावना व अन्तर्दृष्टि निहित होती है लेकिन इससे खुशियों की आपूर्ति नहीं होती है । सुख का सहज रूप में बिना किसी श्रम से प्राप्त न होने से जिस स्थिति का अनुभव व्यक्ति करता है, उसे वह अपने जीवन की नियति मान लेता है जो कि सर्वथा अनुचित है । इच्छित सुख प्राप्त न होने को नियति मान लेना व्यक्ति की अकर्मण्यता या कथित कार्य के प्रति भय या असफलता की आशंका कार्य करती है ।

वस्तुतः यह व्यक्ति के मन की भावनाएं ही होती हैं जो उसे अपने जीवन को नियति की राह पर अग्रसित करती हैं । इस प्रकार दुःख को ओढ़ लेने तथा उसके निवारण के लिये कुछ न करने की इच्छा व्यक्ति को और अधिक दुःखी करती है । ऐसे तथाकथित नियतिगत दुःख को प्राप्त करनेवाला व्यक्ति अपने जीवन में लगातार दुःखों को प्राप्त कर दुःखी ही बना रहता है । दुःखों के प्रति वह कोई कार्य नहीं करता । "दुःखदायी चीज़ उस समय और अधिक दुःख देता है जब उसका दुःख मन में छिपाकर रख लिया जाता है क्योंकि उसका गहरा आत्मिक संबंध होता है । यदि उसे मन की सीमा से मुक्त किया जाए तो एक बाहरी तत्व के रूप में उसका आत्मा से संबंध कम हो जाता है । इस प्रकार आंतरिक दुःख में कमी होती है ।"[187] दुःख को एक प्रदत्त भाव या नियति मान लेने से इसी प्रकार दुःख की अनुभूति में प्रगाढ़ता आ जाती है जो व्यक्ति के सामान्य जीवन का विरोधी पक्ष होता है ।

वस्तुतः नियतिगत को महत्व देनेवाले निराशावादी होते हैं । उनके जीवन में आशा, उत्साह, प्रेम व स्फूर्ति जैसे प्रेरणादायक तत्वों का सर्वथा अभाव होता है । दूसरी ओर भौतिक आवश्यकता की आपूर्ति या निर्धनता भी नियतिगत दुःख को बढ़ावा देती है । ऐसे नियतिगत दुःखी व्यक्ति इस दुःखी जीवन में भी सुख की ही खोज करता है । वह नियतिगत दुःख को स्वीकारते हुए भी उसी में सुख खोजने का प्रयत्न करता है । चूंकि यह नियतिगत दुःख व्यक्ति के नकारात्मक सोच का परिणाम होता है यानि कि व्यक्ति की घटना-

विशेष के प्रति जाग्रत चेतना का परिणाम मूलत: मानसिक होता है । व्यक्ति अपनी मन:प्रक्रिया में अन्तर कर या बदल कर उसे परिष्कृत कर सकता है तथा ऐसी किसी भी दु:खदायी स्थिति से छुटकारा पा सकता है ।

भारतीय संस्कृति व परम्परा के संदर्भ में इस नियतिगत दु:ख का एक मूल कारण यह भी है कि यहाँ का व्यक्ति पराशक्ति पर अधिक विश्वास करता है । सहस्त्रों वर्ष की संस्कृति व्यक्ति को उसके कर्म तथा यथार्थ के परिणाम की प्रक्रिया का खुलासा या वास्तविक दृश्य प्रस्तुत नहीं करती। प्रकृति या किसी अन्य देवी या परालौकिक शक्ति का भय उसे लगातार बना रहता है । ऐसे जीवन में उसे जिस दु:ख से सामना करना पड़ता है वह उसे परमसत्ता की देन मानता है तथा उसके प्रति कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं करता । जो भी दु:ख उसे प्राप्त होता है, उसे सहर्ष स्वीकार कर अपने को धन्य समझता है या सुखी बने रहने का प्रयत्न करता है ।

निर्धनता :

भारत एक विकासशील देश होने के कारण यहाँ की अर्थ-व्यवस्था में कोई अनुकूल ठहराव नहीं है । देश की रोज़गार नीतियाँ भी कुछ इस तरह निर्धारित हुई हैं कि उसमें शिक्षा तथा अनुभव का समुचित अनुपात तथा योगदान नहीं दिखाई देता । परिणामत: देश में निर्धनता की दर लगातार बढ़ रही है । दूसरी ओर इन्हीं विकासोन्मुख नीतियों की अन्य स्पष्ट छाप यह है कि यहाँ धनिकों का सीमित वर्ग और अधिक, निरन्तर धनिक होता जा रहा है । इस अर्थ-तंत्र का समाज की विचारधारा पर भी विशेष प्रभाव पड़ता है । अधिकांशत: सम्मान धनिकों को ही मिलता है जबकि निर्धन हेय दृष्टि से देखे जाते हैं ।

निर्धनता से उपजनेवाला दु:ख मूलत: समाज की सापेक्षता में ही सिद्ध किया जा सकता है । कोई व्यक्ति यदि निर्धन हो तो भी किसी न किसी तरह अपनी मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति कर अपना जीवन निर्वाह कर ही लेता है लेकिन जिस समाज में वह रह रहा होता है उससे वह अपने को बचा नहीं पाता "निर्धन व्यक्ति अपनी गरीबी से उतना अधिक पीड़ित नहीं होता जितना कि अपने समाज से होता है । जैसा कि बहुत ही गंदे कपड़े पहननेवाला व्यक्ति अपने

पड़ोसी के लिये असह्य होगा जबकि वह स्थिति स्वयं के लिये किसी भी प्रकार की परेशानी का कारण नहीं बनती ।"[188] इस प्रकार निर्धनता का संबंध सीधे ही समाज से जुड़ जाता हैऔर इस संबंध में उत्पन्न हुई असहजता व्यक्ति के दुःख का कारण बनती है । अपने पड़ोसी की बराबरी करने में व्यक्ति और अधिक धनार्जन की प्रक्रिया में अनैतिक हो जाता है । "लगभग हम सभी क्यों अपनी आय बढ़ाने की इच्छा रखते हैं ? रसेल ने इस प्रश्न के उत्तर में कहा कि इसका पहला कारण यही है कि हमें भौतिक प्रसाधन पाने की इच्छा होती है । लेकिन तथ्य यह है कि इस इच्छा के पीछे हमारा अपने पड़ोसियों को प्रभावित करना ही होता है ।" x x x व्यक्ति की भावना में प्रशंसा तथा आदर की इच्छा सर्वाधिक बलवती होती है । प्रशंसा तथा आदर-सत्कार उसी व्यक्ति को मिलता है जो धनी होता है । व्यक्ति के धनिक होने की इच्छा का यह मूल कारण है ।"[189] निर्धन व्यक्ति हमेशा तरसता रहता है । अपने पड़ोसियों के समान स्तर पर भी वह अपना जीवन-यापन नहीं कर सकता । व्यक्ति की यही मनःस्थिति दुःख, संताप तथा निराशा का कारण बनती है ।

भारतीय समाज में घोर निर्धनता एक अभिशाप है । गरीबी और भूख आदमी से गलत काम, पाप, अपराध, विवाह-विच्छेद, भिक्षावृत्ति, वेश्यावृत्ति आदि घृणित कार्य करवा सकते हैं । निर्धन व्यक्ति को एक दृष्टि से तो समाज में भी कोई मान्यता या सामाजिक हैसियत नहीं मिल पाती जिसके दुःख में व्यक्ति टूटता है । "निर्धनता वह दशा है जबकि व्यक्ति तथा उसके आश्रितों को जीवन का एक न्यूनतम स्तर बनाये रखने के लिये आवश्यक सामग्री भी उपलब्ध नहीं हो पाती ।"[180] और व्यक्ति जब आश्रित-प्रमुख होता तब यह स्थिति उसके लिये कुण्ठा तथा दुःख का कारण बनती है । "निर्धनता में निराशा तथा अवसाद के अतिरिक्त कुछ नहीं होता, मन तथा शरीर दोनों पीड़ित होते हैं, इसकी टूटन व दर्द का पर्दाफाश नहीं होता, तथा इसमें किसी के चरित्र की सच्चाई नहीं बचती, यह वह दशा है जिसमें हर नैतिकता तथा खुशी छिप जाती है, जिसमें परिश्रम के अनुरूप सम्मान न मिल पाने की मूल्यहीन कुण्ठा का जन्म होता है ।"[191] आज के आधुनिक समाज में निर्धनता दुःख का एक मूल कारण बना हुआ है । अर्थ-तंत्र के शिकंजे में व्यक्ति इतनी बुरी तरह फंस चुका है कि बिना अर्थ के उसका जीवन-यापन असंभव है ।

निर्धनता के कारण मनुष्य सदा बेचैन रहता है । बेचैनी के कारण वह अपने मन में हजारों काल्पनिक कष्टों और संकटों को उत्पन्न करता है । वर्तमान से असहयोग तथा भविष्य के प्रति अनिश्चयता व्यक्ति को पागल बना देते हैं । ऐसी मन:स्थिति में मनुष्य अपना आत्म-विश्वास भी खो देता है । जब आदमी टूट जाता है तो उसका चिंतन भी विपरीत दिशा में जाने लगता है । अंधकार व निराशा में जीवन के प्रति कोई उत्साह नहीं बचा रहता । "निर्धनता मानवीय सुख की सबसे बड़ी शत्रु है, इससे स्वतंत्रता का नाश होता है तथा कुछ सदाचरण व नैतिकताएं अव्यवहारिक बनते हैं तथा अन्य को अनुरूप बनाना बहुत ही कठिन होता है ।"[192] निर्धनता से उपजी परतंत्रता में व्यक्ति का अपना कोई अस्तित्व नहीं होता । उसका जीवन अर्थ के बोझ से दब जाने तथा स्वयं के जीवन ~~अर्थ के बोझ से दब~~ को स्वयं की इच्छानुसार न जी सकने का दु:ख उसे अनैतिक, दुराचार, तथा अन्य समाज विरोधी आचरण अपनाने को विवश करता है ।

कुण्ठा :

व्यक्ति अपनी शक्ति की सीमा में अनुशासित होकर अपने विचारों तथा इच्छाओं की प्राप्ति का प्रयत्न करता है और उन्हें प्राप्त भी कर लेता है। कभी-कभी व्यक्ति अपनी आकांक्षा के, अपनी पहुंच से अधिक ऊँचे स्तर की भावनाओं तथा इच्छाओं को पूर्ण करना चाहता है लेकिन वह उनकी पूर्ति में असफल तथा असंतुष्ट हो जाता है । व्यक्ति के मन की ये दोनों निराशा-जनक स्थितियाँ उसमें कुंठा उत्पन्न करते हैं । व्यक्ति को पूर्ण रूप से यह विश्वास होता है कि उसकी इच्छा की पूर्ति बिना किसी बाधा के हो जाएगी। उसकी पूरी लगन व मेहनत के बावजूद प्राप्त होनेवाली असफलता का दु:ख ही उसे कुंठित करता है । मनोवैज्ञानिक एन॰एल॰मन् के अनुसार "कुंठा जीव की वह अवस्था है जो किसी प्रेरणायुक्त व्यवहार की संतुष्टि कठिन अथवा असंभव हो जाने के कारण उत्पन्न होती है ।"[193] प्रेरणायुक्त व्यवहार ही मन की इच्छा होती है ।

व्यक्ति के जीवन में दु:ख देनेवाली स्थितियों या वृत्तियों में कुंठा का प्रमुख स्थान इसलिये है क्योंकि ऐसे कार्य में व्यक्ति अपने आप को पूर्णत: एकमएक कर देता है । व्यक्ति के जीवन में कुण्ठा उत्पन्न करनेवाली परिस्थितियाँ

भिन्न-भिन्न होती हैं । व्यक्ति को अपने हक की प्राप्ति के लिये कभी भौतिक बाधाएं उत्पन्न हो जाती हैं । किसी कार्य में उत्पन्न अड़चन या विलम्ब भी कुण्ठा का कारण बनते हैं । ये बाधाएं जितनी शक्तिशाली होंगी, व्यक्ति में कुंठा की तीव्रता तथा वेग उतना ही अधिक होता है । परिस्थितियों की शक्ति व्यक्ति, समय तथा परिवेश के अनुरूप भिन्न-भिन्न होती है । इसी आधार पर कुंठा की दशा भी निर्धारित होती है । व्यक्ति कितना कुंठित है, यह बात वस्तु विशेष के प्रति अभिप्रेरणा या भावात्मक-क्रियात्मक संबंध एवं उस वस्तु को प्राप्त करने की क्रिया तथा गति पर निर्भर होता है । यदि किसी वस्तु को प्राप्त करने की तीव्र ललक हो और वह वस्तु बिना किसी दुसाध्य या परिश्रम के प्राप्त हो जाती हो लेकिन कारणवश असफलता हो तो कुंठा की भावना अधिक तीखी हो जाती है । यह स्थिति जितना अधिक जघन्य रूप धारण करती है, वह व्यक्ति के लिये उतनी ही अधिक दुःख देनेवाली होती है ।

समाज में सभी व्यक्तियों को एक ही स्तर के पद, प्रतिष्ठा, आर्थिक सहयोग तथा मानवीय संबंधों के सहयोग प्राप्त नहीं होते । एक कार्य की परिणति समाज के किसी व्यक्ति को सहज प्राप्त हो जाती है लेकिन उसी प्रकार के स्तर के अन्य व्यक्ति को वह अक्सर प्राप्त नहीं होता तो ऐसी दशा में उसका कुंठित होना ज़रूरी या अवश्यंभावी है क्योंकि वह व्यक्ति अपने आप को दूसरे की अपेक्षा हीन तथा असमर्थ महसूस करता है । व्यक्ति की यही दशा उसके घोर दुःख का कारण बनती है । इसके अतिरिक्त व्यक्ति में कुछ कमज़ोरियाँ उसकी आन्तरिक या जन्मजात होती हैं जो उसकी सफलता में बाधक बनती हैं । जैसे अंधा, बहरा, गूंगा, लंगड़ा होना, मानसिक रूप से कमज़ोर होना जैसी अयोग्यताएं व्यक्ति की सफलता की आशा को धूमिल करती हैं । लक्ष्य प्राप्ति में बाधा बननेवाले अन्य कारणों में आधुनिक युग में आर्थिक स्थिति या निर्भरता प्रमुख बाधा है ।

तनाव :

व्यक्ति अपने दैनिक कार्यकलापों द्वारा जीवन में सदैव सुख की कामना किया करता है । अपनी इच्छा-अनिच्छा से (किसी लक्ष्य की प्राप्ति के उद्देश्य के लिये) वह लगातार किसी काम में तन्मयता से जुड़ा रहता है । चूंकि मनुष्य

के अपने स्वयं के जीवन के अतिरिक्त उसके चारों ओर व्यक्ति, समाज तथा विश्व के रूप में और भी कुछ बहुत मात्रा में बिखरा होता है इसीलिए उसके संपर्क में आनेवाली हर वस्तु उसके अनुकूल नहीं भी हो सकती है। इसके बावजूद व्यक्ति सतत् क्रियाशील रहता है क्योंकि उसका उद्देश्य अपना निर्धारित लक्ष्य यानि सुख प्राप्त करना होता है। अपने कार्य या उद्देश्य की सफलता हेतु वह अपने परिवेश को भी अनुकूल बनाने का प्रयत्न करता है। इस प्रक्रिया में उपजनेवाला मानसिक द्वन्द्व तनाव कहलाता है। यह तनाव जब मन की भी सीमा तोड़ने लगता है तब इस तनाव के लक्षण बाहरी अवयवों, हाव-भाव, शारीरिक चपलता आदि पर भी प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से स्वत: उभर आते हैं।

तनाव व्यक्ति का स्वजनित एक मानसिक विकार है जो व्यक्ति की सफलता में बाधा उत्पन्न करता है। "बेहतर काम करना या यथाशक्ति उत्तम काम करने के लिये प्रयत्नशील रहना एक शुभ लक्षण है, किन्तु अन्य सभी से अच्छा करना और सभी प्रतिस्पर्धियों को मात दे देने की कोशिश में लगे रहना हमेशा संतुलित मनोदशा का पर्याय नहीं होता। विशेषकर जब कोई व्यक्ति अपनी सीमित योग्यताओं को ध्यान में न रखकर पूर्ण बनने और सर्वप्रथम रहने का प्रयास करता है, तब यह एक गंभीर तंत्रिकाताप का रूप ले लेता है। पूर्णतावादी प्रयास आदमी को चैन और आराम से नहीं बैठने देते, तनाव पैदा कर देते हैं जिनसे आदमी थककर चूर-चूर हो जाता है।"[194] तनाव में थकान, चिन्ता, क्रोध, झुंझलाहट और जलन की प्रवृत्ति होती है। ये सुख के मार्ग में गंभीर बाधाएं उत्पन्न करते हैं। शारीरिक थकान आदि अत्यधिक न हो तो वह सुख का कारण बनती है। अत्यधिक थकान हानिकारक होती है परन्तु स्नायविक थकान इससे अधिक हानिकारक होती है। मानसिक कार्य अधिक करनेवालों में इसकी मात्रा अधिक मिलती है। यदि अधिक चिन्ता न हो तो इससे मुक्ति पायी जा सकती है। आधुनिक दोहरी जिन्दगी जीने के फलस्वरूप अस्वाभाविक उच्चारण से भी स्नायविक थकान में वृद्धि होती है। साथ ही अपने चारों ओर अपरिचित व्यक्तियों की उपस्थिति भी व्यक्ति को थका डालती है।

तनावग्रस्त व्यक्ति को सदा चिंता करने की ऐसी आदत पड़ जाती है कि आवश्यकता न होने पर भी वह इससे छुटकारा नहीं पा सकता। आधुनिक

जीवन में लोग ऐच्छिक या अनैच्छिक रूप से स्नायविक तनाव के शिकार होते ही हैं और वे इतने अधिक थके होते हैं कि अधिकांशतः बिना किसी नशे आदि के सहयोग के किसी भी प्रकार के सुख भोग का सामर्थ्य उनमें नहीं होता । इसके अभाव में क्रोध तथा झुंझलाहट की प्रवृत्ति का जन्म होता है ।

अत्यधिक तनाव से अर्धविक्षिप्त-सा हो जाता है और अनिद्रा जैसे रोग का सामना करना पड़ता है तथा स्वभाव में चिड़चिड़ापन आने लगता है । आज के युग में स्नायविक तनाव का एक कारण भय भी है, चाहे वह भय सचेतन हो या अचेतन ।

पाप की भावना :

व्यक्ति में ईर्ष्या व जलन के कारण ही उसके मन की अगली स्थिति पाप की भावना होती है । पाप की भावना हीनत्व के कारण होती है । व्यक्ति स्वयं की असफलताओं को छिपाने के लिये अपनी भावनाओं का आरोपण उस दूसरे व्यक्ति पर करता हैजो कि उससे अधिक समृद्ध होता है । व्यक्ति अपनी हीनता के कारण अपना आत्म-सम्मान खो बैठता है । व्यक्ति जब दूसरे के जीवन से कुछ प्राप्त कर लेने की अपेक्षाएं रखता है और उसकी इच्छा पूरी नहीं हो पाती तब उसमें कुण्ठा का संचार होता है और कथित व्यक्ति के प्रति पाप की या बदले की भावना उत्पन्न होती है । इस स्थिति में व्यक्ति का जीवन लगातार असफल होता जाता है । "पाप और पुण्य व्यक्ति के जीवन को अव्यवस्थित करनेवाले प्रमुख तत्व हैं । इनकी गलत धारणाओं के कारण व्यक्ति लगातार अपने सुखों से वंचित होता चला जाता है तथा उसका मन चिंताग्रस्त हो जाता है ।"[195] कहावत भी रही है कि चिन्ता चिता समान है । व्यक्ति में एक बार जब पाप की भावना घर कर जाती है तो उसका जीवन नरकीय हो जाता है और दुःख के इस दलदल से वह स्वयं को उबार नहीं पाता ।

व्यक्ति अपनी इच्छाओं पर अंकुश नहीं लगा पाता । परिणामतः उनकी आपूर्ति के लिये व्यक्ति परेशान रहता है । अपने आसपास के परिवेश में किसी अन्य द्वारा उनको पूरा कर लेते हुए देखता है तो उसमें स्वयं के प्रति हीनता की भावना जन्म लेती है । उसका कार्य अपने से अधिक समृद्ध, दूसरे

व्यक्ति की बुराई करना तथा ईर्ष्या करना ही रह जाता है । "पाप की भावना स्वयं को भी नष्ट कर दे सकती है और यदि वह भावना पूर्ण हो जाए तो असहनीय हो जाती है ।"[196] पाप की भावना में व्यक्ति जितनी नीचता दूसरे के प्रति सोचता है, वह स्वयं ही उतना हीन हो जाता है । व्यक्ति के मन में उत्पन्न होनेवाले दुःख के प्रायः सभी भाव दूसरे को उतना अधिक नुकसान नहीं पहुंचाते जितना कि खुद उस व्यक्ति को स्वयं की हीन-भावना के कारण दूसरे की प्रशंसा करना उसके लिए कठिन होता है जबकि वह उसी वेग से ईर्ष्या आसानी से कर सकता है ।

पाप की भावना से आत्मग्लानि और अनुताप जैसी दुःखदायी भावनाओं का जन्म होता है । पाप की भावना की जड़ें बहुत गहरी अचेतन में होती हैं और चेतन स्तर पर लोकनिन्दा के भय के कारण उभर कर नहीं आ पातीं । पाप की भावना से उत्पन्न कार्य करते हुए व्यक्ति अपने अंतस में व्याकुलता का अनुभव तो करता है लेकिन ईर्ष्या तथा हीनता की परिपक्वता के कारण वह कार्य स्थगित नहीं कर पाता । "वस्तुतः मानव की यह प्रकृति होती है कि वह उस व्यक्ति से घृणा करे जिसने उसे कष्ट दिया है ।"[197] व्यक्ति के मन में एक अतृप्त घृणा भर जाती है हालांकि घृणा जैसी कोई बात नहीं होती बल्कि दूसरे की सफलता व समृद्धि ही उसके लिए घृणा का मूल कारण बनती है । पाप की भावना उन क्षणों में विशेष रूप से प्रकट होती है जब रोग, थकान या मद्यपान या किसी अन्य कारण से इच्छाशक्ति शिथिल हो जाती है । ऐसी हल्की-सी अवचेतनावस्था में मनुष्य का दूसरा आत्मपक्ष स्पष्ट होता है ।

पाप की भावना मन की आन्तरिक स्थिति है । यह भावना जब तक अपने क्रियात्मक स्वरूप में रूपान्तरित नहीं होती तब तक यह न तो सामाजिक हो पाती है और न ही इससे सामनेवाले व्यक्ति को कुछ नुकसान ही हो पाता है । जब तक व्यक्ति को अपनी हीन भावना की अनुभूति नहीं हो जाती तब तक उसके मन से पाप की भावना का उन्मूलन नहीं हो पाता । इस भावना के रहते व्यक्ति स्वयं को अपेक्षित समृद्धि व सुख से वंचित होकर दुःख में डूबा रहता है । समाज में कई पाप ऐसे होते हैं जिनके लिए कोई दण्ड निर्धारित नहीं है, जैसे व्यापार में धूर्तता, अधीनस्थ कर्मचारियों के साथ दुर्व्यवहार, परिवार के साथ क्रूरता का व्यवहार, राजनीतिक संघर्ष में हिंसा, धनलोभियों के अत्याचार,

मानसिक शोषण आदि ऐसे पाप या अपराध हैं जिसके द्वारा दूसरों का जीवन नरकीय हो जाता है ।

अलगाव / अकेलापन :

व्यक्ति अपने उत्थान के समय से ही गण या समूह बना कर रहता आया है । इसी अवस्था में ही समाज की कल्पना भी हुई थी । लेकिन आधुनिक युग के आते-आते जब अधिकांश सामाजिक कार्य व्यक्ति स्वयं न करके मशीन पर निर्भर होने लगा तब से व्यक्ति का व्यक्ति के साथ संपर्क लगातार कम होता चला गया। मशीनीकरण के प्रवाह में व्यक्ति को प्रागैतिहासिक समाज-व्यवस्था भी छिन्न होने लगी । आज व्यक्ति विज्ञान तथा तकनीकी के सहारे जितना अधिक समृद्ध दीखता है, अंदर से वह उतना ही अधिक समाज, परिवार तथा व्यक्ति से कटकर, अलग होकर खोखला हो गया है । इस प्रक्रिया में एक क्षण ऐसा भी आ जाता है जहाँ व्यक्ति असंख्य व्यक्तियों से घिर कर भी स्वयं को अकेला महसूस करता है । एक सीमित समय मशीनों के मध्य बिताकर अंतत: उसे एक समभावी व्यक्ति की घोर आवश्यकता महसूस होती है जिसे वह पा नहीं पाता । ऐसी स्थिति में उसका बिफरना स्वाभाविक ही है ।

भयंकर भीड़ में घिरे रहने के बावजूद व्यक्ति को कोई ऐसा परिचित नहीं मिलता जिसके साथ वह अपना कुछ समय बिता कर मानसिक शान्ति पा सके । आधुनिक जीवन की यह एक महानगरीय त्रासदी है जहाँ व्यक्ति अपने को भीड़ में अकेला महसूस करता है । "अजनबीपन के बोध की प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें रागात्मकता खण्डित होती है ।"[198] महानगरीय सभ्यता में जितना अधिक अलगाव मिलता है उतना गाँवों व कस्बों में नहीं मिलता । महानगर में यंत्र तकनीक, भीड़, अजनबीपन, यंत्रणा, संत्रास, अकेलापन, भय, व्यर्थता का अहसास, संबंधों की औपचारिकता आदि लिये व्यक्ति एक प्रकार की ऊब व अलगाव का बोध महसूस कर रहा है । इसी कारण पारिवारिक अलगाव भी बढ़ रहा है ।

अलगाव की स्थिति में व्यक्ति अलगाव के कारण के जनक का दोष न तो स्वयं को दे पाता है न ही समाज को । इसका सीधा प्रभाव समाज पर अधिक न होकर व्यक्ति पर ही होता है क्योंकि वही यह महसूस करता है कि वह समाज से अलग है या उसका समाज में कोई मूल्य नहीं है । उसका अलगाव

का यही दु:ख उसको भयंकर परिणामों की ओर ठेलते हैं । "अलगाव व्यक्तिगत व्यक्तित्व और सामाजिक संरचना की आवश्यकता एवं अवसरों के बीच व्यक्ति की दृढ़ता, स्वयं की प्रमुखता तथा प्राय: अयोग्यता को बढ़ाने या सम्बद्धता की कमी की एक अवस्था है । ऐसी अयोग्यता को "एलियेनेशन" (मार्क्स), "एनोमी" (दुर्खिम) तथा समकाल में "सामाजिक तनाव" (लुक्स, लेबिन और स्कॉच) आदि भिन्न-भिन्न नामों से जाना गया है । ये अयोग्यताएं व्यक्ति-विशेष में तनाव की एक दशा उत्पन्न करती हैं जिसके परिणाम व्यक्ति विशेष तथा सामाजिकता, दोनों को ही प्रभावित कर सकते हैं ।"[199] अलगाव का अनुभव करनेवाला व्यक्ति स्वयं तो समाज से अलग तो होता ही है और दु:खी रहता है लेकिन साथ ही अपनी पीड़ा का लक्ष्य समाज को ही बनाता है । "दुर्खिम के समय से ही तनाव व वैयक्तिकता के कारण उत्पन्न होनेवाले भयंकर परिणामों में अयोग्यता, मानसिक व शारीरिक स्वास्थ्य का पतन, असामान्य व्यवहार तथा आत्महत्या या हत्या को प्रमुख माना गया है ।"[200] इससे इस बात का स्पष्टीकरण प्राप्त होता है कि अलगाव दु:ख का एक प्रमुख कारण है तथा इससे उत्पन्न विकार व्यक्ति तथा समाज दोनों के लिये ही घातक होते हैं ।

आज विश्व-समाज को इसी बात का अधिक दु:ख है कि उसका अब कोई अस्तित्व स्थायित्व पाता दिखाई नहीं देता । समाज का बिखराव परिवार में भी पूरी सफाई से परिलक्षित होता है । परिवार टूटकर व्यक्तिगत इकाई पर जम गया है । व्यक्ति-व्यक्ति के बीच अलगाव की भावना से उत्पन्न भीड़ का अकेलापन सारे मानव-समाज में फैला हुआ है । जब एक व्यक्ति का अपने परिवार या समाज के लिए कोई जिम्मेदारी या समर्पण का भाव नहीं रह जाएगा तो व्यक्ति अपनी वैयक्तिकता में और अधिक खूंखार होता जाएगा । उस पर किसी सत्ता का अंकुश नहीं रह जाएगा । "ऐसी व्यक्तिगत अनुभूतियों की बहुलता सामाजिक विवाद जैसे अपराधों या विनाश की वृद्धि, अस्वस्थता और शारीरिक या मानसिक अव्यवस्था द्वारा उत्पन्न हुई अयोग्यता आदि उत्पन्न कर सकती है ।" समाज से कटा हुआ व्यक्ति इस प्रकार स्वयं तो दु:खी रहता ही है लेकिन अपनी मानसिकता से वह समाज को अलग नहीं कर पाता । ऐसी स्थिति में व्यक्तिगत जीवन बितानेवाला व्यक्ति, जो कि समाज से एकदम

कटा हुआ तथा उसकी गतिविधियों से दूर होता है, समाज के लिये हानिकारक होता है। व्यक्ति के सामान्य जीवन के लिये यह अति आवश्यक है कि वह समाजजनित सुख का सहभागी बने लेकिन जब वह पूरी तरह अजनबी हो जाता है तब उसका जीवन दुःखों से पूर्ण हो जाता है।

अलगाव शब्द की अवधारणा नई नहीं है। इस शब्द का प्राचीन अर्थ पागल या भ्रान्तचित्त व्यक्ति के लिए प्रयुक्त होता था। आज जिस अर्थ में इसकी व्याख्या की जाती है उससे पूर्व इसका प्रयोग व्यक्ति का स्वयं के प्रति विरह या पृथक भाव के लिये किया जाता था। प्राचीन काल में कहीं-कहीं इसका प्रयोग मूर्ति पूजा के लिये भी किया जाता था। आजकल इस शब्द का प्रयोग "चिन्ताग्रस्त मनोदशाओं अथवा असंतुलित मनोदशाओं व प्रवृत्तियों के लिए किया जाता है जो कि व्यक्ति को समाज से, पर्यावरण से तथा स्वयं अपने से उदासीन बना देती है। व्यक्ति अकेलापन, बेसहारा तथा असुरक्षित महसूस करने लगते हैं तथा सामाजिक संबंधों के जाल मे अपने आप को अलग करने का प्रयास करते हैं।"[201] अलगाव का यही मुख्य कारण है कि व्यक्ति का सहज संबंध समाज से हो नहीं पाता है और समाज उन्हें एक दुःखदायी जाल-सा अनुभूत होता है जिससे जितना जल्दी हो सके, छूट जाना चाहते हैं।

सामाजिक रूप से अलगाव में व्यक्ति चारों ओर से अजनबीपन से घिर जाता है। उसके परिवेश से उसे अपनत्व प्राप्त नहीं हो पाता। आधुनिक युग में पूंजी की आशातीत वृद्धि के साथ जिस भयंकर वाद का जन्म हुआ उसके परिणाम में अलगावी प्रवृत्ति को फलने फूलने का बड़ा लाभकारी अवसर मिला। व्यक्ति अपनी कार्य-सीमा में जब लगातार असफल होता जाता है तो वह दुःखी हो जाता है। अवसाद, संक्षोभ, दुःख के कारण वह अपनी ही वस्तुओं से कटता चला जाता है और उसकी अपनी वस्तुएं ही उसे खोखला करती जाती हैं। कार्ल मार्क्स के अनुसार "अलगाव व्यक्ति की वह दशा है जिसमें उसके अपने कार्य पराई शक्ति बन जाते हैं जो कि उसके द्वारा शासित न होकर उससे ऊंचे तथा उसके विरुद्ध हो जाते हैं।"[202] व्यक्ति की इच्छाएं तथा उसके कार्य ही जब उसके विरुद्ध हो जाते हैं तो वह अवश्य ही दुःखी होगा और जब अकेला हो जाता है तो मानसिक तौर पर अमानुषिक भी अवश्य हो सकता है।

अलगाव को मार्क्स पूँजीवादी समाज की देन मानते हैं तथा पूँजी की विनाश शक्ति की धारणा के अंतर्गत ही अलगावीकरण को व्याख्यायित करते हैं। दूसरी ओर अलगाव की नियति को आधुनिक युग की देन माननेवालों में एरिक् फ्राम प्रमुख हैं। मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक दृष्टि से आज का आधुनिक युग समाज को जो छवि प्रस्तुत करता है उस अर्थ में अलगाव अवश्यंभावी है। अव्यवस्थित समाज में व्यक्ति में पूर्णत: बिखराव दिखलाई पड़ता है। "अलगाव अनुभव का वह स्वरूप है जिसमें व्यक्ति अपने आप को पराया समझने लगता है। कहा जा सकता है कि वह अपने से अजनबी बन गया है। वह अपने आपको अपने संसार का केन्द्र तथा अपने कार्य को स्वयं करनेवाला न मानकर, अपने कार्यों तथा परिणामों को अपना स्वामी मानने लगता है जिनका वह पालन करता है तथा पूजा तक करता है।"[203] ऐसी स्थिति में व्यक्ति की अपनी कोई विशिष्ट अस्मिता नहीं रह पाती बल्कि वह स्वयं अपना दास हो जाता है। इस प्रक्रिया में वह न तो समाज से जुड़ ही पाता है न ही उसके साथ किसी प्रकार का सहयोग कर पाता है। अपनी ही वस्तु के प्रति वह पराया हो जाता है। परायेपन की यही स्थिति उसके दु:ख का मूल कारण बनती है।

आज के समाज में अलगाव की भावना मनुष्य तथा उसकी संस्कृति के लिये अभिशाप बन गई है। मनुष्य के व्यक्तित्व में विखण्डन तथा विभाजन आधुनिक जीवन की समस्या है। "अलगाव पूर्ण व्यक्ति सामान्य नहीं हो सकता क्योंकि वह अपने आप को एक वस्तु मानता है जिसका वह स्वयं अथवा अन्य व्यक्ति शोषण कर सकते हैं इसीलिये उसमें स्व का ह्रास हो जाता है। इसके कारण अत्यन्त भावुकता पैदा होती है जिसके परिणामस्वरूप वह आत्मग्लानि अनुभव करने लगता है जिसके दो कारण है। पहला हीनता की भावना तथा दूसरा "स्व" की चेतना।"[204] पहली स्थिति में व्यक्ति जितना खण्डित होता है, दूसरी स्थिति में वह उतना ही अपने को स्वयं के नज़दीक पाता है लेकिन वास्तव में वह पूर्णत: स्वयं में नहीं होता। वह अलग होकर स्व में डूबता है। उसके "स्व" की भावना ही उसे बिखरने से रोके रहती है लेकिन यह स्थिति भी व्यक्ति के दु:ख को कम नहीं कर सकती।

मानसिक अव्यवस्था :

मानव के अस्तित्व-ग्रहण के साथ आज तक उसका मस्तिष्क तथा मस्तिष्क तथा मस्तिष्क-शक्ति लगातार विकास के पथ पर है । मानवीय सभ्यता ने विकास के जिन पथों को पार करके आज विज्ञान तथा तकनीकी के जिस युग से गुज़र रहा है, उसका संपूर्ण श्रेय मन या बुद्धि की उच्च स्तरता को जाता है । कभी-कभी बाहरी या भीतरी कारणों से मन का सही उपयोग व्यक्ति हित के लिये नहीं कर पाता । इस स्थिति के दोषी जैविक कारणों को तो कुछ सीमा तक उपचार कर ठीक किया जा सकता है लेकिन मन के भीतरी मानसिक कारणों से उत्पन्न हुई मानसिक अव्यवस्था को सामान्य बनाने की प्रक्रिया कठिन तथा असंभव भी हो सकती है। मानसिक रूप से अस्वस्थ्य व्यक्ति अपने परिवार तथा समाज से सामान्य स्तर पर जुड़ नहीं पाता। साथ ही अधिकांशत: व्यक्ति की मानसिक अव्यवस्था के सही कारणों का पता न लगाकर उसके साथ उचित ढंग से बर्ताव भी नहीं किया जाता । ऐसी सामाजिक स्थिति में मानसिक रूप से अस्वस्थ व्यक्ति की मानसिक अव्यवस्था और अधिक चिन्ताजनक हो जाती है । चूँकि व्यक्ति मन की सामान्य स्थिति में नहीं होता, वह अपनी कठिनाई व व्यथा को प्रस्तुत करने में असमर्थ होता है । उसका पहला मूल दु:ख यही है कि वह मानसिक रूप से अव्यवस्थित है, दूसरा कष्ट यह होता है कि वह अपनी बात सीधे-सरल रूप में प्रस्तुत नहीं कर पाता ।

मानसिक अव्यवस्था में व्यक्ति समाज से कट कर अकेला हो जाता है। इसके अतिरिक्त आज का समाज जिस प्रकार की प्रगति कर रहा है उसमें सामाजिक इकाई संकुचित होकर अकेले व्यक्ति पर टिक गई है । इस दृष्टि से, आजकल समाज में अव्यवस्थित मन के व्यक्तियों की वृद्धि होना इसी अकेलेपन का सूचक है । "लगभग हम सभी जानते हैं कि अकेलापन क्या हो सकता है -- यानि जब किसी भावनात्मक प्रश्न से जूझने की स्थिति में महसूस की जानेवाली कुण्ठा चिन्ता तथा अव्यवस्था । ऐसी स्थिति में सामान्यत: हम अपने विश्वासपात्र व्यक्ति से बात करके समस्या का समाधान कर लेते हैं । लेकिन मानसिक रूप से बीमार व्यक्ति दुनिया ही से कटे होते हैं ।"[205] मानसिक अव्यवस्था का दु:ख मूलत: समाजजनित होता है । व्यक्ति जब समाज से या समाज जब व्यक्ति से कट जाता है तब उसका प्रभाव व्यक्ति पर ही पड़ता है । पीड़ित व्यक्ति और

जहाँ एक ओर स्वयं दु:ख झेलता हैवहीं दूसरी ओर उससे परिवार व समाज के सदस्य भी दु:खी रहते हैं। ऐसे व्यक्तियों का सामान्य व्यक्तियों के साथ सहज संबंध स्थापित नहीं हो पाता, तथा वे समाज के लिये एक अभिशाप व समस्या बन जाते हैं। मानसिक अव्यवस्था के अन्य प्रमुख कारणों में आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक आदि स्थितियाँ तथा उनकी विषमताएं हैं जिनसे व्यक्ति का मानसिक स्वरूप विकृत होता जा रहा है।

आत्मपीड़ा, परपीड़ा, आत्महत्या, मृत्युबोध :

आत्महत्या करना व्यापक जन-धारणा के अनुसार कायरता है। आत्महत्या अपने विस्तृत अर्थ में वस्तुत: कायरता ही है लेकिन यह कायरपन जितना व्यक्तिगत होता है उतनी ही मात्रा का योगदान सामाजिक भी होता है। किसी भी व्यक्ति की आत्मिक इच्छा अपने जीवन को असमय ही नष्ट करने की नहीं होती हालांकि फ्रायड,के चिन्तन के अनुसार हर व्यक्ति में जन्म से ही मृत्यु अर्थात् मरने की इच्छा रहती है। व्यक्ति के जीवन का संबंध अपने परिवेश, समाज या अन्य व्यक्ति से असंतुलित हो जाता है या बिगड़ जाता है तो उसके मन में कुण्ठा, निराशा उत्पन्न होती है जो आत्महत्या के लिये प्रेरणा बनती है। आत्महत्या करनेवाला व्यक्ति मानसिक विकार का शिकार पाया जाता है, लेकिन सामूहिक रूप से एक ही परिवार या विभिन्न व्यक्तियों के दल द्वारा भी आत्महत्या करने के समाचार भी प्राप्त होते हैं। ऐसी आत्महत्याओं को मनोविकार का कारण नहीं बताया जा सकता। "जहाँ पूरा परिवार आत्महत्या का शिकार होता है वहाँ निश्चय ही आर्थिक असुरक्षा की भावना प्रबल होती है।"[206] "आत्महत्या को मनोविकार माननेवाले वैज्ञानिकों का कहना है कि आत्महत्या का मुख्य कारण क्षणिक मानसिक असंतुलन होता है। ऐसा देखने में आया है कि आत्महत्या के अंतिम क्षणों में कई बार आत्महत्या करनेवाले बचने की कोशिश करते हैं। यह इस बात का संकेत है कि मानसिक संतुलन ठीकहो जाने पर मनुष्य फिर से सामान्य हो जाता है।"[207] आवेश में आकर व्यक्ति अपना जीवन समाप्त कर लेने का निर्णय लेता है लेकिन जब वह आत्महत्या कर रहा होता है तब उसकी बुद्धि उसे यह सोचने पर विवश करती है कि उसका निर्णय गलत है। अन्य कारण यह भी है कि स्वयं के शरीर

पर घात करने की हिम्मत तथा घातकता को सहने की शक्ति आदमी में कम पाई जाती है ।

भौतिक चक्र के अनुसार हर जीवन प्राप्त करनेवाली वस्तु का विनाश अवश्यंभावी है । व्यक्ति का मृत होना उसके जीवन की एक आवश्यक प्रक्रिया है । जो एक जीवन की व्यवस्था के अंतर्गत प्राप्त होती है । "फ्रायड का कहना है कि हर आदमी में मृत्यु गँथि अर्थात् करने की इच्छा जन्म से ही रहती है और जब भी परिवेश और समाज के साथ उसका भावनात्मक संबंध बिगड़ जाता है, वह अकेलेपन अथवा निराशा का शिकार हो जाता है । ऐसी मन:स्थिति में ही वह अपनी जिन्दगी खत्म करने की कोशिश करता है ।"[208] मरने की इच्छा व्यक्ति के अवचेतन में उसी तरह होती है जैसे जीने की इच्छा। परिवेश या समाज की असहजता व्यक्ति में एक समझदार उम्र प्राप्त करने के बाद ही नहीं आती बल्कि किसी भी उम्र में ऐसी स्थिति उत्पन्न हो सकती है जब व्यक्ति निराश हो जाता है । इतना ही नहीं व्यक्ति इसलिए भी दु:खी रह सकता है क्योंकि वह समाज से, परिवार से उपेक्षित होता है । उसे लगता है कि परिवार या आसपास के लोग उसकी उपस्थिति तथा अस्मिता को मान्यता नहीं दे रहे हैं । "अमेरिका में लॉस एंजिल्स के "आत्महत्या नियंत्रण केन्द्र" में हो रहे अनुसंधानों के आधार पर वैज्ञानिक इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि दस वर्ष से कम उम्र के बच्चों में आत्महत्या करने के ज्यादातर प्रयास बड़ों की सहायता या प्यार पाने या उनका ध्यान अपनी ओर खींचने के लिये होता है । क्योंकि बच्चे अपनी उपेक्षा किये जाने पर दु:ख का अनुभव करते हैं ।"[209]

आत्महत्या मन में उठनेवाला एक विकारी विचार हो सकता है जो कि एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है लेकिन इस विचार के पीछे स्वयं व्यक्ति की कोई आंतरिक या स्वैच्छिक अभिलाषा नहीं होती । इन विचारों का जनक व्यक्ति परिवेश ही होता है । आज पूरी दुनियाँ में प्रतिदिन लगभग एक हज़ार व्यक्ति आत्महत्या करते हैं ।"[210] यह संख्या इस बात का द्योतक है कि आज व्यक्ति का सामाजिक जीवन किस सीमा तक विखण्डित हो गया है । "जहाँ वैज्ञानिक आत्महत्या को मनोविकार की श्रेणी में रखते हैं वहीं अधिकांश व्यक्ति इसे सामाजिक विकार की संज्ञा देते हैं । आज के बदलते सामाजिक परिवेश में

में रोज़गार और सम्मानित जिन्दगी जीने के अवसर कम से कम होते जा रहे हैं। पूरा परिवेश साम्प्रदायिकता, वैमनस्य, जात-पात और प्रतिगामी मूल्यों से भरा है। पारिवारिक कलह, प्रेम में, असफलता, वैवाहिक जीवन में उथल-पुथल और आर्थिक असुरक्षा की भावना बढ़ती जा रही है। ऐसे में सामाजिक विकार आत्महत्या के लिए पूरी तरह जिम्मेदार न सही लेकिन बड़े पैमाने पर जिम्मेदार तो है ही।"211 अतः यही कि व्यक्ति के मन में जब यह भावना आएगी कि उसके जीवन का कोई मूल्य समाज के लिए रह नहीं गया है तो वह अपने को समाज से विलग मानेगा। अलगाव का यह दुःख उसे अपने जीवन की निःसारता को बताता है।

जब भी व्यक्ति समाज से उपेक्षित होकर अलग हो जाता है, वह अपने को हीन-भावना से ग्रस्त पाता है। व्यक्ति की यह मानसिक दशा ही उसके दुःख का कारण बनती है। वह स्वयं को मानसिक रूप से सामाजिक बनाने में लगातार असफल होता जाता है क्योंकि उसके मन में यह बात स्थाई रूप से बैठ जाती है कि वह उपेक्षित है। "यह देखा गया है कि आत्महत्या करनेवाले अधिकांश व्यक्ति हीन-भावना के शिकार होते हैं। इसीलिये हीन-भावना से ग्रस्त व्यक्तियों में आत्महत्या के इरादों के संकेत पढ़ने के प्रयास सदैव बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। नींद न आना, सबेरे जल्दी नींद खुल जाना, किसी काम में मन न लगना, वजन कम हो जाना, भूख न लगना, सामान्य तरीके से काम न कर पाना, सेक्स में अरुचि उत्पन्न हो जाना, बेचैनी महसूस करना और असहाय महसूस करना हीन भावना अथवा अवसाद के लक्षण हैं। अवसाद से घिरे किशोर अक्सर अधिक सक्रिय हो जाते हैं।"212 आत्महत्या ये कथित इरादों में ऐसा कोई नहीं है जिसका जन्म सुख की पृष्ठभूमि पर होता हो। चाहे वह मानसिक उत्तेजना हो या शारीरिक प्रक्रिया सभी दुःख के ही परिणाम होते हैं।

व्यक्ति में नकारात्मक सोच उसका कोई शौक या उसकी अभिरूचि नहीं होती। मानसिक अर्द्धविक्षिप्तता से व्यक्ति जब भी तिलमिला जाता है तब उसे अपने शारीरिक कष्ट का भी ध्यान नहीं रहता। उसे इस बात के लिए समय ही नहीं मिल पाता कि उसका शरीर क्या हो रहा है क्योंकि

उसकी चेतना कहीं और ही केन्द्रित हो जाती है । "भयंकर मानसिक पीड़ा हमें शारीरिक कष्ट के प्रति चेतनाशून्य करती है । हम उससे घृणा करते हैं, यदि वह दूसरे को महत्व देगी तो हमारे विचार विचलित होंगे । इसका हम अपनी मानसिक पीड़ा में एक अन्तराल के रूप में स्वागत करते हैं । यह वह अनुभूति है जो आत्महत्या को सरल करती है ।"[213]

आत्महत्या आज के समाज की एक प्रमुख समस्या बनी हुई है । मानव सभ्यता ने जिस गति से विकास किया है और आज विज्ञान तथा तकनीकी के माध्यम से क्षण के अतिसूक्ष्म कण की महत्ता को स्थापित कर रही है, लगभग उतनी ही तेज़ी से व्यक्ति में अकेलेपन की कुण्ठा तथा जीवन का निरुद्देश्य अस्तित्व भी विकसित हो रहा है । सभी प्रकार के आराम-भोगयुक्त जीवन बिताते हुए व्यक्ति सुखी नहीं है । अमानवीयता तथा अशान्ति में उसका जीवन निरर्थक होता जा रहा है । "आत्महत्या के अधिकतर कारणों में सामाजिक, राजनीतिक, मानसिक, एवं आर्थिक पहलू विद्यमान रहते हैं । भारत में अधिकतर आत्महत्याएँ पुरुष करते हैं । इसके अलावा नास्तिकों या धर्म में आस्था न रखनेवालों में यह प्रवृत्ति अधिक पाई जाती है । अध्ययनों से पता चलता है कि पन्द्रह से पच्चीस वर्ष के बीच के लोगों में यह प्रवृत्ति अधिक पाई जाती है । इसका कारण प्रेम संबंधों में धोखा, परीक्षा में असफलता, बेरोजगारी या मानसिक प्रताड़ना आदि है जबकि स्त्रियों में यह भावना ससुराल में अपमान व तिरस्कार, बच्चे का अभाव तथा सामाजिक असुरक्षा की वजह से अधिक पाई जाती है । इसके अलावा आत्महत्या के कई कारण हैं जैसे व्यापार में घाटा, नशा, जुआ, बीमारी तथा कर्ज आदि ।"[214] "वैज्ञानिक मानसिकता ने जहाँ एक तरफ व्यक्ति को आत्महत्या की तरफ प्रेरित किया है वहीं पर अनेकों स्वार्थपूर्ण अभिलाषाओं की पूर्ति के लिये आत्महत्या द्वारा आत्म-बलिदान के धार्मिक रूप को नष्ट कर डाला है । इसके बावजूद आत्महत्या एक व्यक्तिगत समस्या है जिस पर पूर्णतया अधिकार न तो समाज ही प्राप्त कर सकता है और न ही कानून या समाज सुधारक लेकिन इसे स्वयंसेवी संस्थाओं, मनोचिकित्सकों एवं शिक्षा के माध्यम से कम ज़रूर किया जा सकता है ।"[215] अतः यही कि आत्महत्या एक व्यक्तिगत मामला होते हुए भी समाज से ही

उत्पन्न होता है। समाज की प्रताड़ना समाज से हटकर व्यक्ति पर केन्द्रित हो जाती है, जिस प्रक्रिया में व्यक्ति स्वयं को समाज से निष्कासित कर लेता है। इस निराशा, कुण्ठा में जब मानसिक आवेश अधिक हो जाता है तो व्यक्ति अपना जीवन अर्थहीन मानकर उसे खत्म कर देता है।

मृत्यु से साक्षात्कार की स्थिति बड़ी विकट मानी जाती है। मनुष्य के जीवन का मूल दुःख ही उसकी मृत्यु है। "हाइडेगर ने कहा था कि जीवन-जगत् में मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जिसे आत्म-चेतन होने के नाते अपनी मृत्यु की अवश्यंभावी की पहले से जानकारी है।"[216] व्यक्ति में यह मृत्युबोध कारण-अकारण जब तीव्र हो जाता है तब वह अपने वर्तमान से कट जाता है और प्राप्त सुख को भी भोग नहीं पाता। दूसरी ओर, जब व्यक्ति अपनी अनुमानित आयु पूरी कर लेता है या फिर किसी अन्य कारण से मृत्यु के एकदम निकट पहुंच जाता है तब उसकी मानसिक चेतना में अप्रत्याशित जागृति व उत्तेजना आ जाती है। "माना जाता है कि मृत्यु के क्षण में या मृत्यु से साक्षात्कार के क्षणों में मनुष्य अपने सारे जीवन का प्रत्यावलोकन करता है। यह बात शब्दशः सच तो नहीं मानी जा सकती, लेकिन इसमें संदेह नहीं कि ऐसी स्थिति में -- या इससे तुलनीय स्थितियों में मनुष्य का जीवन-बोध अत्यन्त सघन हो जाता है। उसके दबाव में वह कुछ एक क्षणों में ही इतना "अनुभव कर लेता है" -- "भोग लेता है" -- जितना साधारण जीवन के कई वर्षों में कर पाता है।"[217] मनुष्य के बोध की यह स्थिति सुख-दुःख का समन्वित रूप प्रस्तुत करती है।

एक सामाजिक व्यक्ति जब स्वयं या समाज द्वारा नितान्त अकेला हो जाता है तब उसके मन में एक प्रकार की हीन-भावना का जन्म होता है। इस मनःस्थिति में व्यक्ति को अपने शरीर के भौतिक पक्ष की सुध नहीं रहती। इस स्थिति का प्रभाव मुख्य रूप से शरीर पर पड़ता है। व्यक्ति चाहे-अनचाहे जब अपने शरीर को कष्ट देता है तब उसे शारीरिक कष्ट तो होता है लेकिन मानसिक रूप से उसे सुख ही प्राप्त होता है क्योंकि वह मानसिक रूप से अपने शरीर से न जुड़ कर वह उस स्थिति-विशेष से जुड़ता है जिसके द्वारा वह प्रताड़ित किया गया था या जिसके द्वारा उसमें हीन-भावना आई थी।

दूसरी ओर एक कुंठित व्यक्ति आत्मपीड़ा की जगह परपीड़ा में अधिक आनंद का अनुभव करता है । जब व्यक्ति अपने अपेक्षित ध्येय में सफल नहीं हो पाता या अपने लक्ष्य को छू नहीं पाता तब उसमें अज़ीबसी कुण्ठा पैदा हो जाती है । विकार की इस परिस्थिति में व्यक्ति अपनी प्रक्रिया में बाधा डालने या अड़चन उत्पन्न करनेवाले व्यक्ति को या उस व्यक्ति जिसने उसका हक प्राप्त कर लिया है, को पीड़ा पहुंचाता है । यह मानसिकता व्यक्ति में असफलता व जलन के कारण उत्पन्न होती है । "कुण्ठित और खण्डित होकर उसके स्नायु अधिक से अधिक तेज़ और तीखी उत्तेजनाओं की माँग करते हैं -- इसी कारण उच्छृंखल या गुण्डा व्यक्ति की प्रवृत्ति यौन-विकृतियों इन्द्रीय-सुखों और पर-पीड़न में आनन्द लेने की ओर होती है । अपनी नपुंसकता के प्रति सचेत होने के कारण, यह प्राणी जीवन के बढ़ते हुए दायित्वों से उत्तरोत्तर विमुख होता जाता है जिससे उसके अन्दर सामाजिकता की नैतिक भावना मर जाती है और वह नास्तिकवाद और कटु ईर्ष्या का शिकार हो जाता है ।"[218] इस प्रकार परपीड़ा की भावना व्यक्ति में निकृष्ट कोटि की मानसिकता को प्रक्षेपित करती है जहां व्यक्ति स्वयं तो सुखी नहीं रहता और न ही दूसरे को सुख देखना चाहता है अपितु वह दूसरे को कष्ट पहुंचा कर व दुःखी देखकर स्वयं सुख का अनुभव करता है ।

1· हिन्दी विश्वकोश, सं० नगेन्द्रनाथ बसु, पृ· 269, खण्ड-24

2· नालन्दा विशाल शब्दसागर, सं० श्री नवल जी, पृ· 1458

3· "All human happiness is biological happiness"
- The Importance of Living' Lin Yutang., P.112

4. Mental pleasures are real only when they felt through the body. - ibidem - P. 122

5. " ..... there are but five ends for life love and life : truth, goodness, beauty, use and joy. A normal man lives and even worships according to his admiration for one or all of these goals : DAVID SEABURY, 'Help yourself to Happiness.' 31.

6. How it is possible for us to take pleasure in an object when this object has no kind of conexion with our life. -- SCHOPENHQUER, 'Ecssays and Apherism, P. 172.

7. Do not take the sorrows of life for what they seem to be -- they are in the truth way to greater achievements : -- SHRI AUROBINDO, Happiness and Peace, P. 13.

8. राजेन्द्र अवस्थी, कालचिन्तन, पृ·

9· कादम्बिनी, पृ· 14

10· ब्रजानन्द सहाय, विश्वदर्शन, पृ· 10

11· कामायनी का आनंदवाद, नीलमणि उपाध्याय, पृ· 87 से उद्धृत

12· - वही - पृ· 88

13· - वही - पृ· 88

14· कामायनी का आनंदवाद से उद्धृत, पृ· 90

15· भारतीय दर्शन - वाचस्पति गैरोला, पृ· 62

16· - वही - पृ· 63

17. रघुवंश, ब्रह्मशंकर मिश्र, पृ. 8

18. वाचस्पति गैरोला, भारतीय दर्शन, पृ. 121

19. कामायनी का आनंदवाद, सं उद्धृत, पृ. 91

20. हिंदी साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ, उमेश शास्त्री, पृ. 54

21. हिंदी साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ, उमेश शास्त्री, पृ. 144

22. कामायनी, जयशंकर प्रसाद, पृ. 129

23. टेढ़े-मेढ़े रास्ते - भगवतीचरण वर्मा, पृ. 100

24. मधुर स्वप्न - राहुल सांकृत्यायन
§ स्वातंत्र्योत्तर हिंदी उपन्यास साहित्य में जीवन दर्शन -
डॉ0 सुमित्रा त्यागी से उद्धरित § पृ. 175

25. The sense of touch, taste and smell, although capable no doubt of a great development", have not served in man for the purpose of intelligence so much as those of sight and hearing.
-- G. Santayana, 'The Sense of Beauty', P. 56.

26. It is natural that as they remain normally in the background of consciousness and furnish the least part of our objectified ideas, the pleasure connected with them should remain also detached, and unused for the purpose of appreciation of nature. -
IBID . P.56.

27. The most meaningful way to explain the distinction between the "mental and the 'Physical' seems to be the phenomenological one suggested implicity by Hospers : The 'physical' or 'sensory pleasures and pain are the localized bodily ones, and the 'mental' or 'nonsensory' ones are the non-localized one.
------ 'Pleasures and Pains', Rem. B.Edwards, P.44

28. Localized pleasures are those which are given phenomenologically to 'raw' experiences as being located in some definite part or region of the body, whereas non-localized pleasures do not seem to have a precise physical locus but involve a more general sense of well being. — IBID - P. 36.

29. The notion of happiness is so indefinite that although every man wishes to attain it, yet he never can say definite by and consistently what it is that he really wishes and wills. The reason of this is that all the elements which belong to the notion of happiness altogether empirical, ie., they must be borrowed from experience, and neverthelcss the idea of happiness requires a absolute whole, ...
- KANT, Fundamental Principles of the Metaphysics of Morals - Qtd. from - G.T. of Western Thoughts, P. 619.

30. An agreable quality of experience or the experiences themselves.
— A Dictionary of Philosophy - P. 162.

31. If by happiness be meant a continuity of highly pleasurable excitement, it is evident enough that this is impossible. A state of exalted pleasure lasts only moments, or in some eases, and with some intermissions, hours or days, and is occational brilliant flash of enjoyment, not its permanent and stady flame.
— MILL, Utilitarianism, II
Qtd. from G.T. of M. Thoughts, P. 622

32. "You perceive nothing but a wonderful harmony :
The delight, the divine Ananda."
Shri Aurbindo - Happiness and Peace, P. 5.

33. Divine is supreme peace. Be with the Divine and you will be in peace." - IBID - P. 30

34. The greatest of all pleasures consists in the contemplation of truth.
-- AQUINAS, Summa Theologica,
Qtd. from G.T. of W. Th - P. 290

35. We have need of pleasure, when we fed pain owing to the absence of pleasure, but when we do not feel pain, we no longer need pleasure. And for this cause we call pleasure. The beginning and end of the blessed life.
-- EPICURUS, Letter to Monoeceus
Qtd. from G.I. of W.Th., P. 288

36. It is always the first sign of love, that besides enjoying some one's presence, we remember him when he is gone, and feel pain as well as pleasure, because he is there no longer. Similarly there is an element of pleasure even in mourning and lamentation for the departed. There is grief, indeed, at his loss, but pleasure in remembering him and as it were seeing him before us in his deeds and in his life.
-- ARISTOTLE, Rhetoric
Qtd. from G.T. of Western Thoughts, P. 287

37. The Principles of pleasure are not firm and stable. They are different in all men, and they vary to such an extent in each individual that there is no man who differs more from another man than from himself at different times.
-- PASCAL, Geometrical Demonstration
Qtd. from G.T. of W.Th., P. 291.

38. पी॰वी॰काण कृत "संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास" से उद्धृत – पृ॰ 429

39. – वही – पृ॰ 430

40. हरि सिंह – "चार्वाकीय सुखवाद का समीक्षात्मक विवेचन"
दार्शनिक त्रैमासिक, पृ॰ 42

41. Tolstoy's view that happiness consists in the satisfaction of the daily needs of existence.
— Robin Barrow : 'Happiness' P. 35.

42. Happiness consists in good fortune allied to good design -
CICERO, qtd. from IBID - P. 31.

43. The best thing we can say about pleasure is to admit that it may add some spice to life. But it certainly adds nothing ready suitable.
— CICERO, De Officies,
Qtd. from IBID - P. 31.

44. Hedonism is : The doctorine that pleasure is the highest good - New I.C. Enc, P. 3032.

45. Ancient Hedonism was egoistic - Columbia Encyclopedia P. 927

46. Egoism, the doctrine that we have proof of nothing but our own existence; egoist, one who thinks and speaks too much of himself or the things as they affect himself.
Chambers Twentieth Century Dictionary - P. 414

47. Ancient hedonism expressed itself in two ways : The cruder form was that proposed by ARISTIPPUS and the early CYRENAICS, who believed that pleasure was achieved by the complete gratification of all one's sensual desires on the other hand, EPICURUS and his school, though accepting the privacy of pleasure, tended to equate it with the absence of pain and taught that it could best be attained through the rational control of one's desires.

48. The modern hedonism of the British Philosophers is universalistic in that it is conceived in a social sense - "The greatest happiness for the greatest number" - IBID, P. 3032

49. Utilitarianism, in normative ethics, a traction stemming from late 18th Century England in which an action is held to be right if it tends to promote happiness - not only that of the agent but of everyone affected by his act. Thus, utilitarianism focus upon the consequence of an act rather than upon its intrinsic nature or the motives of the agent.
ENCYCLOPAEDIA BRITTANICA , Micro - X, P. 314.

50. Utilitarianism ...., is associated with a psychological version of hedonism which holds that human actions are motivated primarily by a search for pleasure and avoidance of pain.
-- The Fontana Dict. of Mod. Thoughts - P. 279.

51. "Freedom from paid in the body and from trouble in the mind." - ENCYCLOPAEDIA BRITTANICA, MACRO -6 P. 912.

52. To be sure, friendship stems from utility, but, once born, it is desirable in itself x x x the utility sublimates itself and changes into love.
-- E. Fr. Macro, 6, 912.
E.BR. = ENCYCLOPAEDIA BRITTANICA

53. Though hedonism is usually associated with pleasures of the body, virtually all hedonists acknowledge pleasures derived from such things as fame, art, knowledge and friendship -
E. Br. MICRO, IV - 988.

54. 'Death is nothing to us, so long as we exist, death is not with us; but when death comes, then we do not exist."
E.BR. MACRO - IBID

55. "चार्वाकीय सुखवाद का समीक्षात्मक विवेचन", हरि सिंह
"दार्शनिक त्रैमासिक, पृ. 34

56. IBIDEM - 34

57. हरि सिंह, उपरिलिखित, पृ० 36

58. सिन्हा, यदुनाथ : हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी, भाग-1
पृ० 249 - "चार्वाकीय सुखवाद का समीक्षात्मक विवेचन"
हरिसिंह दार्शनिक त्रैमासिक, पृ० 36 से उद्धरित

59. Dictionary of Philosophy and Religion - W.L.Reese, P. 53.

60. एस० एस० शर्मा, प्रारंभिक समाजशास्त्र, पृ० 8

61. "By socialization is meant the process whereby and individual becomes a functioning member of the society into which he is born, that is, behaves and acts in accordance with its folk ways and more.
— SAMUEL KOENING.
एस० एस० शर्मा, प्रारंभिक समाजशास्त्र, पृ० 165 से उद्धृत

62. IBID पृ० 166 से उद्धृत

63. प्रारंभिक समाजशास्त्र, रवीन्द्रनाथ मुकर्जी, पृ० 6 से उद्धृत

65. - वही - पृ० 152

65. डा० एस० एस० माथुर, सामान्य मनोविज्ञान, पृ० 153

66. डा० वात्स्यायन, समाजशास्त्र परिचय, पृ० 41

67. एस० एस० शर्मा, प्रारंभिक समाजशास्त्र, पृ० 22 से उद्धृत

68. डा० वात्स्यायन, समाजशास्त्र परिचय, पृ० 181 से उद्धृत

69. एस० एस० शर्मा, प्रारंभिक समाजशास्त्र, पृ० 24

70. Traditional hedonists have atempted to distinguish between the 'higher pleasures8 and the 'lower pleasures food', drink and sex are standard examples of the lower pleasures, and the higher pleasures are such things as knowledge, intellectual creativity, art, aesthetic creativity and intimate personal relations such as friendship.
— Rem. B. Edwards, Pleasures and Pains, P. 31

71. चार्वाक दर्शन की शास्त्रीय समीक्षा, डा० सर्वानन्द पाठक, पृ० 45

72. काव्य शास्त्र - डा० भगीरथ मिश्र, पृ० 227

73. काल चिंतन, राजेन्द्र अवस्थी, पृ० 9

74. दिनकर, "उर्वशी की भूमिका" पृ०

75. मुक्तिबोध - एक साहित्यिक की डायरी, पृ० 6

76. A hertful thing hurts yet more if we keep it shut up, because the soul is more intent or it, but if it be allowed to escape, the soul intention is despersed as it were on outward things, so that the inward sorrow is lessened. This is why when man burdened with sorrow, make outward show of their sorrow, by tears or groans or even by words, their sorrow is assuaged.
-- AQUINAS
Qtd. from G.T. of W. Thoughts, P. 282

77. जिद्दू कृष्णमूर्ति - "जनसत्ता" दैनिक, 23.2.86

78. राजेन्द्र अवस्थी, काल चिंतन, पृ० 75

79. Will time then fail ? Surely not, if motion always exists. Is time then always different or does the same time recur ? Clearly time is, in the same way as motion is. For if one and the same motion sometimes recurs, it will be one and the same time, and if not, not. -- ARISTOTLE,
Qtd. Great Treasury of Western Thoughts, P. 1241.

80. Time .... exists not by itself, but simply from the things which happen the sense apprehends what has been done in time past, as well as what is present and what is to follow after.
-- LUCRETIUS -
Qtd. from G.T. of Western Thoughts;

81. Time is the immediate datum of Consciousness. P.1241
Qtd. from संवत्सर, स० वात्स्यायन, पृ० 69

82. - वही - पृ० 89

83. The self enjoyment of an occasion of experience is initiated by an enjoyment of the past as alive in itself and is terminated by an enjoyment of itself as alive in the future.
— A.N. WHITEHEAD, Adventures of Ideas, P. 195

84. It is always the first sign of love, that besides enjoying some one's presence, we remember him when he is gone, and feel pain as well as pleasure, because he is th there no longer. Similarly .. there is an element of pleasure even in mourning and launentation for the departed. There is grief, indeed, at his loss, but pleasure in remembering him and as it were seeing him before us in his deeds and in his life. —
ARISTOTLE, RHETORIC,
Qtd. from G.T. of Western Thoughts - P. 287

85. If an instant time be conceived which can not be divided into the smallest particles of moments, the alone is it, which may be called present which yet flies with such speed from future to past as not to be lengthened out with the least stay. For if it be, it is divided into past and future. —
DR. G.S.HERBERT, Time - A Metaphysical Study, P. 134

86. If we conceive of some point of time which cannot be divided into even the minutest parts of the moments, that is the only point that can be called present and tha that point flees at such lighting speed from being future to being past, that it has no extent of duration at all — QUGUSTINE ;
Qtd. from Great Treasury of Western Thoughts, P.1242

87. The essence of time is duration. To endure is to be temporal. Duration is always a quan tity. The very nature of duration is such that is always possible to conceive duration greater or less than any given duration." It is the quanlification which makes measurement possible. —
Dr. Herbert, G.S., Op. Cit., P. 131

88. ..... unvisible progress of the past growing into the the future — Bergson, Qtd. from, IBID., P. 135.

89. Duration of the present differs from even to event and observer to observer.
— Herbert, O. Cit. , P. 136.

90. The future belongs to the essence of present fact, and has no actuality other than the actuality of present fact. But its particulars relationships to present fact are already realised in the nature of present fact.
— A.N. WHITEHEAD, Adventures of Ideas;. P. 197.

91. The future is immanent in the present by reason of the fact that the present bears in its own essence the relationships which it will have to the future. It thereby includes in its essence the necessities to which the future most confarm. The future is there in the present, as a general fact belonging to the nature of things.
— A.N. WHITEHEAD , IBID, P. 196.

92. 'Pleasure has been thought to be a process, or a kind of activity or to be essentially connected with attention or desire.'
— A Dictionary of Philosophy, P.

93. आचार्य शुक्ल प्रतिनिधि निबंध, [सं0] सुधाकर पाण्डेय, पृ. 15

94. - वही - पृ. 15

95. - वही - पृ. 20

96. - वही - पृ. 17

97. - वही - पृ. 18

98. - वही - पृ. 21

99. सामाजिक मनोविज्ञान, माथुर, पृ. 75

100. - वही - पृ. 76

101. "Emmotions are deriving forcer serving intelligence variable behaviour just as the automatic instinctive response serve the need of stereotyped behaviour."
-- Thoules, qtd. from
P. 76.

102. The emotions are all those feelings that so change men as to affect their judgements, and that are also attended by pain and pleasure.
-- ARISTOTLE, RHETORIC, Qtd. from Great Treasury of Western Thoughts, P. 258

103. The sense of beauty has a more important place in life than aesthetic theory has ever taken in philosophy.
-- George Santayana, The Sense of Beauty, P. 13

104. ..... nor does man select his dwelling, his cloths, or his companions without reference to their effect on his aesthetic sense.
-- George Santyaana, OP. CIT., P. 13

105. Things are interesting because we care about them, and important because we need them.
-- Santayana, OP. CIT., P. 14

106. These must therefore be in our nature a very radical and wide-spread tendency to observe beauty, and to value it.
-- Santayana, OP. CIT., P. 13

107. Unhappiness is unadjustment- David Seabury, Help yourself to Happiness, P. 63.

108. Life is full of negatives, yet there is much active goodness with which one may co-operate."
-- David Seabury, Help yourself to Happiness, P. 65

109; Evil is ignorant action against life. Sin is absence of right aim.
-- David Seabury, Help Yourself to Happiness, P. 146

110. Variety is the soul of pleasure."
— APHRA BEHN, qtd. in 'Violets and Vinegar, P.78.

111. गोर्की, "व्यक्तित्व का विघटन" पृ॰ 246

112. सुरेन्द्रनाथ त्रिपाठी, प्रतिभा और सर्जनात्मकता, पृ॰ 26

113. स्पिनोजा, नीति, पृ॰ 157, परामर्श, दिस॰ 1982, पृ॰ 80 से उद्धृत

114. रामचन्द्र शुक्ल, चिन्तामणि-1, पृ॰ 69,
दिस0 81, पृ॰ 81 से उद्धृत

115. - वही - पृ॰ 81

116. .... all love is love of beauty, its perfect form being the love of the abstract.
Qtd. from Dictionary of Philosophy & Religion, P.316

117. The source of inspiration for the search in life for beauty and the good. - Qtd. from DICT. OF PHILOSOPHY, P. 79.

118. The creative and binding force in the universe.
Qtd. from DITCRONARY OF PHILOSOPHY, P. 79

119. The passionate attachment to (or enthusiasm toward) another, or which is created in another.
Qtd. from IBID, P. 79.

120. वाचस्पत्यकोश, पृ॰ 4540

121. .... those who wish well to their friends for their sake are most truely friends; for they do this by reason of their own nature and not incidentally, therefore their friendship lasts as long as they are good and goodness is an enduring thing.
— ARISTOTLE, Great Treasury of Westorn Thoughts, P. 237

122. Friends and I mean real friends - reserve nothing; the property of one belongs to the other.
— EURIPIDES, Qtd. from Great Treasury of Western Thoughts, P. 237.

123. Greater love hath no man than this, that a man lay down his life for his friend.
— JOHN, Qtd. from IBID, P. 239.

124. It is impossible for an effect to be stronger than its cause. Now every hatred arises from some love as its cause ..... Therefore it is impossible absolutely for hatred to be stronger than love.
-- AQUINAS, Qtd. from G.T. of W.Thoughts. P.214.

125. ..... hatred sometimes seems to be stronger than love, for two reasons. First, because hatred is more keenly felt than love.... Secondly, because comparison is made between a hatred and a love which do not correspond to one another.
-- AQUINAS , Qtd. from IBID, P. 214.

126. Love is nothing but joy accompanied with the idea of an external cause and HATRED is nothing but sorrow with the accompanying idea of an external cause.
-- SPINOZA, Ethics,
Qtd. from Great Treasury of West Thoughts, P.217.

127. Hatred is acquired as much by good works as by bad ones.
-- MACHIAVELLI, Prince, Qtd. from IBID, P. 215

128. We see too that he who loves a thing necessarily endeavours to keep it before him and to preserve it, and on the other hand, he who hates a thing necessarily endeavours to remove and destroy it.
-- SPINOZA, Ethics, Qtd. from Great Treasury of Western Thoughts, P. 217.

129. Benefits received are delight to us as long as we think we can required them, when that possibility is far exceeded, they are rapid with hatred instead of gratitude.
-- TACITUS, Annals, Qtd. from IBID, P. 214.

130. हिंदी विश्वकोश, खण्ड-2, पृ० 525

131. दिनकर, उर्वशी की भूमिका - पृ०

132. हिंदी विश्वकोश, पृ० 525

133. दिनकर, उर्वशी की भूमिका, पृ०

134. हिंदी विश्वकोश, खण्ड-2, पृ० 525

135. देवल शाल्टे, नये उपन्यासों में प्रयोग, पृ० 43

136. दिनकर, विवाह की मुसीबतें, पृ० 30

137. Marriage results from the free surrender by both sexes of their personality - a personality in every possible way unique in each of the parties. Since the very conception of marriage is that is a freely undertaken ethical transaction, not a tie directly grounded in the physical organism and its desires, it follows that the marriage of blood-relations runs counter to this conception and so also to genuine natural feeling.
— HEGEL, Philosophy of Right,
Qtd. from G.T. of Western Thoughts, P. 188

138. It is ..... posible for a civilized man and women to be happy in marriage, although if this is to be the case a number of conditions must be fulfilled. There must be a feeling of complete equality on both sides; there must be no interference with mutual freedom; there must be the most complete physical and mental intimacy; and there must be a certain similarity in regard to standards of values. (It is fatal, for example, if one values only money while the other values only good work.) given all these conditions, I ~~kx~~ believe marriage to be the best and most important relation that can exist between two human being.
— RUSSEL, Marriage & Moral, Qtd. from G.T.W.T. P.191

139. If it has not often been realized hitherto, that is chiefly because husband and wife have regarded themselves as each other's policeman. If marriage is to achieve its possibilities, husbands and wives must learn to understand that whatever the law may say, in their private lives they must be free.
-- RUSSEL, Marriage & Morals.
Qtd. from Great Treasury of Western Thoughts, P.191.

140. It is a much greater shock to modesty to go to bed with a man one has only seen twice, after half a dozen words mumbled in Latin by a priest, than to yield in spite of one's self to a man whom one has adored for two years.
-- STENDHAL, Qtd. IBID, P. 188.

141. Love and Marriage are two intentions that go by separate and distinct roads. A woman may give herself to a man whom she would not at all want to have married, ... few men have married their mistress who have not repented it.
-- MONTAIGNE, Qtd. IBID, P.180

142. A good marriage, if such there be, tries to reproduce these of friendship. It is a sweet association in life, full of constancy, truth, andan infinite number of useful and solid services and mutual obligations.
-- MONTAIGNE
Qtd. from Great Treasury of Western Thoghts, P.180

143. A women must not resist a husband in anger, by deed or even by word..... From the day they (hear) the matrimonial contract read to then they should regarded it as an instrument by which they became servants; and from that time they should be mindful of their condition and not set themselves up against their masters.
-- AUGUSTINE; Qtd. from Great Tr. of W.Th. P.177

144. It must be recognized, however, that an addiction may be a risky but time-delimilated project during several years - NOT a career for lite, though social pressures and the need for the identity, of a 'Junkie' or 'alcoholic, for want of any other identity, may convert a temporary voyage into a life-long exodus from life.
— DAVID COOPER, Grammer of Living, P. 137.

145. There is needed a human context : good people whome one trusts and who do not have to act out their personal problematics against one as one withdraws from heroin, alcohol etc.
— DAVID COOPER, Grammer of Living, P.137.

146. रसेल, सुख की साधना, पृ॰ 98

147. Hard drugs like alcohol, when their use becomes addictive, may in fact, FOR A TIME at certain time in one's life, be a necessary chemical destructring that is a prelude to a radical restructuring of one's life. But it is perilous path, and is not to be recommended.
— GRAMMER OF LIVING, David Cooper, P. 137.

148. The great art of living easy and happy in society is to study proper behaviour, and even with our most intimate friends to observe politeness, otherwise we will insenisibly treat each other with a degree of rudeness, and each will find himself despised in some measure by the others.
— BOSWELL, Qtd. from G.T. of W.Thoughts, P.564

149. Custom ..... is the great guide of human life. It is that principle alone which renders our experience useful to us, and makes us expect, for the future, a similar train of events with those which have appeared in the past.
— HUME, Qtd. from G.T. of W. Thoughts, P. 563.

150. The modern treatment of dreams stresses the relation of dreaming to the powers of the imagination.
-- FREUD, G.T. of W. Thoughts : P. 357.

151. Frued's interpretation of dreams as an expression of the unconscious, revealing to the interpreter wishes, emotions or tendencies of which the dreamer was himself unaware.
-- GREAT TREASURY OF WESTERN THOUGHTS : P.351.

152. It is a perfectly valid psychic phenomenon, actually a wish fulfilment .....
-- FREUD, Qtd. IBID. P. 357.

153. The investigation of day-dreams might realy have afforded the shortest and the best approach to the understanding of noctural dreams, Like dreams they are wish-fulfilments; like dreams, they are largely based upon the impressions of childish experiences; like dreams they obtain a certain indulgence from the censorship in respect of their creations. If we trace their formation, we become aware how the wish-motives which has been operative in their production has taken the material of which they are built, mixed in together, searranged it, and fitted it together into a new whole.'
-- FREUD, Qtd. OP. CIT. P. 358

154. शम्भुनाथ - मिथक और आधुनिक कविता, पृ. 53

155. Day-dreaming or fantasy is nothing but the imagination at work under more or less conscious control or with some directive purpose .... but dreams, during sleep or in the process of awakening, menifest no such control or direction.

P.

156. रमेश कुंतल मेघ, मिथक और स्वप्न, पृ० 214

157. 'Religion gives meaning to life'
— HILDER BRUND, Finding Real Happines, P.40.

158. Evidences of religion attitudes and loyalties exists in every sector of human life -- in human experience in general; in 'culture' the complex interweaving of attitudes, concerns and views; and in history, the record of social and personal behaviour.
— ENCYCLOPAEDIA BRITANICA, Vol. P. 592.

159. Religion impels man to purpue for happiness instead of to strive for pleasures. It also provides foundations for our ideal family, ideal society and ideal nation.
— INDIAN PHILOSOPHICAL QUARTERLY, Vol. VII, P. 65.

160. Religion is man's faith in a power beyond himself whereby he seeks to satisfy emotional needs and gains stability of life and which he expresses in acts of worship and service.
— GALLOWAY, Qtd. from Encyclopaedia of Religion and Ethics, Vol. 10, P. 663.

161. The Devine is supreme peace. Be with the Divine and you will be in peace.
— SHRI AUROBINDO, Happiness and Peace, P. 30.

162. हिंदी विश्वकोश, खण्ड-6, पृ० 167

163. Religion is 'the belief in spiritual being.
— E.B.TYLOR, Qtd. from Encyclopaedia of Religion andEthics. P. 663.

164. The term 'religion' whatever its best definition, clearly refers to certain characteristic types of data (beliefs, practices, feelings, moods, attitudes etc.)
— Encyclopaedia of Religion and Ethics, P. 663.

165. हिन्दी विश्वकोश, खण्ड-6, पृ० 168

166. 'A religion is a unified system of beliefs and practices relative to sacred things, that is to say, things sets apart and forbidden - beliefs and practices which unite into one single moral community called a church, and all these who adhere to them.
— DURKHEIM, Encyclopaedia of Rel. and Ethics, P.663.

167. The religious person tends to show a concern of values, moral and aesthetic, and to seek appropriate action to embody these values.
— ENCYCLOPAEDIA BRITANICA, Vol.   P. 592.

168. हिंदी विश्वकोश, खण्ड-6, पृ. 168-169

169. डॉ0 रेवतीरमण पाण्डेय, "दार्शनिक त्रैमासिक, जुलाई-अक्तूबर, 1983 पृ.76

170. हिंदी विश्वकोश, खण्ड-2, पृ. 526

171. - वही -,   पृ. 526

172. डॉ0रेवतीरमण पाण्डेय,"दार्शनिक त्रैमासिक,   पृ.76

173. हिंदी विश्वकोश, खण्ड-दो, पृ. 526

174. हिंदी विश्वकोश, खण्ड-दो, पृ. 525

175. - वही -

176. - वही -   खण्ड-9, पृ. 421

177. - वही -   पृ. 422

178. - वही -   पृ. 422

179. रवीन्द्रनाथ के निबन्ध, भाग-1, अनु0 विश्वनाथ नरवणे, पृ.162

180. रतन कुमार जैन, प्रेम संसार, पृ. 22

181. - वही -   पृ. 26

182. The true life should neither seek for pleasures, nor, on the other hand, entirely avoid pains, but should embrace the middle state.
— PLATO, Laws, VII,
Qtd. from Great Treasury of Western Thoughts, P.287

183. कादम्बिनी, पृ. 21

184. डॉ0 रतन कुमार जैन, प्रेम संसार, पृ. 22

185. ब्रजानन्द सहाय, विश्व दर्शन, पृ. 9-10

186. Gladness relax tension -
Hilderbrand, Findind Red Happiness', P.177

187. A hurtful thing hurts yet more if we keep it shut-up, because the soul is more intent on it; but if it be allowed to escape, the intention is despersed as it were on outward things, so that the inward sorrow is lessened.
— AQUINAS - Qtd. from G.T. of W.Thoughts, P. 282.

188. Unfortunately, the poor man suffers much less from from poverty than the community does, just as a man who nver washes his cloths is unbearable to his neighbour though quite tolerable to himself.
— SHAW, Qtd. from G.T. of W.Thoughts, P. 812.

189. Why do we, in fact, almost all of us, desire to increase our incomes ? It may seem, at first sight, as though material goods were what we desire. But, in fact, we desire these mainly in order to impress our neighbours. x x x One of the most powerful of all our passions is the desire to be admired and respected. As things stand, admiration and respect are given to the man who seems to be rich. This is the chief reason why people wish to be rich.
— RUSSEL - Qtd. from G.T. of W. Thoughts, P. 812.

190. रवीन्द्रनाथ मुकर्जी - प्रारंभिक समाज शास्त्र, पृ॰ 5

191. In the prospect of poverty there is nothing but gloom and meloncholy; the mind and the body suffer together; its miseries bring no alleviations; it is a state in which every virtue is obscured, and in which no conduct can avoid reproach; a state in which cheerfullness is insensibility, and dejection sullenness of which the hardships are without honour, and the labours without reward.
— JOHNSON,
Qtd. from G.T. of W. Thoughts, P. 802.

192. Poverty is a great enemy to human happiness; it certainly destroys liberty, and it makes some virtues impracticable, and other extremely difficult.
— JOHNSON
Qtd. from G.T. of W. Thoughts, P. 803.

193. "State of organism resulting when the satisfaction of motivated behaviour is rendered difficult or impossible."
N.L. MUNN, 1964.
आधुनिक सामान्य मनोविज्ञान, डा0 प्रीति वर्मा, पृ॰437 से उद्धृत

194. डा0हरद्वारी लाल शर्मा, मानसिक स्वास्थ्य, मधु प्रकाशन, इलाहाबाद, 1983, पृ॰ 139-140

195. Ignorance of good and evil is the most upsetting factor of human life. Because of mistaken ideas on those two matters, we are frequently deprived for our greatest pleasures, and our minds are overcome with anxiety.
— CICERO - Qtd. from G.T. of W. Thoughts, P. 588

196. Evil destroys even itself, and if it is complete becomes unbearable.
— ARISTOTLE, Ethics.
Qtd. from G.T. of Western Thoughts, P. 588

197. It is indeed human nature to hate the man whom you have injured.
— TACITUS - Qtd. from IBID, P. 214.

198. डा० श्याम सुंदर घोष, नक्लेखन : समस्याएं एवं संदर्भ, पृ० 43

199. A state of persistent, consequential, and after increasing incongruence or lack of fit between individual personality and the apportunities and requirements of the social structure comes to exist. Such incongruities have been variously termed ALIENATION by Marx, ANOMIE by Durkheim and more recently SOCIAL STRESS (o f Lukes 1967; Levine and Scotch 1970). ~~xxxxx~~, These incogruities produce a state of tension on individuals, the consequences of which may affect both the individual and the social order.
— JAMES S. HOUSE, 'Social Structure and Personality' in Social Psychology, ed. Morris Resenberg. P.557.

200. Work on stress and anomie, atleast since the time of Durkhein, has tended to emphasize the deleterious individual consequences of such states of incongruity, including decreased physical and mental health (House 1974; Levine and Scotch 1970), deviant behaviour, and suicide or homicide.
— JAMES S. HOUSE, ' Social Structure and Personality' in Social Psychology, ed. Morris Rosenberg. P.557.

The aggregation of a series of such individual responses can constitute a social problem - high rates of crime or of morality, morbidity and/ or disability from mental or physical disarders.
— JAMES S. HOUSE, OP. CIT. P. 557.

201. धर्मवीर महाजन, समकालीन समाजशास्त्रीय अवधारणाएं, पृ॰ 77

202. Alienation is called that condition of man where his own act becomes to him an xxxxxx alien power, standing over and against him, instead of being ruled by him.
— MARX, Qtd. from
समकालीन समाजशास्त्रीय अवधारणाएं, धर्मवीर महाजन, पृ॰ 77

203. By alienation is meant a mode of experience in which the person experiences himself as an alien. He has become, one might say , estranged from himself. He does not experience himself as centre of his world, as the creator of his own acts but his acts and their cons equences have become his masters, whom he obeys, or whom he may even worship.
— ERICH FROMM, The Same Society, P. 120.

धर्मवीर महाजन, उपरिलिखित पृ॰ 78 से उद्धृत

204. धर्मवीर महाजन, - वही - पृ॰ 89

205. Most of us know what it is to be lonely, to feel anxious and isolated when we have an emmotional problem to contend with. Usually, however, we are able to talk out our problems with someone we can trust. But the mentally ill are cut off from the world.
— HEALTH AND ECONOMICS, ed. Charles Bricker Mark Hendy.

206. बीमार समाज का संकेत है आत्महत्याएं -
डॉ० विजय श्रीवास्तव "जनसत्ता" दैनिक - 23·11·1986

207. - वही -

208. जनसत्ता, डॉ0 विजय श्रीवास्तव

209. - वही -

210. धर्मयुग, पृ० 58

211. डॉ0 विजय श्रीविस्तव, "जनसत्ता" दैनिक

212. - वही -

213. However, ... great mental suffering makes us insensible to bodily pain, we despise it, nay, if it should outweight the other, it distracts our thoughts and we welcome it as a pause in mental suffering. It is this feeling that makes suicide easy ..
-- SCHOPENHAUER -
Qtd. in The Savage God, A Study of Suicide, A.ALVAREL, P. 161.

214. आर०के०श्रीवास्तव, "वे सजा नहीं प्यार के हकदार हैं" जनसत्ता, 23 नवंबर, 1986

215. आर०के श्रीवास्तव, "जनसत्ता", दैनिक

216. स0 वात्स्यायन, संवत्सर, पृ० 71 से उद्धृत

217. - वही - पृ० 75

218. मैक्सिम गोर्की, व्यक्तित्व का विघटन, पृ० 28-29

वर्गीकृत सुख और आलोच्य उपन्यास :

प्रस्तावना :

हालांकि व्यक्ति समाज की एक इकाई होता है फिर भी वह अपने स्वायत्त हेतु कहीं न कहीं अन्तर्मुखी भी अवश्य होता है । व्यक्ति और समाज का परस्पर संबंध अकाट्य है लेकिन जीवन के स्तर समान न होने के कारण व्यक्ति में आत्मप्रवृत्ति आ ही जाती है । व्यक्ति समाज में रहकर समाज से सहयोग प्राप्त करने के बावजूद अपने सुखों का निर्धारण स्वयं करता है । कभी-कभी यह व्यक्तिवादिता सामाजिक प्रतिबंधों तथा नियमों को भी तोड़ती है । व्यक्ति ऐसा इसीलिये करता है कि उसे समाज से कोई लाभ नहीं दिखाई देता । वह समाज को एक जेल समझता है और अपने ही लाभ तथा सुखी जीवन के लिये समाज विरोधी कार्य भी करने से नहीं हिचकिचाता । व्यक्ति सामान्यतः वही कार्य करता है जिसमें उसकी भलाई एवं सुख निहित होता है ।

चूँकि व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी है, वह कितना भी व्यक्तिगत जीवन बिताए, उसका समाज से पूर्णतः अलग हो जाना एक अंश तक असंभव है । व्यक्ति अपनी कई इच्छाओं, कार्यविधियों एवं प्रक्रियाओं के लिए समाज पर निर्भर होता ही है । ऐसी स्थिति में उसका भी यह कर्तव्य हो जाता है कि वह अपना कुछ न कुछ योगदान सामाजिक इकाई की हैसियत से समाज को दे । पूरे समाज के

सुख के लिये व्यक्ति को अपना आत्म भी कुछ सीमा तक गंवाना पड़ता है क्योंकि वह अपना त्याग अकेले के लिये न करके एक समूह के लिये करता है। ऐसे ही योगदानों का समूह सामाजिक सुख में रूपान्तरित होता है। सामाजिक सुख के लिए व्यक्ति को अपने जीवन में बहुत कुछ घाटा भी सहना पड़ता है। लेकिन इस प्रक्रिया में व्यक्ति को भी एक प्रकार के आत्मिक आनंद की अनुभूति होती है और साथ ही समाज की भलाई भी।

सुख की अनुभूति व्यक्ति को मूलत: मन:स्तर पर ही होती है। वस्तुत: जिस स्थिति का नाम भारतीय दर्शन में "आनंद" दिया गया है वह परम तथा अभौतिक स्तर पर अनुभूत किये गये वे सुखद क्षण हैं जिनकी तुलना समाधि-सुख से की गई। सूक्ष्म सुख का माध्यम वैसे तो इन्द्रियां ही बनती हैं लेकिन इन्द्रियों से मन तक पहुंचने की प्रक्रिया को पार करने के बाद ब्रह्मकमल को जागृत करने की स्थिति सूक्ष्म सुख मानी जा सकती है। पूरे शरीर के संचालन में योग देनेवाली पांचों इन्द्रियां भिन्न-भिन्न तरीकों से शरीरेतर वस्तुओं से सुख की अनुभूति प्राप्त करती है। इन्द्रियों से प्राप्त सुख वस्तु के संपर्क तक ही स्थूल बना रहता है। उसके बाद उस सुख का मनोभावनाओं के साथ संयोग होने पर वही स्थूल सुख सूक्ष्म सुख कहलाता है और इसी का परिष्करण आनंद बन जाता है। स्थूल सुख में स्थायित्व नहीं होता, इसके लिये मात्र भौतिक संरचनाएं ही सुख का क्षणिक माध्यम बनती हैं जबकि इनकी सूक्ष्मतम अनुभूति सदा के लिये मन में छवि कर जाती है। भौतिक जगत् में, जहां पर क्षण का महत्व व्यक्ति के जीवन से अधिक बढ़ गया है, वहां सुख के माध्यम स्थूल से अधिक ऊपर नहीं उठ पाते। व्यक्ति अपने जीवन की ऊहापोह में इतना अधिक गुम्फित होकर जकड़ गया है कि उसके बाद समाधि के स्तर के सूक्ष्म सुख के तत्वों को प्राप्त करने की लालसा तक नहीं होती। व्यक्ति की ऐसी ही मन:स्थितियां स्थूल सुख से एक कदम आगे बढ़कर पाशविक सुख में रूपान्तरित होने लगती है।

व्यक्ति में जैसे-जैसे आधुनिकता बढ़ने लगी है उसमें वैसे-वैसे पाशविकता भी दिखाई देने लगती है। औद्योगीकृत एवं मशीनीकृत जीवन का ही परिणाम यह है कि व्यक्ति सुख प्राप्त करने के अपने परम्परागत नियमों को तोड़कर क्षणिक सुख की वृत्तियों में उलझ जाता है। ऐसी पाशविकता जहां एक ओर व्यक्ति को

क्षणिक, स्थूल सुखप्रदान करती है वहीं उसे अपने माध्यमों से दूर भी करती है।

इस प्रकार व्यक्ति जिस पाशविक सुख की अपेक्षा करता है । वह उसकी मानसिकता का द्योतक तो होते ही हैं साथ ही उसके कारकों के रूप में व्यक्ति के अपने परिवेश तथा समाज की मानसिकता को भी दर्शाते हैं ।

विभिन्न प्रकार से वर्गीकृत इन्हीं सुखों को आलोच्य उपन्यासों के पात्रों में विश्लेषणात्मक दृष्टि से देखने तथा विवेचित करने का प्रयास आगे किया गया है ।

वैयक्तिक सुख एवं सामाजिक सुख

वैयक्तिक सुख :

जैसे-जैसे मानवीय सभ्यता विज्ञान एवं तकनीकी के सम्पर्क में आती गई, उसके व्यक्ति का अस्तित्व-बोध लगातार बढ़ता गया । भारत की परंपरागत समाज व्यवस्था की कोई उपादेयता इस मायने में शेष नहीं रह गई कि पारिवारिक झुण्ड को साथ रखकर विकास के इस युग में जीवनयापन एक कष्टकर कार्य हो गया है । इसी संदर्भ में व्यक्तिगत सुख को ध्यान में रखकर ही आज व्यक्ति अपने अकेले का समाज निर्मित करने का प्रयत्न करता है । "परम्पराओं के विरोध में युवा-मानस अधिक सक्रिय रहा है । युवा समाज में व्यक्तिवादी स्वच्छंद जीवन आकर्षण का केन्द्र बन चुका है ।"[1] अपने जीवन को व्यक्तिवादी ढंग से सोचना तथा स्वयं के कल्याण हेतु कार्य करने की व्यक्तिवादी सुख की प्रवृत्ति सातवें दशक के उपन्यासों में प्रमुख रूप से प्राप्त होती है । व्यक्तिवादी सुखाकांक्षी पात्र नगरीय या महानगरीय परिवेशगत उपन्यासों में अधिक मिलते हैं । इन पात्रों की अधिकतर धारणाएं समाज-विरोधी नहीं बल्कि रूढ़ियों के खिलाफ होती हैं । समाज में अपना पृथक अस्तित्व स्थापित करना और पृथकता में ही सुख पाना इनकी मूल आकांक्षा होती है । इसी पृथकता या विशिष्टता की तलाश में ये अपना अस्तित्व खोजते हैं ।

समाज में स्थापित मान्यताओं को तोड़कर कुछ नया कार्य कर दिखाने

की आकांक्षा भी वस्तुत: व्यक्तिवादी पात्रों में प्रमुख रूप से मिलती है । अहं और बौद्धिकता इनके विशेष लक्षण होते हैं जिसकी अतिशयता में भावना का लोप हो जाता है । जहां समरसता नहीं हो पाती वहां भावुकता की अतिशयता भी भटकाव का कारण बनती है और सुख पाने की होड़ में ऐसे पात्र दिशाहीन हो जाते हैं । इसकी सफल अभिव्यक्ति "रेखा" उपन्यास में हुई है । नायिका रेखा शराब और पार्टियों में डूबकर सुख पाना चाहती है और कहती है -- "मैं अपने उत्तम में नहीं हूं, और इस अपने आपे को खोने के लिये ही तो मैं पार्टियों में जाती हूं, दुनिया की हंसी-खुशी के पीछे दीवानी-सी दौड़ती हूं"[2] दिन-प्रतिदिन उसका दीवानापन बढ़ता ही जाता हैजो उपन्यास में आगे चलकर आधुनिकता के पीछे भटकनेवाली एक अतृप्त नारी का चित्र प्रस्तुत होता है । "उसम्शहर" उपन्यास में नीरा माँ को उसके प्रेमी आमूल के साथ घर पर देखती है तो उन्हें अकेला छोड़कर बाहर निकल जाने के सिवाय उसके पास कोई दूसरा रास्ता नहीं होता । माँ की खुशी के लिये बेटी रास्ते से हट जाती है । यह उसकी व्यक्तिगत उदारता है जो उसे उबा देती है । नीरा सोचती है -- ".. यदि माँ खुशामदी की भावना से त्रसित है तो कोई दूसरे तरीके क्यों नहीं अख्तियार करती ।"[3]दूसरी तरफ आमूल एक बीमार मानसिकता का व्यक्तिवादी पात्र है। पत्नी से तलाक के बाद भी वह यही समझता है कि उसने विवाह पत्नी के लिए किया था अपने लिये नहीं । "आमूल भी अपनी आदत से बीमार है । शुरू से ही उसे कुछ और नहीं केवल अच्छी औरतों की आदत थी रात भर वह उनके साथ पिघलता रहता और सुबह होते ही उन्हें छोड़ने के लिये घर से बाहर तक जाता । लूपिका को इस बात का भी एहसास था कि उसे बाज़ारू औरतों से नफरत थी और वह अपने पसंद का चुनाव भी बड़े इत्मिनान से किया करता था ।"[4]

अपने व्यक्तिगत सुख के लिये व्यक्ति अमानुषिक व्यवहार भी करता है। किसी फूहड़ औरत के साथ शादी तो कर लेता है लेकिन बाद में प्रेयसी रखते नहीं चूकता । मायके से लौटी पत्नी को देखकर खुश होने के बजाय "चौदह फेरे" का नायक झल्ला उठता है " ... मुझे अक्सर दौरे पर बाहर रहना पड़ता है, रात आधी रात मेरे कमरे में दसियों तरह के मिलनेवाले आते रहते हैं तुम्हें इसी कमरे में रहना होगा, मेरे किसी काम में तुम दखल नहीं दे सकोगी । अगर इस समझौते के लिये तुम तैयार हो तो शौक से रहो ।"[5] अपने व्यक्तिगत सुखों

में पत्नी का अड़चन बनना कर्नल को स्वीकार नहीं तथा दूसरी ओर उसकी पुत्री अहल्या को पिता द्वारा निर्धारित व्यवस्थित विवाह स्वीकार नहीं । वह व्यक्तिगत सुख के लिये सामाजिक मान्यता का विरोध करती है । " ... पहाड़ आकर पापा ने उसे भी पहाड़ की भेड़-बकरियाँ ही समझ लिया । जहाँ चाहे हांक दिया - देख लेंगी वह भी ।"[6] इसी प्रतिक्रिया में शादी के दिन वह घर से भाग जाती है । भारतीय समाज में व्यक्तिगत सुखाकांक्षी व्यक्तियों को बहुत संघर्ष करना पड़ता है । समाज और परंपराओं के दबाव को तोड़ने के लिये साहस और अटल विश्वास की ज़रूरत होती है ।

"रेखा" उपन्यास की नायिका रेखा प्रोफेसर से प्रेम-विवाह करके भी स्वयं को अधूरा महसूस करती है और पूर्णता की तलाश में अन्य पुरूषों के साथ भटकती है । सोमेश्वर के साथ संबंध स्थापित करती है और कहती है, "जब तक तुम यहां हो, मैं रोज इसी समय तुम्हारे यहाँ आया करूंगी । शाम को तुम्हें मेरे यहाँ आने की कोई आवश्यकता नहीं है ।"[7] लेकिन वह यह भी नहीं चाहती कि अन्य लोग या उसका पति प्रोफेसर इस बात को जाने । भगवतीचरण वर्मा के "रेखा" की रेखा अपने दाम्पत्य जीवन में काम-अतृप्ति के कारण अत्यंत विह्वल तथा निराश होकर अन्य पुरूषों के साथ बेझिझक यौन-व्यापार के लिये सम्पर्क करती रहती है । सामाजिक दृष्टि से इन्हें भले ही उच्छृंखल कहा जाए परन्तु मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उसकी कृतियों का समर्थन ही किया जाएगा ।"[8] अत: रेखा स्वयं तो सुख चाहती है लेकिन साथ ही समाज से भी डरती है । दूसरी ओर प्रभाशंकर की विवाह-पूर्व प्रेमिका देवकी प्रेम भी चाहती है और प्रभाशंकर से अपने पति के प्रमोशन की भी बात करती है । सातवें दशक के उपन्यासों के अधिकतर पात्रों पर सामाजिकता का डर छाया हुआ है जिनमें से एक देवकी भी है । प्रोफेसर के प्रति उसके विचार हैं -- "तुम कितने अच्छे हो । मैं चाहती हूं कि तुम्हारे साथ ही रहूं उस खूसट को छोड़कर, लेकिन यह असंभव है, आखिर दुनियावालों का भी तो खयाल रखना पड़ता है । वैसे मैं हमेशा-हमेशा तुम्हारी हूं और तुम तो मेरे सब कुछ हो ।"[9] प्रोफेसर और देवकी का संबंध रिश्ते की ईमानदारी में नहीं बल्कि आर्थिक आधार पर टिका है । उनके बीच व्यक्तिगत प्रेम एक बहाना मात्र बन गया है ।

अपने व्यक्तिगत शारीरिक सुख के लिये "मछली मरी हुई" को कल्याणी लगातार कई व्यक्तियों को बदलती रहती है । "जीने की आकांक्षा में वह बराबर टूटती ही रही है । कोई पुरूष उसे चरम सुख दे नहीं पाता क्योंकि शारीरिक ऊष्णता, शारीरिक भूख और घर्षण से वह ऊपर उठ चुकी है । कल्याणी संकोच विहीना कुमारिका है और "सेक्स" उसके लिये "टैबू" नहीं इसीलिए जब पहली बार निर्मल पद्मावत उसके साथ संभोगरत होता है तो उसकी जल्दबाजी और शीघ्र स्खलित होने पर वह चिल्ला उठती है, "तुम यही आदमी हो ? काले पत्थरों के पहाड़ की तरह दीखते हो । मगर इतने से आदमी हो ? बस .... । इसी के लिये ...... इतने ही के लिये मेरे पास आये थे ? छि .... छि .... मुझे बताया क्यों नहीं ......।"[10]

जैनेन्द्र के पात्रों में समाज-मर्यादा और व्यक्तिगत सुख की अलग धारणा मिलती है । "स्वीकार करना चाहिए कि नीला के संबंध में यद्यपि मैंने प्रकट चोरी नहीं रखा है, पर वह संबंधी सीधा है, पत्नी की मार्फत नहीं है । मैं साफ-साफ समझ नहीं पाता हूं । पति-पत्नी का संबंध केन्द्र है । वह ध्रुव है कि जिसके आधार पर परिवार एकत्रता और समाज की मर्यादाशील व्यवस्था खड़ी है । सही-गलत सब उसके मान से बनना चाहिए । लेकिन मैं नहीं जानता कि नीला को लेकर मुझमें क्या होता है । एक आत्मिक स्फूर्ति-सी मिलती है । राजश्री को लेकर उस सुख-सौहार्द को क्या निषिद्ध बना देना होगा ।"[11] नीला सहाय के लिये एक ताज़ी हवा है, एक प्रेरणा है, इसे उसकी पत्नी राजश्री भी जानती है और नीला को सहर्ष स्वीकार कर उसका स्वागत करती है ।"व्यक्तिगत पात्रों की सर्वप्रमुख विशेषता यह होती है कि वह बंधी-बंधाएं नियमों को सामने रखकर नहीं चलते, वे जो भी निर्णय लेते हैं, स्वयं लेते हैं, बाहरी दबाव से मुक्त रहकर । यही उनकी वैयक्तिकता है ।"[12] समाज से पृथक व्यक्ति की भी अपना सत्ता होती है,उसकी आवश्यकताएं होती हैं जिसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता । नीला सहाय से व्यक्तिगत सुख के संदर्भ में बात करती हुई कहती है -- " .... आखिर कोई क्या करता है जब वह देश-समाज के लिये करता है? देश-समाज तो यहीं रह जाते हैं और वह चल देता है । यनि इन नामों पर जो किया जाता है, आखिर होता वह अपने अंदर से और अपने खातिर है । यनि सवाल यह है कि सब करके किसी ने अपने हक में क्या किया ।"[13] समाज-सुधार

और देश का उद्धार तो व्यक्ति का बाह्य विकास है । "अँधेरे बंद कमरे" की सुषमा का मन किसी भी उन्नति से पहले सुख चाहता है । वह मधुसूदन से कहती है " .... मैं उन्नति करना चाहती हूं, उतनी ही जितनी कि कोई भी कर सकता है, मगर उससे पहले मैं अपने लिये सुख चाहती हूं, सुख जो एक छोटे-से घर में ही मिल सकता है, जहां मैं एक छोटा-सा बाग लगा सकूं और एक-एक पौधे को सींचकर बड़ा कर सकूं, उसकी हर नयी पत्ती को देखकर खुश हो सकूं, और कह सकूं कि देखो आज उस पौधे में एक नई पत्ती निकली है। मैं कभी इस भावुकता का मज़ाक उड़ाया करती थी, मगर अब मुझे लगता है कि मैं अन्दर वह सभी कुछ चाहती हूं जिसका कि मैं मज़ाक उड़ाया करती थी ।"[14] सुषमा के सुख का आधार एक छोटा हरा-भरा घर है तो दूसरी तरफ पुरुष उन्नति से सुख के द्वार तक पहुंचने के लिये नारी का ममत्व चाहता है । " ..... विकासमान पुरुष-जीवन की दो अनिवार्य ज़रूरतें, महापुरुषों का विवेक और नारी का ममत्वाश्वासन -- दोनों ही समाजों और सरकारों द्वारा खड़ी की गई हजार बाधाएं पार करके, उसके मन-प्राण तक पहुंचने का मार्ग निकाल लेते हैं ।"[15]

व्यक्तिवादी पात्र समाज-विरोधी इसलिए नज़र आते हैं कि वे रूढ़ नैतिक मूल्यों के पक्ष में बहुत कम होते हैं । ये पात्र कहीं ऊबे हुए नज़र आते हैं तो कहीं खालीपन भरने के लिये प्रेम करते हैं, जिसके पीछे शारीरिक तृप्ति ही उनके अवचेतन में विद्यमान होती है और वे व्यक्तिवादिता के समकालीन फैशन में पड़ जाते हैं । लेकिन कुछ पात्र ऐसे भी हैं जिनकी व्यक्तिवादिता वास्तव में सराहनीय होती है । उनका अपना एक अलग सुख-संबंधी दृष्टिकोण होता है । इनके अहं में विवेक का अभाव नहीं होता । ये समाज को अस्वीकार करके नहीं नहीं बल्कि स्वीकार करके एक पृथक सत्ता बनना चाहते हैं । "मेरा एकान्त -- क्या मैं असामाजिक हूं ? शायद हां, शायद नहीं । किन्तु यह निश्चित है कि मैं, प्रचलित अर्थ में, सामाजिक नहीं हूं । मैं साफ कहूं : मुझे समाज के अधिकांश संबंध जो लेन-देन पर, निर्वैयक्तिक सेवा-विनिमय पर आधारित हैं, निरर्थक लगते हैं । वे जीवित रहने के लिये आवश्यक हैं, पर मैं सिर्फ जीवित रहना नहीं चाहता । मुझे अस्तित्व नहीं सार्थक अस्तित्व चाहिए ऐसा अस्तित्व जो निरंतर उच्चतर परिणति की ओर उन्मुख हो ।"[16] "जीवन की विषमताओं,

वर्जनाओं, निराशा और कुण्ठा ने मानव के स्वाभिमान को जागृत किया और इसी को प्रखर अभिव्यक्ति व्यक्तिवादी उपन्यासों में उपलब्ध होती है ।"[17] वैसे कोई भी व्यक्ति यह नहीं चाहता कि वह समाज से अलग रहे । जब व्यक्ति अपने विषम जीवन का सामंजस्य समाज की वर्जनाओं के साथ एकमएक नहीं कर पाता तभी वह कुंठित होकर समाज से कटता है और स्वप्रिय हो जाता है । "जब-जब मैं मनुष्यों के बीच गया हूं, कुछ खोकर, कुछ अस्वच्छ होकर लौटा हूं । मैं स्वीकृत अर्थों में धार्मिक नहीं हूं, वैराग्यवादी भी नहीं हूं, फिर भी, मैं स्पष्ट कहूं, मुझे उस तरह का सम्पर्क और वैसे लौटना पसंद नहीं है । मुझे किसी भी मूल्य पर अपनी स्वच्छता का बलिदान स्वीकार नहीं है ।"[18] चित्रा स्वयं के लिये अंत में संन्यास का चयन करती है और अपनी माँ से कहती है, "कुछ और नहीं है माँ, एक ही बात है। आत्मा जो जिसमें सुख मिले वही उसका मार्ग है ।"[19] वह वैयक्तिक सुख के लिये ही ऐसा निर्णय लेती है । "रेखा" उपन्यास का पात्र शिवेन्द्र धीर का व्यक्तिवादी दृष्टिकोण कहता है कि "जीवित रहने के लिये हमें समाज के साथ सामन्जस्य स्थापित करना ही पड़ेगा, लेकिन व्यक्ति के नाते मैं समाज से पृथक एक स्वतंत्र सत्ता हूं, और मेरी कला में वही मेरे व्यक्तित्व चित्रित है ।"[20]

अतिशय बौद्धिक कभी-कभी स्वार्थ का रूप भी लेने लगती है । अपने व्यक्तिगत सुख के नाम पर विवेच्य उपन्यासों के पात्र व्यक्तिगत लाभ अधिक उठाते हैं और अवसरवादी बन जाते हैं । ऐसे पात्र एक दोहरे व्यक्तित्व में जीते हैं । व्यक्तिवादी होते हुए भी ये समाज में अपनी हैसियत बनाए रखना पसंद करते हैं । वे इस बात को भी स्वीकार करते हैं कि " .... हम में सामाजिकता अन्तरात्मा नहीं थी, सामाजिक चेतना नहीं थी क्योंकि असल में हम लोग हरामखोर थे और मजा यह है कि वैसे व्यक्तिशः हम बुरे भी नहीं थे, भलेमानस कहलाते थे, अच्छे आदमी थे । अच्छा आदमी वह होता है जिसकी बुराई ढंकी रह जाती है चाहे आप ही आप, चाहे किये-कराये से । हम ऐसे भले मानस थे ।"[21]

व्यक्तिवादी प्रवृत्ति मुख्यतः नगरीय विकास की देन है । चूंकि "राग दरबारी" की पृष्ठभूमि कस्बेनुमा गाँव की है और शहर के समीप पड़ता

है, अत: उसके समाज में भी शहरी स्थितियों का प्रभाव साफ दिखाई पड़ता है। "राग दरबारी" के प्रमुख पात्र वैद्यजी ग्राम पंचायत को अपने निजी स्वार्थों को पूरा करने का माध्यम बनाते हैं। "शिवपाल गंज में सहकारी आन्दोलन का पूरा लाभ वैद्य जी उठाते हैं। वे गबन छिपा लेने की क्षमता रखते हैं। वे कालेज की इन्क्वाइरी रुकवा देते हैं। खन्ना और मालवीय जैसे अध्यापकों को शिवपालगंज छोड़ना पड़ता है। वैद्यजी चुनाव की राजनीति में दक्ष हैं और वे सनीचर को मुखिया बनवाकर वे सब लाभ उठा लेते हैं जो स्वयं मुखिया बनकर भी न उठा पाते। वैद्य जी को गाँव के हित की बड़ी चिन्ता है। सहकारी फार्म बनाकर मुर्गी पालकर, वन महोत्सव का सामुदायिक मिलन केन्द्र खोलकर वे सरकारी सहायता मार लेते हैं।"[2] वैद्य जी तो ग्राम के सर्वेसर्वा थे लेकिन उनके साथवाले जो थोड़ी बहुत जायदाद के मालिक थे, उनसे कम नहीं थे। ऐसा ही एक व्यक्तित्व कालिका प्रसाद का भी है। अपने व्यक्तिगत सुख के लिए व किसी भी प्रकार की सरकारी ग्रांट तथा रुपयों का उपयोग आराम से कर लेने में दक्ष थे। "उनका पूरा कर्मयोग सरकारी स्कीमों की फिलासफी पर टिका था। मुर्गी-पालन के लिये ग्रांट मिलने का नियम बना तो उन्होंने मुर्गियाँ पालने का एलान कर दिया। एक दिन उन्होंने कहा कि जाति-पाँति बिल्कुल बेकार की चीज़ है और हम बाँभन और चमार एक हैं। यह उन्होंने इसलिए कहा कि चमड़ा कमाने की ग्रांट मिलनेवाली थी। चमार देखते ही रह गये और उन्होंने चमड़ा कमाने की ग्रांट लेकर अपने चमड़े को ज्यादा चिकना बनाने में खर्च भी कर डाली। खाद के गड्ढे को पक्का करने के लिये, घर में बिना धुएं का चूल्हा लगवाने के लिए नये ढंग का संडास बनवाने के लिये कालिकाप्रसाद ने सब ग्रांटे लीं और इनके एवज में कारगुजारी की जैसी रिपोर्ट उनसे माँगी गई वैसी रिपोर्ट उन्होंने बिना किसी हिचक के लिखकर दे दी।"[23] इनके अलावा ग्रामीणों का मनोविज्ञान कुछ अलग ही किस्म के वैयक्तिक सुख की साध करता है। मुख्यत: ग्रामीण जीवन अधिक तड़क-भड़क या घटनाओं-दुर्घटनाओं से सम्बद्ध नहीं होते, ग्रामीणों के जीवन में सामान्यता से हटकर कुछ भी नया हो जाए तो वह उनके लिये आश्चर्यदायक होता है। "... किसी गुण्डे पर मुकदमा चल रहा हो तो ग्रामीण भाइयों की यह स्वाभाविक इच्छा होती है कि वे शहर घूम आएं और कचहरी देख लें।

गुण्डे को अपमानित होते देखकर उन्हें हार्दिक सुख मिलता है और गुण्डे को भी, देखो, गाँव के कितने आदमी मेरी मदद के लिये आये हैं, ऐसा समझ कर हार्दिक सुख मिलता है ।"[24] गाँव की मन:स्थिति ही कुछ इस ढंग की होती है कि वे अपने को सामाजिक बनाकर भी अपने अलग ही प्रकार के व्यक्तिगत सुख भोग का आविष्कार करते हैं ।

वैयक्तिकता के कारण व्यक्ति के आपसी संबंधों में भयंकर अलगाव आता गया है । व्यक्ति अपने आप को इतना, नितान्त अकेला बना रखा है कि उससे अपने आणुविक परिवार की भी ठीक से जिम्मेदारी निभाने की ज़रूरत महसूस नहीं होती । "वैयक्तिकता की प्रवृत्ति ने व्यक्ति और व्यक्ति के मध्य, व्यक्ति और समाज के मध्य अलगाव में वृद्धि की है । वह समाज में एक स्वतंत्र इकाई के रूप में अपने को प्रतिष्ठित करने की दिशा में प्रयत्नशील है । नगरीय जीवन की जटिलता, आर्थिक, सामाजिक विषमता, निर्धनता, बेकारी एवं औपचारिकता तथा स्वार्थ-परता इसके मूल में है । स्वार्थप्रधान संबंध, तीव्र प्रतिस्पर्धा, आर्थिक असमानता एवं जीवन की कठोर परिस्थितियों के प्रति संघर्ष ने व्यक्ति को अन्तर्मुखी बनाया है । वह सोशल होना आवश्यक नहीं मानता । उसकी दृष्टि में समाज निर्मम है । वह उसे निगलने का प्रयास कर रहा है ।"[25] अपने व्यक्तिगत सुख के लिये अपने परिवार से अलग होने या उन्हें ठीक से न देखने-समझने की प्रवृत्ति सातवें दशक के उपन्यासों के कुछ पात्रों में मिलती है । "मुक्तिबोध" उपन्यास का पात्र सहाय इन्हीं विषमताओं से घिरा दिखाई देता है । "मैंने पत्नी की तरफ देखा उसने जीवन भर साथ दिया था और निरी अनुगता समझकर मैंने उसे कभी ध्यान में नहीं लिया था । एकाएक मुझे लगा कि जाने मैं किस बेभानता में रहता आया था । मौका नाजुक होने पर केलि-विनोद में जरा उसको बहला भर लिया करता था, नहीं तो घर गिरस्ती के सामान-असबाब से ज्यादा किसी तरह नहीं मानता था ।"[26] दूसरी ओर "उसका शहर" की लूपिका अपने व्यक्तिगत सुख के लिए थोथे पारम्परिक संबंधों को अस्वीकार करती है । "लूपिका अपने व्यक्तिगत संबंधों को लिखते हुए एक तनाव में आ गई थी और उसने उन सारे पारंपरिक संबंधों को अस्वीकार किया था । उसने लिखा था कि -- "वह किसी भी थोथे संबंध को अस्वीकार करती है जिसमें जीवन के किसी महत्वपूर्ण पहलू में बंधने जैसा

भाव हो" । उसने लिखा कि -- किसी भी पारम्परिक बातों की रूढ़िगत स्थिति के कारण उसके लिये उनका महत्व कुछ भी नहीं है ।"[27] "60 के बाद भारतीय समाज की स्थिति ऐसी विकराल रूप धरती गई कि समाज की मान्यताएं तथा स्थापनाएं लगातार टूटती ही चली गई ।

व्यक्तिगत सुख की इच्छा व्यक्ति को सिर्फ एक भटकाव ही देती है । व्यक्ति समाज से ऊब कर अपने अकेलेपन में खो जाना चाहता है लेकिन एक सीमा के बाद उस अकेलेपन से भी वह ऊब कर पुन: अपने अनुकूल एक नये समाज की ओर आकर्षित होता है । "वास्तव में कोई भी नितांत व्यक्तिवादी नहीं रह सकता वैसे ही जैसे कोई नितान्त समाजवादी नहीं रह सकता, क्योंकि व्यक्ति और समाज एक दूसरे को प्रभावित करते हैं और एक दूसरे पर निर्भर रहते हैं ।"[28] "वे दिन" उपन्यास के व्यक्तिगत सुखाकांक्षी पात्र अपनी-अपनी स्थितियों से घिरे होकर सुख प्राप्त करते दिखाई तो देते हैं परन्तु उनकी मन:स्थिति के अनुसार वे पूर्णत: सुख, संतुष्ट नहीं दिखाई देते । इस उपन्यास के "सभी चित्र जहाँ एक अभिशप्त मानवीय स्थिति और नियति से बंधे हुए हैं, उससे छूटना चाहते हुए भी छूट नहीं पाते हैं । यह एक ऐसी स्थिति है जहाँ न सुख है न दु:ख "न पास होने का कौतूहल न दूर होने का ठंडापन"। जहाँ "एक व्यक्ति दूसरे के लिये अंधेरा है", जैसे "मैं" रायना के लिये, रायना "मैं" के लिये, फ्रांज मारिया के लिये, मारिया फ्रांज के लिये । सभी चरित्र सम्बन्धों में रिक्तता झेल रहे हैं । रिक्तता जो पूरे वातावरण में छायी हुई है ।"[29] इसी स्थिति में जीता हुआ मनुष्य अपने लिये निरन्तर सुख की खोज में लगा रहता है । विश्व में छायी घोर वैयक्तिकता के परिणामस्वरूप मानवीय मूल्यों में भी परिवर्तन आया है । नये व्यक्तिवादी मूल्यों के विकास से नगरीय जीवन में व्यक्ति के जीवन का आदर्श व्यक्तिगत सुख की खोज बन गया है । "अंधेरे बंद कमरे" का मधुसुदन कहता है -- "वह सुख की खोज क्या है ? झूठ बोलो, काम से बचो, जैसे भी हो पैसा जमा करो और अधिकार पाने के लिये सब कुछ कुरबान कर दो। इस नैतिकता का एक बना-बनाया शास्त्र है जो किसी को नहीं पढ़ाता फिर भी सब लोग इसके पंडित हैं ।"[30] सुख प्राप्ति की यही स्थिति आज के नैतिक जीवन का आधार बनी हुई है । यही आज का व्यक्तिगत सुख है ।

सामाजिक सुख :

व्यक्ति अपना पृथक अस्तित्व रखते हुए भी समाज से जुड़ा होता है। व्यक्ति अपना विकास समाज में ही करता है क्योंकि वह समाज की इकाई है। सामाजिक सुख वह है जहाँ समाज के विकास के लिये सामाजिक नियमों के भीतर रहकर व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। इन नियमों को तोड़ कर वह समाज में उपहास या आलोचना का विषय नहीं बनना चाहता। व्यक्ति के अपने संघर्ष कभी समाप्त नहीं होते। ये संघर्ष वहीं से प्राप्त होते हैं जिस समाज का वह अंग होता है। समाज से संघर्ष प्राप्त होने के अलावा उनके प्रति सुरक्षा भी व्यक्ति को समाज के किसी न किसी भाग से प्राप्त होती है। ऐसी सुरक्षाओं का व्यक्ति अभ्यस्त हो जाता है। इस प्रक्रिया में व्यक्ति समाज से अकाट्य रूप में जुड़ जाता है। सुरक्षा प्राप्ति के साथ-साथ उसे सामाजिक हित का भी भय लगा रहता है।

सामाजिकता में जकड़ा व्यक्ति अपना किसी भी प्रकार का व्यक्तिगत कार्य करने से पूर्व सामाजिक नियम तथा समाज के साथ अपने सहज-संबंधों के बारे में अवश्य सोचता है। "मुक्तिबोध" उपन्यास का नायक सहाय अपनी पत्नी राज से कहता है -- " ..... तो भी अपने सामाजिक संबंधों का हमें ध्यान रखना चाहिए। ताकि आगे उलझन न पड़े।"[31] राज जो चाहती है वही कहने और करने के पक्ष में होती है जबकि सहाय कुछ कहना या करना चाहता भी है तो समाज की आलोचना से बचना चाहता है। "रेखा" उपन्यास में रेखा का कथन है, " ..... वह प्रभाशंकर की है, प्रभाशंकर उसके हैं, दो आदमियों की इस छोटी-सी दुनिया में असीम सुख है, अक्षय उल्लास है।"[32] भारतीय समाज में विवाह सामाजिक संबंध बनाये रखने तथा व्यक्तिगत संबंधों को जीवित रखने के लिए आवश्यक संस्कार माना गया है। "विवाह यौन-संबंधों के नियमन की एक मान्य संस्था रही है जिसका उद्देश्य परिवार बसाना, सन्तानोत्पत्ति एवं समाज की निरंतरता को बनाये रखना रहा है। प्रत्येक समाज में कतिपय ऐसे नियम अवश्य पाये जाते हैं जो यौन संबंधों के नियमन के आधार पर बनते हैं। विवाह इन्हीं नियमों की अभिव्यक्ति करता है।"[33] "विवाह स्पष्टत: उन स्वीकृत संघों को प्रकट करता है जो यौन संतुष्टि के पश्चात् भी स्थिर रहता है तथा पारिवारिक जीवन का आधार बनता है।"[34] "रेखा" उपन्यास के

प्रोफेसर प्रभाशंकर सोमेश्वर से कहते हैं -- "यहाँ तुम भूल करते हो । विवाह न करके तुम दुनिया से सम्पर्क तोड़ रहे हो क्योंकि दुनिया के सब लोग इन छोटे-छोटे बंधनों में बंधे हैं । जो निर्बंधता की दुहाई देता है वह अराजकता को अपनाता हैऔर समाज उसे अपने में सम्मिलित करने से हिचकिचाता है । ये जितने नियम हैं, ये जितनी मान्यताएं हैं सृष्टि इन्हीं पर तो अवलंबित है । एक निर्दिष्ट पथ, एक निर्दिष्ट जीवन-मानव समाज की स्थापना इसमें है । इसको न मानना अराजकता और असफलता का मार्ग अपनाना है ।"[35] समाज की प्रथम संस्था घर है जहाँ पर संबंधों की प्रगाढ़ता में जीवन सरल हो जाता है । इसीलिए समाज में विवाह को प्राथमिकता दी गई है ।

"भागे हुए लोग" में लेखक का कथन है, " ..... चूंकि पुरुष के सारे संबंधों के केन्द्र में सिर्फ औरत ही प्रमुख है, इसीलिये वह उसे ही बांधने -- सामाजिक अर्थ में मर्यादित करने की चेष्टा करता है । ऐसा सब कुछ व्यक्ति सिर्फ अपने स्वार्थ के लिये करता है मगर हरेक के निजी स्वार्थों का समूहीकरण अंततः अपने आप सामाजिक मर्यादा और संस्कृति का रूप ले लेता है ।"[36] उपन्यासों में कई ऐसे पात्र भी हैं जो प्रेम करते हैं, विवाह नहीं । यहाँ पर वैयक्तिक सुख की अपेक्षा समाज या परिवार की सुख-शान्ति की बात प्रमुख होती है । "चौदह फेरे" का कर्नल पेट्रीशिया विल्सन से प्रेम करता था, "पेट्रीशिया विल्सन अपने सुनहरे यौवन को कर्नल के कुल के घूंघट की परिधि में कभी नहीं बांध पाती । हृदय पर पत्थर रखकर कर्नल उसे भूल गया था ।"[37] कुमाऊं का तरूण "बहू को सास और ससुर की सेवा के लिये ब्याह कर लाता था । प्रणय निवेदन की सार्थकता के लिये नहीं ।"[38] अर्थात् कहा जा सकता है कि व्यक्तिगत इच्छाओं को त्याग कर व्यक्ति समाज के पक्ष में भी अपने निर्णय लेता है । "अमृत और विष" उपन्यास के युवा पात्रों में यूरोपियन संस्कृति सा खुलापन चाहने की एक हल्की सी आकांक्षा मिलती है । "काश, कि मैं और रानी यूरोपीय जवानों की तरह खुले आम साथ-साथ घूम सकें एक दूसरे को सहायता दे सकें, शादी से पहले इतने घुलमिल जाएं कि हमें अपना संसार चलाने में तनिक भी भारीपन या अड़चन न महसूस हो ।"[39] ये ऐसे पात्र हैं जो सामाजिक मान्यताओं में कुछ परिवर्तन चाहते हैं । "वैसे समाज एक मानवीय संस्था है, पर मानव का स्वातंत्र्य छीन कर उसे परतंत्रता में जकड़ने के लिये जब वह श्रृंखलाओं का काम करने लगता है तो एक विज्ञापन हो जाता है । इस स्थिति के विरूद्ध

ही मानव में संघर्ष का जन्म हुआ ।"[40] इस दशक के उपन्यासों में जितने भी प्रगतिशील युवा पात्र मिलते हैं वे लगभग सभी ऐसे ही संघर्ष में जूझते दिखाई पड़ते हैं । कुछ पात्र समाज के हित के लिये, जो उनका भी हित होता है, काम करते हैं और स्वयं को सुखी अनुभव कराते हैं । " ..... सच है कि हम श्रम के घंटों में वरन् उसके बाद भी अपना संघर्ष-स्वातंत्र्य, विचार-स्वातंत्र्य और लिखित अभिव्यक्ति का प्रयोग करते-कराते हैं तो पेट पर लात मार दी जाती है । यह यथार्थ है । इस यथार्थ के नियमों को ध्यान में रख कर ही, पेट पाला जा सकता है, अपना और बाल-बच्चों का ।"[41] इसी प्रकार हर तरह की स्वतंत्रता प्राप्त करके व्यक्ति छटपटाता भी है और साथ ही सामाजिक होने का सुख भी प्राप्त करता है ।

उपन्यासों में कुछ पात्र ऐसे भी मिलते हैं जो व्यक्तिवादी हैं लेकिन अक्सर की आड़ में सामाजिक हो जाते हैं और कभी-कभी समय को देखकर सामाजिकता का मखौल भी उड़ाने में पीछे नहीं हटते । ऐसे पात्र व्यक्ति, स्थिति एवं परिस्थिति देखकर कार्य करते हैं । "विपात्र" का भनाक्त इस बात को स्वीकारता है, "बदमाश कहा जाता हूं, क्योंकि मैं अब तक व्यक्ति, स्थिति और परिस्थिति को न देखकर बात करता था । मैं बदमाश था । अब मैं सोच-समझकर अपने को भीतर छिपाकर, मौका देख करके बात करता हूं, इसीलिये लोग मुझे अच्छा समझते हैं ।"[42] सामाजिक सुख पाने से अधिक सामाजिक आक्षेपों से बचने की कोशिश में पात्र नज़र आते हैं । एक-दो जगहों पर "रेखा" की रेखा अपने प्रेमी सोमेश्वर से कहती है -- "सोमेश्वर, तुम जानते ही हो कि मैं विवाहित हूं, हम लोगों का अब एक-दूसरे से अलग हो जाना ही ठीक होगा ।"[43] अन्य स्थल पर वह निरंजन से कहती है -- "अकेले में तुम मुझे तुम कह सकते हो, लेकिन दुनियां के सामने नहीं क्योंकि यह "तुम" का संबोध घनिष्ठता का द्योतक है, और मैं विवाहित हूं, किसी परपुरुष से मेरी घनिष्ठता नहीं होनी चाहिए । समाज के सामने यह घनिष्ठता का व्यवहार अनुचित होगा ।"[44] एक व्यक्ति जब दूसरे के संपर्क में आता है तो सामाजिकता का विचार अपने-आप उसमें पनपने लगता है और उचित अनुचित का प्रश्न उठता है । सामाजिक मान्यताएं नैतिक स्तर को ऊंचा उठाती हैं । सामाजिक उपयोगिता को

ध्यान में रखकर ही "उसका शहर" उपन्यास का दशानन मधुमक्खियों के उदाहरण के माध्यम से कहता है -- "जीना केवल संचय और उपयोग का पर्याय है और परिवार उसका माध्यम। परिवार और बड़े दायरे में समाज केवल इन दोनों के निमित्त सुविधा जुटाने के लिये है। नहीं तो इनके माध्यम की कठिनता के कारण किसी चीज का उपयोग पूरा नहीं हो सकेगा। चीजें ज्यों की त्यों रहेंगी और आदमी उनका उपयोग नहीं कर पायेगा।"[45] परिवार के लिये संचय और उपयोग ही जीवन के आधार तत्व हैं। परिस्थितिवश जो परिवार से कट भी चुके हैं वे भी पूरी तरह से अपने आप को अलग नहीं महसूस कर पाते। "तीसरा पत्थर" बदले की आग में बीहड़ों में भटकते हुए भी वे सामाजिक अनुभूति को भूल नहीं पाते। उनके प्रति उपन्यासकार का कथन है -- "औसत आदमियों से अलग होते हुए भी वे अपने-आप को उनसे अलग नहीं कर पाते। कर नहीं सकते क्योंकि अनुभूति हर स्थिति में सामाजिक ही रहती है। यह मानव-स्वभाव की ऐसी कमज़ोरी है, जिसे परिस्थितियों की कोई भी जटिलता बदल नहीं पाती।"[46] बागी या डाकू समाज का एक ऐसा अंग है जिनका जन्म समाज की विषम परिस्थितियों में होता है। "विषम सामाजिक परिस्थितियों, जटिल मानसिक ग्रंथियों का शिकार व्यक्ति जीवन का निश्चित क्षेत्र चुनने में नैतिकता के वैयक्तिक प्रतिमानों को आधार बनाता है। नैतिकता के वैयक्तिक प्रतिमानों का आधार यद्यपि सामाजिक प्रतिमान ही होते हैं, फिर भी भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में व्यक्ति आचार-व्यवहार में निजी सत्ता बनाये रखता है। व्यक्ति द्वारा इस चेतना का परिवर्धन-संशोधन वैयक्तिक प्रतिमानों की भूमियाँ हैं। यही एकमात्र माध्यम भी है जिसके सहारे वह जीवन की विसंगतियों एवं उलझावों में नये अर्थ खोजता हुआ जीवन को गतिशील बनाता है।"[47]

व्यक्ति का अपने समाज के साथ संबंध उसके अपने वर्ग के आधार पर भिन्न-भिन्न होते हैं। उसके अपने समुदाय का हित ही उसके सामाजिक सुख का माध्यम बनता है। अपना व्यक्तिगत योगदान देकर समाज के संपूर्ण समुदाय को सुखी बनाने के लिये सामाजिक व्यक्ति सोचता है। समाज में

सम्पर्क स्थापित करके परस्पर विकास करने के लिये ही उच्च वर्ग में पार्टियों का आयोजन किया जाता है । "ये डिनर या लंच कभी एक व्यक्ति देता है तो कभी दूसरा व्यक्ति, कभी { अधिकांश वे ही } बास । हफ्ते में कम से कम चार-पाँच बार इसी तरह खाना-पीना होता । यदि कोई न हो तो निमंत्रण देनेवाला खुद बुरा मानता । मतलब यह कि कुल मिलाकर यह हालत थी कि कोई भी जान-बूझ कर दरबार में जाना टाल नहीं सकता, भले ही वह इस लम्बे वक्त से तंग आकर बाद में पीछ पीछे चिड़चिड़ाये या कुछ करे ।"48 यह स्थिति एक तरफ कुछ लोगों को विकसाता है तो दूसरी ओर अनुकूल सामाजिक परिस्थितियाँ प्राप्त होने पर व्यक्ति का विकास भी हो सकता है । समाज की अनुकूल परिस्थितियाँ विकास में सहायक होती हैं । ऐसा ही एक पात्र "विपात्र" में राव साहब हैं जिनकी प्रगति प्रतिभा से नहीं बल्कि संयोगों से हुई है । "उनकी प्रगति में निर्णायक योग उनकी प्रतिभा का नहीं था वरन् उन संयोगों का था जो परिस्थितियों के बनते और बढ़ते हुए ताने-बानों के अनुकूल परिणाम के रूप में प्रस्तुत हो जाते हैं ।"49 अतः यह स्पष्ट है कि केवल मेहनत या प्रतिभा के बल पर ही सुख प्राप्त नहीं होता बल्कि परिवेश, समाज और परिस्थितियाँ भी अनुकूल होनी चाहिए ।

जब भी इन उपन्यासों के चरित्र में सामाजिक सुख का विश्लेषण किया जाता है, इनमें अपने वर्गीय वैषम्य को लेकर कुण्ठा की भावना प्रबल दीखती है । अपने वर्ग-विशेष में रहते हुए भी व्यक्ति यही कामना करता रहता है कि वह वर्ग का अन्तरण करे और स्वयं को ज्यादा सुखी बनाये । यह वर्ग संघर्ष की भावना वस्तुतः उसे दुःख ही प्रदान करती है । "विपात्र" का "मैं" कहता है -- "..... हमें अपने वर्ग में रहने का मोह है, निचले वर्ग में जाने से डर लगता है । लेकिन क्रमशः हमारी स्थिति गिरते-गिरते उन जैसी ही हो जाती है तो वहाँ सहर्ष ही क्यों न पहुँच जाए । लेकिन वहाँ भी मुक्ति नहीं है, क्योंकि उस स्थान पर भी घोरतर उत्पीडन है ।"50 इनमें वर्गीय अन्तरण का संघर्ष भी है, उसकी नियति के परिणामों से भी परिचित है फिर भी लगातार एक तरह के सामाजिक सुख की तलाश की आकांक्षा भी बलवती है । "विपात्र" के चरित्रों का समाज बास राव

साहब तय किये हुए हैं । सभी पात्र अपने अस्तित्व को दबाये हुए उसी समाज के सुख की कल्पना में अपने आप को सुखी बनाए रखने का प्रयत्न करते हैं । "विपात्र" में आत्मसंघर्ष और आत्मभर्त्सना का प्रभावक स्वर मिलता है । राव साहब, भनावत, जगत, मिश्रा, नैरेटर आदि पात्र मध्यवर्गीय हैं। सामाजिक चेतना के अभाव में इनके दायरे संकुचित हैं । विद्याकेन्द्र के ये विद्वान बास की दया पर पल रहे हैं । बास उनकी रुचियों को एक निश्चित दिशा में मोड़कर उनकी विवेक क्षमता को कुण्ठित करता जा रहा है ।"[51] ये पात्र अपने निर्वाह के लिये उस समाज से जुड़ रहने के लिये अभिशप्त हैं जिनमें उनकी रुचि नहीं और जहाँ उनकी अस्मिता भी नहीं है ।

भारतीय परिवेश, संस्कार और वर्ग वैषम्य के कारण सामाजिक सुख की धारणा के कई अपवाद जन्म लेने लगते हैं । "रुकोगी नहीं ..... राधिका" में उषा प्रियंवदा ने इसका सफल चित्रण किया है । परिवार और संस्कार आधुनिका राधिका को मुक्त नहीं करा सके । पिता को विमाता के साथ देखकर उसमें हीनता की ग्रंथि जन्म लेने लगती है, जिसकी प्रतिक्रिया स्वरूप वह घर छोड़कर पिता को त्रास देना चाहती है और प्रेमी में पिता-सा आश्रय खोजती है । उसी का मित्र डैन राधिका से कहता है, "यदि भारतीय परिवेश में तुम्हें प्रारंभ से ही युवा मित्र बनाने की सुविधा होती तो ऐसा न होता । तब तुम्हें प्रसन्नता होती कि तुम्हारे पिता ने जीवन में फिर सुख पाया ।"[52] जहाँ पर दूसरे विवाह को समाज में स्थापना मिल जाती है, लेकिन राधिका का व्यक्तिमन इसे स्वीकार नहीं पाता । परिवेश और संस्कार उसे पीछे खींचते हैं ।

सातवें दशक में आते-आते रूढ़िवादिता चरमराने लगी थी । रूढ़िवादी घरों के विवाह असफलता की ओर जाने लगे । "विपात्र" का जगत, "चौदह फेरे" का कर्नल इसके उदाहरण हैं । "रेखा" घर का सुख चाहती है । सामाजिक सुख एक प्रकार से निजी सुखों का सामूहीकरण है और सुख का मर्यादित रूप है । "जिस सुख को मनुष्य सिर्फ अकेले ही भोगना चाहता है, उस सुख का भोक्ता कोई और भी हो, यह उसे बर्दाश्त नहीं हो सकता और जब ऐसा महसूस करनेवाले अकेलों की संख्या बहुत बड़ी हो जाती है तो एक बहुत ही ठोस सामाजिक व्यवस्था अपने-आप जन्म लेती

लेने लगती है ।[53] सामाजिक सुख, सुख का एक व्यवस्थित रूप है । परंपरा, रीति-रिवाज़ एवं संस्कार व्यक्ति की मानसिकता पर अपना प्रभाव डालते हैं । कभी व्यक्ति इसके प्रभाव में आकर सामाजिक मर्यादा के निर्वाह हेतु व्यक्तिगत सुख का त्याग करता है तब वह मानसिक दुःख और खोखलापन लिये जीता है। दूसरी ओर जब प्रतिक्रियात्मक रूप अपनाता है तो सामाजिक उपेक्षा का दुःख सहना पड़ता है । इसीलिये अधिकतर समाज में व्यक्ति तीसरा रास्ता अवसरवादिता का अपनाता है क्योंकि व्यक्ति अपने निजी स्वार्थों के लिये सामाजिकता का बलिदान करना पसंद नहीं करता ऐसा करने की कोशिश में जब वह आगे बढ़ता है तो संस्कार उसे पीछे की ओर खींचते हैं । इसी द्वन्द्व का दुःख हर आधुनिक व्यक्ति झेलता है । ऐसी ही परिस्थितियाँ व्यक्ति को स्वार्थी व अवसरवादी बना देती हैं । व्यक्ति के अनेक स्वार्थ समाज में ही पूरे हो सकते हैं जिनमें अन्य व्यक्तियों के सहयोग की आवश्यकता होती है । इन्हीं अर्थों में व्यक्ति और समाज का एक पूरक संबंध होता है।

यह कहा जा सकता है कि व्यक्तिवादी सुखाकांक्षी पात्र महत्वाकांक्षी होते हैं । अस्मिता की खोज में अधिकतर समाज से कट जाते हैं । व्यक्तिवादी होने पर भी ये पात्र निरपेक्ष रूप से समाज से जुड़े होते हैं । उनके चारों ओर एक सामाजिक परिवेश छाया रहता है जिसके सम्मुख खुलकर उपस्थित होने को ये पात्र भयभीत भी रहते हैं । सामाजिक बंधन व्यक्ति भले ही न माने लेकिन सामाजिक आलोचना से बचने का प्रयास वह अवश्य करता है । दूसरी ओर अपनी इच्छाओं को न दबा पाने के कारण उसे दोहरा अभिनय करना पड़ता है । इससे व्यक्ति और समाज के बीच एक दीवार खिंच जाती है । समाज के आगे व्यक्ति का रूप कुछ और होता है और व्यक्तिगत स्तर पर उसका रूप कुछ और ही होता है ।

सामाजिक नियम समाज में व्यवस्था बनाए रखने के लिए होते हैं लेकिन नियमों में जीवन को बाँधा नहीं जा सकता । नियम टूटते हैं और व्यक्ति प्रमुख हो जाते हैं तथा समाज गौण। व्यक्तिवादी पात्रों की यह नियति देखी गई है कि वे समाज को अपने जीवन-पथ का बाधक समझते हैं लेकिन व्यक्तिवादिता भी व्यक्ति को बहुत अकेला बना देती है । व्यक्ति पुनः एक नये समाज के निर्माण की बात सोचता है ।

सूक्ष्म सुख एवं स्थूल सुख

सूक्ष्म सुख :

सूक्ष्म सुख वह सुख है जहाँ पर सुख का धरातल मानसिक हो जाता है और कभी-कभी मन से उठकर आध्यात्मिक तक हो जाता है । मन का तादात्म्य निराकार आनन्द से हो जाता है, माध्यम चाहे व्यक्ति हो या वस्तु । व्यक्ति बाह्य जगत् से सुख के माध्यम खोजता है । इस खोज में उसे ऐसी कई वस्तुएं प्राप्त हो जाती हैं जिसके साथ मन का रागात्मक संबंध हो जाता है । यही मानसिक रागात्मक की प्रवृत्ति सूक्ष्म सुख कहाती है। इस स्तर पर वस्तु के उपयोग से ही नहीं बल्कि उसके सौन्दर्य से भी सुख प्राप्त किया जाता है । यही सुख धर्म में "आनन्द" है, साहित्य में प्रवृत्ति और संबंधों में मानसिक लगाव । इसमें महत्व भोग का नहीं, उससे प्राप्त होनेवाली अनुभूति का है । "फूलों की गंध, पंखुरियों और पराग के भीतर भी कुछ सूक्ष्मतम होता है और वही समूचे फल को सौन्दर्य देता है। वही फूल का वास्तविक शरीर है । अर्थयह हुआ कि हमारे शरीर के भीतर भी एक शरीर है । वह शरीर न कभी खोखला होता है, न टूटता है और न ही छला जा सकता है ।" यानि व्यक्ति के भीतर अनुभूति को ग्रहण करने के सूक्ष्म तत्व होते हैं जो इन्द्रीय चेतना से सहयोग पाते हैं ।

सुख प्राप्ति की प्रवृत्ति व्यक्ति का एक भीतरी, स्वाभाविक गुण है । व्यक्ति बाह्य जगत् से कितना सुख प्राप्त कर सकता है यह भीतरी क्षमता की एक चुनौती है । "वे दिन" के "मैं" को ओल्ड टाउन हॉल के ऊपर निकला चाँद फानूस की जापानी लालटेने सा गोल और सुंदर नज़र आता है । "मैं" के विचार में किसी चीज पर टिक जाना ही सुख है । उसकी अनुभूति कहती है, "वह अपने में सुख न भी हो, तुम उससे सुख ले सकते हो, अगर तुम ज्यादा लालची नहीं हो -- यह उस शाम "मैंने" पहली बार जाना था ।"[55] मन जहाँ कुछ पल केंद्रीत हो जाए वही स्थिति सूक्ष्म सुख है । "रात के अंधेरे में संगीत "मैं" और "रायना" को पास खींच लाता है ।"[56] संगीत की धुन में दो अनजान अपरिचितों के मध्य एक घनिष्ठता की स्थिति आ जाती है ।

"रेखा" उपन्यास में विवाहित रेखा सोमेश्वर से संबंध स्थापित करती है । उनकी शारीरिक भूख शीघ्र शान्त तो हो जाती है लेकिन भीतर का खालीपन एक अधूरेपन का अहसास कराता है । परिताप के वेदना रेखा को शान्ति, जो सूक्ष्म सुख है, नहीं दे पाती । कृतज्ञ रेखा स्वयं स्वीकारती है -- "मैं तुम्हारी बड़ी आभारी हूं और उस आभार को अपने प्राणों में परिताप की वेदना बनाकर हमेशा-हमेशा के लिये अपने अंदर दबाकर रखना होगा मुझे, मैं यह भी जानती हूं । लेकिन शरीर की भूख बड़ी जल्दी शान्त हो जाती है । अजर, अमर और अक्षुण्ण शरीर नहीं, आत्मा है । मेरी भावनाओं के क्षेत्र में तुम्हारा नगण्यसा स्थान है ।"[57] भावनाओं के अभाव में शारीरिक सुख केवल भूख-मात्र होता है । सूक्ष्म सुख भावनात्मक संबंधों में ही संभव है ।

मानसिक तुष्टि का दूसरा रूप ही सूक्ष्म सुख है । "एक इंच मुस्कान" के कमला की भटकान का कारण मानसिक असंतुष्टि है । अपने मित्र कैलाश से वह कहती है, "देखते नहीं, विवाह करके भी पिछले दस वर्षों से मैंने उस व्यक्ति की सूरत तक नहीं देखी, और तुमसे बिना विवाह किये भी पिछले इतने वर्षों से घनिष्ठ मित्रता का संबंध निभाती आ रही हूं -- चाहो तो जीवन भर भी निभा सकती हूं, और कहो तो आज ही, इसी क्षण सब कुछ तोड़-ताड़कर अलग भी हट सकती हूं ।"[58] ऐसा कहने में अमला के स्वर में आई शिथिलता और आर्द्रता मन के लगाव को महत्व देती है, विवाह के बन्धन को नहीं, स्त्री-पुरुष का आपसी आकर्षण प्रकृति का सहज नियम है । अपने आसपास के समाज में जीते हुए व्यक्ति कभी-कभी अनजाने ही किसी अन्य स्त्री से संबंध बना लेता है जो उसे सर्वाधिक आत्मिक आनन्द प्रदान करता है । "लड़की से लगाव हो जाना बड़ा ही स्वाभाविक है और उसकी यह गहरी मानसिक तटस्थता उसकी बुद्धिहीनता का नहीं, किन्तु दिव्य संस्कारों से उत्पन्न किसी दुर्घटना की असंगति का परिचायक होती है । यदि मैं उसकी थोड़ी भी सहायता कर सकूं तो वह मेरी खुशी ही नहीं, मेरा संतोष, मेरी एक तरह से तृप्ति होगी ।"[59] इस प्रकार का आत्मिक लगाव जिसके मूल में व्यक्ति की मनःस्थिति होती है, आनंद के सूक्ष्म तत्व को प्रस्फुटित करती है ।

व्यक्ति अपने जीवन में स्थूल सुखों की प्राप्ति मुख्यत: इन्द्रियों के आधार पर ही करता है। लेकिन इनके आत्मसातीकरण में इनका अनुभव व सूक्ष्म के धरातल पर ही होता है। देखने, सुनने, सूंघने, छूने व चखने की इन्द्रियाँ सुख का आधार भौतिकता में पाती हैं लेकिन इन इन्द्रियों से सुख का भौतिक रूप मन तक पहुंचाने में सूक्ष्म रूप ग्रहण कर लेता है। यह सिर्फ अनुभूति ही होती है। "दिल्ली की बसों में घूमते हुए कई बार ऐसा अवसर आया कि कोई महिला आकर मेरे पास बैठ गई, ऐसी स्थिति में मैं सदैव उपस्थिति से तटस्थ होकर बरतने का प्रयत्न करता रहा हूं। मैं ऐसे व्यवहार करता हूं कि मेरे पड़ोसी व्यक्ति को यह गलतफहमी न हो कि मैं उसके स्पर्श को एक प्राप्ति के रूप में लेना या पकड़ना चाह रहा हूं।"[60] व्यक्ति यह सुख आत्मिक सूक्ष्म सुख के रूप में ग्रहण करता है। इसी का अहसास सूक्ष्म सुख कहलाता है। सभ्यता के तेज़ विकास के साथ व्यक्ति का गतिमय जीवन विभाजित होकर रह गया है। इन्द्रियों से प्राप्त चेतना उसके सूक्ष्म मन को उद्वेलित नहीं कर पाती। "सुख बाहरी वस्तुओं में नहीं बल्कि स्वयं में खोजना चाहिए। यदि ऐसा नहीं किया जाए तो सुख नहीं मिल सकता।"[61] वस्तुओं तथा इन्द्रियों का सुख व्यक्ति के मन में सिर्फ उसके भोग तक ही प्रभावी होता है जबकि सूक्ष्म सुख मन की गहराई में जड़ जाता है।

सूक्ष्म सुख मानसिक सुख की एक स्थिति है। मानसिक लगाव, मानसिक एकाग्रता एव भावनाओं का इसमें महत्वपूर्ण स्थान होता है। सूक्ष्म सुख भावनात्मक लगाव में संभव है। इसे "एक इंच मुस्कान" की अमला और "रेखा" की नायिका स्वयं स्वीकारती है। स्थूल सुख की अनुभूति की तुलना में सूक्ष्म सुख से प्राप्त होनेवाली अनुभूति अधिक स्थाई होती है। यह मन पर एक प्रभाव छोड़ जाती है। मानसिक संतुष्टि प्राप्त होने से व्यक्ति में भटकाव की गुंजाइश कम हो जाती है। सूक्ष्म सुख की अनुभूति फूल की सुगंध की तरह व्यक्ति के मन में महकती है, यही आनन्द भी है और आनंद की पराकाष्ठा भी कही जाती है।

स्थूल सुख :

उपभोक्ता समाज में व्यक्ति की प्राथमिक आवश्यकता की वस्तुओं का विकास जिस गति से बढ़ रहा है उससे व्यक्ति की सूक्ष्मता तिरोहित होती जा रही है । अपने आन्तरिक परिष्करण में व्यक्ति अपनी मानसिक, आध्यात्मिक या सूक्ष्मता की योग्यता भी खोता जा रहा है । उसके आसपास के जीवन में भौतिकता की चकाचौंध कुछ ज्यादा ही फैलने लगी है । इन्हीं वस्तुओं द्वारा सुख की प्राप्ति आज के आधुनिक जीवन का पर्याय बन गई है। यह व्यक्ति के विकास की देन है जहाँ उसका जीवन अधिकाधिक भौतिकवादी तथा भोगवादी बनता जा रहा है । भोगवादी वस्तुएं व्यक्ति के जीवन में स्थाई प्रभाव नहीं छोड़तीं बल्कि इनसे प्राप्त अनुभूति केवल उनके प्रयोगकाल तक ही सीमित होती है । आज के आधुनिक जीवन में सम्पन्नता के मानदण्ड इन्हीं भौतिक तत्वों पर आधारित हैं ।

1960 का दशक आते-आते भारत में पाश्चात्यीकरण की गति अपनी पराकाष्ठा पर थी । समाज में पाये जानेवाले वस्तुगत सुख या स्थूल सुख के विभिन्न रूप तथा आयाम इस दौरान रचे गये साहित्य में अलग-अलग दृष्टिकोणों से प्राप्त होते हैं । व्यक्ति की धारणा भौतिकवादी हो जाने के कारण स्त्री की परम्परागत अवधारणा में भी विशेष परिवर्तन प्राप्त होता है । स्त्री जीवन की सहभागिनी से हटकर सिर्फ एक भोग्या ही बनकर रह गई । पुरुष की रुचि सिर्फ उसकी स्थूलता में ही रह गई ।

स्थूल सुख का उत्कृष्ट रूप "देहगाथा" उपन्यास में प्राप्त होता है । नायक के लिये औरतें साधन मात्र हैं उद्देश्य नहीं । उसके लिये औरतें एक माध्यम हैं सुख-प्राप्ति का । वह स्वीकारता है, "मैं जानता हूं कि मैं किसी भी औरत को प्यार नहीं कर सकता । प्यार नहीं कर सकता कि औरतें मेरे लिए माध्यम मात्र हैं, उद्देश्य नहीं है, और साधन को सिद्धि समझ लेने की गलती मैं नहीं कर सकता हूं ।"[62] औरतों के माध्यम से वह समाज को देखता है या समाज को न भी देख पाए तो कम से कम औरतों को देखता है । उन्हें

समझने की चेष्टा या आकांक्षा करता है लेकिन किसी से वह प्रेम नहीं कर सकता । स्थूल सुख की प्राप्ति के लिये " ... उपयोगिता की वेदी पर "हार्दिकता को इन्सान कुर्बान करने लगा जाता है ।"63 यानि व्यक्ति अपने उपभोग के लिये कुछ भी करने को तैयार रहता है । उपभोग के समय वह अपने मन, हृदय आदि में उठनेवाली भावनाओं को अलग उठाकर रख देता है । समाज के इस विकास में स्त्री का भयानक नुकसान हो रहा है । उनकी भलमानसता का फायदा उठाकर सिर्फ उन्हें छला जा रहा है क्योंकि पुरुषों का मानना यह रहा है कि "स्त्रियाँ कुछ चीजों से सुखी होती हैं । खरीददारी, सिनेमा, फूल, चुम्बन -- कोई भी चीज उन्हें सुखी बनाने के लिये काफी है ।"64 उदाहरणार्थ इन चारों ही वस्तुओं का प्रयोग आजकल के जीवन में स्थूल रूप से ही किया जाने लगा है । स्त्रियों के मन की कोमल चंचलता का फायदा ही आज भौतिक सुख का आधार बना हुआ है । इसके विपरीत स्त्रियाँ भी अपनी मनुहार संचित नहीं रख पातीं । पश्चिम से प्रभावित फैशन इनके जीवन का अभिशाप बना हुआ है । "ये लड़कियाँ फैशनेबुल थीं और बेवकूफ थीं और पता नहीं क्यों, रोज खरीदते रहने पर भी, उन्हें कपड़ों की हमेशा कमी बनी रहती थी ।"65 अपने आप को फैशन सम्पन्न बना कर जीना कहीं न कहीं मानसिक संतुष्टि प्रदान करता है । लेकिन जब मन मूलतः बाह्यावरणों पर ही होता है तो वह स्थूल सुख का द्योतक होता है ।

स्थूल सुख में वस्तु के उपभोग में ही उसकी उपयोगिता है । नैतिकता के प्रश्न वहाँ आने से घबराते हैं । उच्च वर्ग अधिकतर सूक्ष्मता में ही जीता है। "मछली मरी हुई" का रघुवंश शीरीं से इसलिये विवाह करता है क्योंकि वह फुर्सत में था । यहाँ पर शुद्धता या नैतिकता जैसे दकियानूसी संस्कारों का प्रभाव उनमें नहीं मिलता । उसका कहना है, " ... वह खूबसूरत औरत थी । मैं फुर्सत में था । मैंने उससे शादी कर ली । शादी से पहले ही उसने मुझे बता दिया था कि वह अनगिनत मर्दों के साथ सो चुकी है । यही उसका पेशा रहा है । होटलों में नाचती रही है । शराब पीती रही है । सोती रही है । मैंने उससे नफरत नहीं की । मैंने अपने आप पर दया की । मैं उसे

साथ लेकर देश लौट आया ।"[66] रघुवंश अपने पूर्वगत के क्षणों के साथ अन्याय नहीं करना चाहता था क्योंकिउसे सुख का माध्यम मिल गया था । "किसी भी सही-गलत तरीके द्वारा मनुष्य अपने स्वार्थों के अनुकूल जब अपनी कामनाओं की तुष्टि करने का प्रयत्न करता है तब सुखवाद की सत्ता स्थापित होती है । इस दृष्टि से सुखवाद लोक मर्यादा, लोकहित, धर्म, नीति, मोक्ष, दया, ममता, सहानुभूति आदि के विरूद्ध ठहरता है ।"[67]

राजकमल चौधरी के "मछली मरी हुई" उपन्यास में आद्यांत जिस सुख को आयाम दिया गया है वह मूलत: शारीरिक स्थूल सुख ही है । इसका एक कारण इसके पात्रों का धनी होना भी है । इसमें शीरीं के चरित्र में एक अजीब सी कुंठा भरी गई है । "सौन्दर्य के सिवाय शीरीं मेहता के जीवन का कोई उद्देश्य नहीं रह गया है । x x x शरीर-रक्षा के सिवाय, और कभी-कभी निरजीत मेहता के बिस्तर में जाने के सिवाय उसे कोई काम नहीं है ।"[68] यह स्थिति इतनी स्थूल तथा उसके सोच में ढलती जाती है कि भोग में स्थूल सुख के सिवाय वह किसीभी प्रकार का आत्मिक आनंद प्राप्त नहीं कर पाती । "फिर कभी इधर नहीं आना, निर्मल । ..... तुम आदमी नहीं हो, नरक के कीड़े हो । ..... मत आना कभी ।"[69] शीरीं की यह मानसिक कुंठा शारीरिक भोग के प्रति निर्मित हुई उसकी स्थूल दृष्टि को सूचित करती है । साथ ही यह मानसिकता सातवें दशक में फैलनेवाली उस दृष्टि को भी इंगित करती है जो अधिकांश, मुख्यत: उच्च वर्गीय, समाज में व्याप्त हो चली थी । ऐसे ही स्थूल सुख की अभिव्यक्ति "एक इंच मुस्कान" में भी प्राप्त होती है । "एक साल में कोई क्या समझेगा कि कोई सुखी था या नहीं -- फिर न वह उम्र ही यह सब समझने लायक थी, न वैसी बुद्धि ही थी । याद तो पड़ता है कि शायद उस समय मैं शायद सुखी ही थी । अब तो खुद मुझे भी विश्वास नहीं होता पर सच मानना, उस समय बढ़िया कपड़े और हीरे-मोती का जेवर पहनकर पति के साथ सिनेमा देख आना ही शायद मेरे लिये चरम सुख था, और मेरे पास कपड़ों और ज़ेवर का अभाव नहीं था । वे मुझे कभी-कभी सिनेमा भी ले जाया करते थे .... हाँ, ये सब सुख शायद मुझे प्राप्त ही थे .... सुख की कैसी सीधी, सरल परिभाषा है न ?"[70] उपन्यासों के इन पात्रों में अपने जीवन की

दिनचर्या से कहीं भी नाममात्र को मानसिक लगाव प्राप्त नहीं होता । इसीलिए तो भरे-पूरे, सपाट जीवन में सुख की परिभाषा शायद इतनी सरल व सतही हो गई । व्यक्ति के मन का गुंफन भौतिकता के ठोस धरातल को तोड़कर जीवन की ऊपरी सतह पर आ नहीं पाता ।

"मुक्तिबोध" उपन्यास की नीला ही सहाय के मनोविज्ञान को समझती है । उसकी मानसिक गुत्थी को सुलझाती है । शारीरिक धर्म में विश्वास करती हुई वह कहती है, " ... बुद्धि का गुमान तुम्हारी तरह मुझे तो नहीं हो सकता है । शरीर का ही हो सकता है ।"[71] व्यक्तिवादी नीला एक और स्थल पर कहती है कि शरीर से बड़ा सच कोई और नहीं हो सकता । "तुम्हारा सच कपड़ों में है, लिबास में है, और सच्चाई से डरने में है ।"[72] वस्तुतः नीला सहाय के लिये एक ताज़ी हवा है जिसमें खुलापन है जो सहाय के बन्द मन को खोलती है ।

स्थूल सुख एक ऐसा सतही सुख है जहाँ व्यक्ति का स्वार्थ किसी भी सीमा तक पहुँच सकता है । "मरी हुई मछली" के निर्मल की माँ अपने भौतिक सुख के लिए लारीवाले के साथ भाग जाती है और अपना मकान भी बेच देती है । जिसकी प्रतिक्रिया निर्मल के मन में यह होती है -- "माँ को आदमी की ज़रूरत थी, अच्छा किया जो चली गई लेकिन मकान क्यों ले गई ?"[73] ऐसा लगता है "सब भौतिक परिस्थिति में रहते हैं ।"[74] स्थूल सुख के पीछे सदा ही त्याग और कर्तव्य जैसी उदात्त भावना का हमेशा निरादर ही होता आया है । "लगभग सभी शुद्ध चरित्र की नीतियाँ मनुष्य को विचारशीलता के योग्य बनाती हैं जबकि लगभग सभी कामुक सुख मन को इन्द्रियगत वस्तुओं की ओर झुकाते हैं ।"[75] निर्मल पद्मावत की माँ का सम्पत्ति के साथ भाग जाना तथा निर्मल का सम्पत्ति के प्रति लगाव भौतिकता की ओर जाने की प्रवृत्ति को दर्शाता है ।

भौतिक तथा स्थूल सुख में व्यक्ति के संबंध गहरा नहीं पाते । वे सिर्फ स्वार्थ, आवश्यकता, उपभोग, रुचि आदि के सतह पर ही जमे रह जाते हैं । व्यक्ति के जीवन में धन के बढ़ते महत्व ने उसे उपयोगितावादी बनने पर विवश कर दिया है । धनजीविता की चेतना द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद सारे मानव

समुदाय में फैलने लगी थी । यही चेतना भारतीय समाज में छठे दशक के बाद से गति पकड़ती गई । क्षण के परिप्रेक्ष्य में व्यक्ति मानसिक चेतना के मूल से छिटक गया है । "अकारण ही एक झटके से उसे याद आया, अमला का पहला पत्र मिला था -- "मेरे अनेक मित्र हैं अमर जी, किसी से ब्रिज के क्लब-स्पेड की बातें होती हैं, किसी से साड़ियों और सिनेमाओं की आप आज्ञा दें तो आपसे समय-समय पर लिखने पढ़ने की बातें कर लिया करूँ ? ..... लेकिन शर्त रहेगी हमारी दोस्ती की । हम में से कोई जब भी ऊब जाएगा तो चुपचाप परिधि से निकल जाएगा और दूसरा उसका कारण नहीं पूछेगा ..... रेल के मुसाफिरों जैसी नियति मानकर ही हम लोग निकल आयेंगे ....."76 अमला का रेल के मुसाफिरों की तरह संबंध बनाने की इच्छा मन की गहराई से नहीं जन्मी है । व्यक्तिवादी स्तर की यह नियति अपनी सम्पूर्ण भयावहता के साथ सातवें दशक की मानवीय चेतना में दिखाई देती है ।

स्थूल सुख मूलत: बाह्य आकर्षण और बाह्यावरणों पर आधारित केवल क्षणिक ही होते हैं । इससे व्यक्ति को मानसिक संतुष्टि की पूर्णता प्राप्त नहीं होती । यही अपूर्णता उसके मानस को आन्दोलित करती है । "मछली मरी हुई" की शीरीं और "एक इंच मुस्कान" की अमला भौतिक सुखों से ऊब जाते हैं । "मछली मरी हुई के निर्मल में स्थूलता के कारण स्वभाव में जंगलीपन आ जाता है । "देहगाथा" के नायक के लिये नारी केवल साधन ही है । स्थूल सुख से होनेवाली ऊब व्यक्ति को उसकी अपूर्णता का बोध ही कराती है । इसी स्थूलता के तीखे बोध के पश्चात् व्यक्ति सूक्ष्मता की ओर जाना चाहता है । अमला अपने अमीर पति को छोड़कर लेखक अमर से परिचय बढ़ाती है । निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति के जीवन में स्थूल सुख की व्याप्ति स्थाई नहीं होती । यदि व्यक्ति अपने जीवन में लगातार स्थूल सुख का ही भोग करता रहता है तो वह सुख पाने के लिये धीरे-धीरे पाशविक वृत्तियों को अपनाने में भी पीछे नहीं हटता इस स्थिति में व्यक्ति की इंसानियत का शनै: शनै: ह्रास होने लगता है और वह मनुष्यता से नीचे की ओर खिसकने लगता है ।

पाशविक सुख :

व्यक्ति जब मानवीय स्तर से नीचे गिरने लगता है तब उसमें पाशविकता की वृत्ति आने लगती हैऔर वह अपने क्षणिक सुख के लिए अमानवीय कार्य करने लगता है । पाशविकता में एक विध्वंस का सुख होता है । निर्ममता व क्रूरता इस वृत्ति के स्वाभाविक गुण हैं । पाशविक प्रवृत्ति नारी की अपेक्षा पुरूष में अधिक पाई जाती है ।

हर व्यक्ति की अपनी समझ के अनुरूप सुख प्राप्ति के अपने-अपने विशिष्ट माध्यम होते हैं । आजकल के व्यक्ति का सामाजिक परिदृश्य इतना कठोर तथा नीरस हो गया है कि वह अपने ही बनाये हुए उपादानों से सुख या आनंद की अनुभूति को नियार पाने में अधिकांशत: असमर्थ हो रहा है । सुख-प्राप्ति में जिस कोमलता, तनुता व सरसता की आवश्यकता होती है, वह वृत्ति आज के व्यक्ति में दिखाईनहीं देती । रंग-गंध युक्त फूल की कोमल पंखुड़ियों को व्यक्ति अपने सुख-सौन्दर्य हेतु आत्मसात करने की अपेक्षा उन्हें रगड़-मसल कर ही एक अजीब तरह का अमानवीय सुख प्राप्त करना ही अपना ध्येय तथा वृत्ति मानता है। जैसे-जैसे मनुष्यता का, मनुष्य की सभ्यता का विकास हो रहा है, मनुष्य मनुष्यता त्याग कर पाशविकता की ओर बढ़ता जा रहा है । यही उसके सुख का भी विकास है । मनुष्य की विकसित सभ्यता की इस बीसवीं सदी में जिस "ह्यूमेनिटी" का नारा लगाया जा रहा है वह व्यक्ति की इसी पाशविकता की देन है ।

विध्वंस नव-निर्माण के लिये होता हैपरन्तु व्यक्तिगत स्तर पर इस प्रवृत्ति का उद्देश्य केवल तोड़ना ही होता है । इस उद्देश्य के पीछे बदले की भावना, कोई शर्त या वहशियत का तकाजा होता है । व्यक्ति के पास परिस्थितियाँ एक ऐसा हथियार है जिससे किसी भी समय बचाव किया जा सकता है । शीरीं की "माँ उसे बताया करती थी, हर मर्द जानवर होता है । जंगली जानवर । औरत को उसके जंगलीपन के आगे झुकना ही पड़ता है । झुकना ही चाहिए । झुकना ही चाहिए और नफरत करनी चाहिए । क्योंकि मर्द खूंखार होता है । औरत को तकलीफ देना ही उसे आता है, सुख देना नहीं ।"[77] शीरीं के मन में यह बात तब घर कर जाती है जब उसकी

माँ प्रसव-वेदना में तड़प-तड़प कर मर जाती है और दूसरी ओर उसका पिता शराब तथा दूसरी औरत में डूबा रहता है । इन स्थितियों की प्रतिक्रिया में वह समलैंगिक आकर्षण का शिकार होती है और पुरुष वर्ग से नफरत करना शुरू कर देती है ।

काम के परिप्रेक्ष्य में पाये जानेवाले प्रतिकार की वृत्ति में व्यक्ति के पाशविकता खुलकर सामने आती है । "आदमी को मांसपिंड अपनी तरफ खींचता है । मांसपिण्ड को गर्मी खींचती है । लहू खींचता है । आदमी जानवर है । मांसपिंडों को नोच डालना चाहता है ।"[78] इतना ही नहीं रुधिर के उत्ताप में निर्मल शोरों को सोफे पर इस तरह फेंकता है जैसे "कुली मालगाड़ी के डिब्बों में पार्सल फेंकते हैं ।"[79] निर्मल को यह बेरहमी शोरी को जिन्दा लाश बना देती है । लेकिन कामांध निर्मल अपनी इस पाशविकता में आनंद की अनुभूति प्राप्त करता है । इसी उपन्यास की अन्य प्रमुख पात्र कल्याणी को मानसिकता भी शारीरिक धरातल पर विकृत जान पड़ती है । विदेश में रह कर कई पुरुषों के साथ बनाये गये शारीरिक संबंध उसके सुख की खोज के पड़ाव हैं । उसकी सम्पृक्तता इतनी बढ़ जाती है कि उसे कोई पुरुष मनोनुकूल सुख नहीं दे पाता । यह स्थिति उसके स्वाद में विकृतता भर देती है । "शारीरिक धरातल पर स्खलित होकर भी उसने अपने "विल पवर" को कभी मरने नहीं दिया, जैसा कि अधिकतर ऐसी स्थिति में होता है । पुरुष चूंकि पाना चाहते हैं और अपने पुरुषत्व का झंडा फहराना चाहते हैं, वह पुरुष को स्खलित करा कर प्रतिशोध का सुख अनुभव करती है ।"[80] "उसे पुरुष का साथ चाहिए, भले ही वह "नर-कंकाल" क्यों न हो ।"[81] प्रतिशोध की यह भावना उसकी कामुकता में मानसिक समाधि-सुख के स्थान पर पाशविकता की वृत्ति को पनपाती है ।

"भागे हुए लोग" की पार्वती का अनुभव कहता है कि पुरुष का प्रेम विवाह के कुछ वर्षों बाद ही खत्म हो जाता है, और बच्चों के बाद लगभग समाप्त हो जाता है । इस कारण उसके मन में प्रेम-भावना का सही विकास नहीं हो पाता, केवल काम ही उसके जीवन का सच बन जाता है । "इसका एकमात्र कारण यह है कि पुरुष अपनी आसक्ति और अनुरक्ति - अपनी वासना और बुद्धि - दोनों में पशु-प्रवृत्तियों से जुड़ा हुआ होता है । शायद पाशविकता से

मुक्त सिर्फ वह प्रज्ञा में ही होता है ।"[82] समस्त उपन्यास श्मशान वैराग्य एवं दृष्टिभोग को लेकर लिखा गया है । मित्र की माँ को जलती हुई चिता को देखकर सोचता है कि कपड़े जल जाने के बाद वह कैसी दिखाई देती होगी । रोती हुई मित्र की पत्नी से सम्भोग की इच्छा तथा अपनी पत्नी में परकीयापन की चाह एक विकृत दृष्टिभोग ही है । यथार्थ की असफलता उसे श्मशान वैराग्य की ओर ले जाती है जहाँ उसके स्वयं का ध्वंस होता है ।

भावना व प्रेम के अभाव में रिश्तों में पाशविकता आ जाती है । वूमेन्स वेलफेयर बोर्ड में मिसेज झरना ने प्रस्ताव रखा था कि "एग्नी पर उसके ने अत्याचार किया है और एक दिन पूर्व वह सारे काम अपने मन से करता रहा और कई बार उसने उसका ऐसा उपयोग किया कि एग्नी को यह सब शारीरिक अत्याचार के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं लगा ।"[83] प्रेम के अभाव में काम एक अत्याचार और पाशविकता से बढ़कर कुछ भी नहीं होता ।

भारत की राष्ट्रीय स्वतंत्रता के विषय पर लिखे गये उपन्यासों में सन्हैयालाल ओझा का उपन्यास "धर्म के नाम पर" मूलत: उन पाशविक वृत्तियों का चित्रण करता है जो धर्म तथा साम्प्रदायिकता के नाम पर निरीह देश-वासियों के साथ किये गये थे । इस समय हुए साम्प्रदायिक दंगों में मानवीयता एवं बंधुत्वता को दूर रखकर क्षणिक सुख के लिये पाशविकता का तांडव किया गया था । इस उपन्यास की पृष्ठभूमि नवनिर्मित पाकिस्तान के सीमावर्ती क्षेत्र थे जहाँ हिन्दुओं पर मुसलमानों द्वारा अत्याचार हो रहा था । ऐसी स्थिति में "डर कर हिन्दू अपने मुसलमान मित्रों के घर आश्रय लेने के लिये गये, प्रात:काल मित्रों ने बड़े रस और अभिमान के साथ अपनी टोली में बतलाया कि किस तरह बेवकूफ काफिर चारपाई से बंधे को हाल में नींद से उठाए गए, किस तरह उनकी आँखों के सामने उनकी बेटियों और पत्नियों को नंगा करके बेइज्जत किया गया, या किस तरह उन महिलाओं की उद्दारी का छुरी की नोंक से उनकी छाती पर खून के चित्र बनाकर बदला लिया गया और फिर अंत में किस तरह वे ही छुरियाँ उन हतभाग्य काफिरों के गले लगा दी गई ।"[84] व्यक्ति के सुख चाहने की इस स्थिति में मानवीयता का कोई अंश नहीं बल्कि पाशविकता या पैशाचिकता ही प्रमुख है । इस स्थिति का सुख व्यक्ति के लिये क्षणिक तथा भौतिक धरातल तक ही सीमित होता है ।

रामकुमार "भ्रमर" का उपन्यास "तीसरा पत्थर" चम्बल के समाज के परिप्रेक्ष्य में लिखा गया है जहाँ पाशविकता, विध्वंस, क्रूरता आदि डाकुओं के सामाजिक संस्कार हैं । अपराधियों में इस वृत्ति का पाया जाना उनकी सामाजिक स्थितियाँ तथा वातावरण के कारण होती है । अपनी इसी भावना में वे आनंद का अनुभव करते हैं । इस उपन्यास की एक पात्र भगवती क्रूर सुख उठाकर प्रसन्न रहती है । "किसी की पीड़ा को आनंद का कारण बनाया जाए । पर भगवती ऐसी घटनाओं की स्मृति तक में मजा लेती है । फौजदार सिंह ने जब-जब लालाराम के किसी परिवारवाले या किसी नाते-रिश्तेदार की हत्या की है, तब-तब भगवती ने ऐसा ही आनंद लूटा है ।"[85] अपने परिवार के पुरुषों का बागी हो जाने के कारण भगवती के स्वभाव में क्रूरता आ जाती है और वह लगातार एक प्रकार के प्रतिशोध में जीती है ।

व्यक्ति के मन पर जब जुनून छाने लगता है तब आक्रोश का भाव ही उसके मन पर स्थायी रूप धारण करने लगता है । पाशविक सुख में वस्तुगत लगाव अस्वाभाविक हो जाता है । वस्तु-प्राप्ति की आकांक्षा एक जिद बन जाती है और वस्तु के तोड़-मरोड़ के बाद यह जिद समाप्त हो जाती है । इस ध्वंसात्मक मनःस्थिति में सुंदरता की कोई उपयोगिता नहीं रह जाती । पाशविक सुख में वस्तु की उपयोगिता या महत्व उसके गलत प्रयोग तथा उसके तोड़-फोड़ में है । इसमें व्यक्ति का शरीर एक पार्सल की तरह होता है जिसे बेरहमी के साथ मालगाड़ी में फेंका जाता है । प्रेम-भावना का लगाव जब मानवीय संबंधों से किलगाने लगता है तब व्यक्ति में जड़ता व पाशविकता आने लगती है । उसके भीतर पाये जानेवाले मानवीय अंश सूखने लगते हैं । समाज में पाशविकता की स्थिति अधिकतर धर्म के नाम पर सिर उठाती है । कामुकता, ऐय्याशी और मानसिक असंतुलन के कारण भी व्यक्ति में पाशविकता आने लगती है । वस्तु की प्राप्ति के लिये लम्बा संघर्ष, उसकी थकान और परिणाम में असफलता निराशवादी तो बनाती ही है, साथ में उस व्यक्ति विशेष को पशु भी बना देती है । लेकिन जब मनुष्य अपनी मनुष्यता त्याग कर अमानवीय होने लगता है तब वह इसी तोड़-मरोड़ में आनंद की अनुभूति करता है ।

निष्कर्ष :

व्यक्तिवादी सुख की भोग्य प्रवृत्ति सातवें दशक के उपन्यासों की प्रमुख घटक है । व्यक्तिवादी विचारधारा के सुखाकांक्षी पात्रों को अपने अस्तित्व और अस्मिता की ओर विशेष रुचि मिलती है । प्रथम स्तर पर उनके आगे अपना व्यक्तित्व होता है और दूसरे स्तर पर समाज । कर्तव्य, त्याग या बलिदान की अपेक्षा व्यक्ति वही वस्तु स्वीकारता है जो उसे आवश्यक होती है । व्यक्तिवादी विचारधारा का प्रतिनिधित्व करते इन उपन्यासों के पात्र सुख की प्राप्ति के लिये प्राय: दु:ख भी झेलते हैं । इच्छित वस्तु की प्राप्ति सुख है लेकिन वस्तु की प्राप्ति के पश्चात् उसका निरादर दु:ख का स्त्रोत बनता है । "रेखा" उपन्यास की रेखा अपनी इच्छापूर्ति और सुख की लालसा के लिये जीवन से भागती है, भटकती है और स्वयं को अधूरा महसूस करती है । सामाजिक परंपरा का निर्वहन करनेवाला "चौदह फेरे" का पात्र कर्नल नंदी से विवाह तो कर लेता है लेकिन अपने व्यक्तिगत सुख के लिये अन्य स्त्री से भी संबंध बनाता है। विवाह के लिये सामाजिक नियमों का पालन करके भी वह व्यक्तिगत सुख को नहीं त्यागता । दूसरी ओर "रेखा" उपन्यास की देखो विवाह के उपरान्त भी प्रभाशंकर से केवल आर्थिक सहायता के लिये संबंध कायम रखती है । समाज का बहिष्कार कर "मछली मरी हुई" की कल्याणी अनेक पुरुषों से संबंध रखती है । "मुक्तिबोध" का सहाय पत्नी के अतिरिक्त प्रेमिका रखकर सुखी जीवन बिताना चाहता है ।

एक ओर व्यक्तिवादी पात्र इच्छित वस्तु के माध्यम से सुख प्राप्त कर लेते हैं लेकिन दूसरी ओर उन्हें इसके लिये सामाजिक नियमों का उल्लंघन भी करना पड़ता है । इसीलिये दु:ख में कोई उन्हें साथ नहीं देता । अकेलापन उनकी नियति नहीं बल्कि विवशता होती है । भारत का अधिकांश समाज अशिक्षित होने के कारण बुद्धिवादियों को समझने में भी असमर्थ होता है इसीलिए बुद्धिजीवी प्रचलित समाज से कट कर अलग समाज का निर्माण करते हैं । व्यक्तिवादी विचारधारा का प्रतिनिधित्व करनेवाले अधिकांश पात्र बुद्धिजीवी होते हैं । इनमें चिंतन की क्षमता होती है । अपने तात्कालीन जीवन में रुद्

परम्पराओं का अन्धानुकरण करना उनके लिये असंभव होता है ।

कुछ पात्र सामाजिक मान्यताओं, मर्यादाओं व नियमों के अंतर्गत रह कर अपनी इच्छाओं की पूर्ति करते हैं । साथ ही समाज को अपना योगदान भी देते हैं । ये पात्र परिवार और समाज के लिये त्याग एवं कर्तव्य की भावना भी रखते हैं । लेकिन व्यक्ति में अपने व्यक्तिगत सुख की इच्छा इतनी तीव्र होती है कि वह सामाजिकता की आड़ में व्यक्तिगत सुख का परित्याग पूर्णत: नहीं कर पाता और अवसरवादी बन जाता है । व्यक्ति की अपेक्षा सामाजिक ढांचा अधिक मजबूत होता है इसीलिये वह जीवन को सुचारु रूप से चलाने के लिये इन बंधनों के पालन का अभिनय करता है । भारतीय परिवेश में संस्कार, वर्ग-वैषम्य आदि तत्व व्यक्ति के सुख में सहयोगी भी साबित होते हैं और यही उनके दु:ख का कारण भी बनते हैं ।

व्यक्ति जीवन में मूलत: सुख ही चाहता है । व्यक्तिवादी और सामाजिक पात्रों के सुख, दु:ख में कुछ भिन्नता मिलती है । सामाजिक व्यक्ति दूसरों के सुख के लिये अपने सुख का त्याग करता नज़र आता है और व्यक्तिवादी पात्र अपने सुख के लिये दूसरों को त्यागता नज़र आता है ।

सूक्ष्म सुख का वह रूप है जिसकी अनुभूति व्यक्ति को मानसिक संतुष्टि प्रदान करती है । सूक्ष्म सुख में घनिष्ठता का माध्यम भावना बनती है । सूक्ष्म सुख द्वारा ही अनुभूति में आत्मिक आनंद प्राप्त होता है । इसके विपरीत स्थूल सुख मात्र वस्तु के उपभोग पर ही निर्भर होता है । उपभोग के बाद वस्तु की उपयोगिता प्राय: समाप्त हो जाती है । भौतिकता का प्रभाव व्यक्ति के दैनिक जीवन पर गहराई से पड़ता है । स्तर, स्वार्थ और आवश्यकता का स्थान व्यक्ति के जीवन में बढ़ने का ही परिणाम है कि "मछली मरी हुई" के निर्मल की माँ लारी वाले के साथ भाग जाती है । स्थूलता की अनुभूति जीवन में सतही ही होती है और व्यक्ति पुन: सूक्ष्मता की ओर अग्रसर होने का प्रयत्न करता है । स्थूलता की अतिशयता में व्यक्ति स्वार्थी और अवसरवादी हो जाता है । जबकि सूक्ष्मता की अनुभूति से व्यक्ति में मानसिक स्थिरता आ जाती है । यदि प्रतिशोध की भावना और मानसिक विकृति हो तो व्यक्ति में पाशविकता

के बीज अंकुरित होने लगते हैं । पाशविकता की प्रवृत्ति में व्यक्ति स्वयं तो पशु बनता ही है, साथ में दूसरे व्यक्ति को भी पशुवत प्रताड़ित करता है । क्रूरता से दूसरे व्यक्ति पर चोट पहुंचाकर आनंद का अनुभव करना पाशविक सुख का द्योतक है । सातवें दशक की मुख्य कृतियों में ऐसे ही सुखों में लिप्त पात्र यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं जो उस समय की मानसिकता को दर्शाते हैं ।

0
000
0

संदर्भ

1• हेमेन्द्र कुमार पनेरी, "स्वातंत्र्योत्तर हिंदी उपन्यासों में व्यक्ति प्रतिष्ठा", आलोचना, पृ• 61

2• रेखा, पृ• 198

3• उसका शहर, पृ• 32

4• – वही – पृ• 96

5• चौदह फेरे, पृ• 14

6• – वही – पृ• 119

7• रेखा, पृ• 89

8• डॉ० दंगल झाल्टे, नये उपन्यासों में नये प्रयोग, पृ• 51–52

9• रेखा, पृ• 25

10• शंकर प्रसाद, सामाजिक उपन्यास और नारी मनोविज्ञान, पृ• 76

11• मुक्तिबोध, पृ• 47

12• राजेन्द्र सिंह टीकी, रमेश बक्षी के उपन्यासों में व्यक्तिबोध, पृ• 30

13• मुक्तिबोध, पृ• 78

14• अँधेरे बंद कमरे, पृ• 355

15• अजय की डायरी, पृ• 390

16• – वही – पृ• 48

17• राजेन्द्र सिंह टीकी, उपरिलिखित, पृ• 27

18• अजय की डायरी, पृ• 49

19• भटियाली, पृ• 103

20• रेखा, पृ• 111

21. विषात्र, पृ. 139
22. डॉ0 कुंवरपाल सिंह, हिन्दी उपन्यास सामाजिक चेतना, पृ.200
23. राग दरबारी, पृ. 170
24. - वही - पृ. 244
25. विश्वंभर दयाल गुप्त, उपन्यास का समाजशास्त्र, पृ. 214
26. मुक्तिबोध, पृ. 15
27. उसका शहर, पृ. 100
28. मेक आइवर एवं पेज, उपन्यास का समाजशास्त्र, पृ. 214 से उद्धृत
29. नरेन्द्र मोहन, आधुनिक हिन्दी उपन्यास, {सं0} भीष्म साहनी से उद्धृत पृ. 175
30. अँधेरे बंद कमरे, पृ. 295
31. मुक्तिबोध, पृ. 71
32. रेखा, पृ. 132
33. विश्वंभर दयाल गुप्त, उपरिलिखित, पृ. 120
34. लोबो, उपन्यास का समाजशास्त्र से उद्धृत, पृ. 120
35. रेखा, पृ. 73
36. भागे हुए लोग, पृ. 116
37. चौदह फेरे, पृ. 6
38. - वही - पृ. 6
39. अमृत और विष, पृ. 118
40. हेमेन्द्र कुमार पनेरी, "स्वातंत्र्योत्तर हिंदी उपन्यासों में व्यक्ति प्रतिष्ठा", आलोचना - पृ. 60

41• विपात्र, पृ• 146

42• - वही - पृ• 146

43• रेखा, पृ• 94

44• - वही - पृ• 125

45• उसका शहर, पृ• 94

46• तीसरा पत्थर, पृ• 71

47• डॉ० राजेन्द्र प्रताप, हिंदी उपन्यास तीन दशक, पृ• 21

48• विपात्र, पृ• 137

49• - वही - पृ• 124

50• - वही - पृ• 149

51• डॉ० आलोक गुप्त, मुक्तिबोध : युग चेतना और अभिव्यक्ति, पृ• 222

52• रूकोगी नहीं ..... राधिका, पृ• 30

53• भागे हुए लोग, पृ• 26

54• राजेन्द्र अवस्थी, काल चिंतन, पृ• 7

55• वे दिन, पृ• 171

56• - वही - पृ• 278

57• एक इंच मुस्कान, पृ• 84

59• धर्म के नाम पर, पृ• 637

60• अजय की डायरी, पृ• 157

61• 'Seek not the good in thing's external; seek it in yourselves : if you do not, you will not find it.
- EPICTETUS, Qtd. from 'Great Treasury of Western Thoughts, P. 588

62. देहगाथा, 77

63. मुक्तिबोध, 28

64. दूसरी बार, पृ. 91

65. राग दरबारी, पृ. 342

66. मछली मरी हुई, पृ. 132

67. सुरेश चन्द्र सहल, नई कविता और उसका मूल्यांकन, पृ. 134

68. मछली मरी हुई, पृ. 88

69. - वही - पृ. 68

70. एक इंच मुस्कान, पृ. 26

71. मुक्तिबोध, पृ. 58

72. - वही - पृ. 68

73. मछली मरी हुई, पृ. 41

74. मुक्तिबोध, पृ. 35

75. 'The virtue of chastity most of all make man apt for contemplation, since sexual pleasure most of all weigh the mind down sensible objects.' - ACQUINAS, Qtd from Great Treasury of Western Tho P. 227

76. एक इंच मुस्कान, पृ. 13

77. मछली मरी हुई, पृ. 110

78. - वही - पृ. 67

79. - वही - पृ. 106

80. शंकर प्रसाद, सामाजिक उपन्यास और नारी मनोविज्ञान, पृ. 77

81. मछली मरी हुई, पृ. 72

82. भागे हुए लोग, पृ. 97

83. उसका शहर, पृ. 70

84. धर्म के नाम पर, पृ. 31

85. तीसरा पत्थर, पृ. 47

काल की व्याप्ति और आलोच्य उपन्यासों में कुंठा का विश्लेषण

प्रस्तावना :

काल एक प्रवाह है जो अनाद्यान्त है । काल के इस प्रवाह से कोई जीवन बंधा तो नहीं होता लेकिन काल व्यक्ति के जीवन में अपनी एक विशिष्ट भूमिका निभाता है । वस्तुत: जिये जा रहे जीवन में ही काल की सापेक्षता सिद्ध होती है । जीवन स्वयं में कुछ ऐसा तत्व है जिसमें निरंतर कुछ न कुछ नया आता है, घटता है और बीत जाता है । ऐसे ही विभाजन की सुविधा के लिये काल का त्रिआयामी विभाजन किया गया । व्यक्ति के सामने अधिकांशत: अपने जीवन से संबंधित लगभग सभी घटनाओं-दुर्घटनाओं का लेखा प्रस्तुत तो रहता है फिर भी किसी अनहोनी या अप्रत्याशित घटना का व्यक्ति को आभास तक नहीं होता । अन्जाने ही उसके निर्धारित लक्ष्य अपनी स्थिति से डगमगा जाते हैं । इसी संदर्भ में दूसरी ओर परामनोवैज्ञानिक दृष्टि का यह भी मानना है कि मनुष्य में पाँच के अतिरिक्त एक अन्य छठी इन्द्रिय भी होती है जो मुख्यत: भविष्य में होनेवाली दुर्घटनाओं का आभास दिलाती है ।

व्यक्ति अपने वर्तमान में जिन-जिन घटनाओं से गुजरता है उनके सफल तथा मनोनुकूल क्षणों को वह अपने अतीत में संजोकर रखता है । परिस्थितिवश जब भी उसका वर्तमान दु:खदायी प्रतीत होता है तब वह उन बीते हुए सुखद क्षणों को याद भर कर लेता है और अपने वर्तमान के दु:ख को भूलने का प्रयत्न करता है । वर्तमान भी वस्तुत: व्यक्ति का अपना वह क्षण है जहाँ वह कार्यशील रहता है । वर्तमान में व्यक्ति मुख्यत: उन्हीं घटनाओं से जुड़ा होता है जो उसके जीवन में सुख प्रदान करते हैं । वर्तमान की इन प्रक्रियाओं में उनके सभी जो अन्त तक एक नैरन्तर्य बना होता है । वर्तमान का किसी प्रक्रिया से जुड़ना सुख के उद्देश्य के लिये किसी लक्ष्य

को निर्धारित करना होता है । ऐसे में व्यक्ति की आकांक्षा भविष्यत् हो जाती है । भविष्य सुख कुछ और नहीं बल्कि किसी घटना, किसी उद्देश्य के लिये निर्धारित लक्ष्य एवं उससे प्राप्त होनेवाले सुखद परिणामों की प्राप्ति की प्रक्रिया ही होता है । ऐसे में भविष्यत् सुख निर्धारित लक्ष्य के परिणामों को प्राप्त करने का पर्याय होता है । इस प्रकार काल-बोध से प्राप्त सुख कोई विशिष्ट सुख न होकर जीवन की घटनाओं एवं प्रक्रियाओं से गुज़रनेवाला बोध होता है ।

काल के इन तीनों आयामों के परिप्रेक्ष्य में आलोच्य उपन्यासों में यह जानने का प्रयत्न अगले खण्ड में किया जाएगा कि इनके पात्र काल के बोध में किस प्रकार के विचार संप्रेषित करते हैं, वे त्रिआयामी काल की अनुभूति में किस-किस तरह से सुख का भोग करते हैं ।

स्मृति सुख :

तत्कालीन वर्तमान का गुज़रता हुआ हर क्षण अपनी एक स्मृति लिए अतीत में संचित हो जाता है । वर्तमान के खाली क्षणों में स्मृति के रूप में उन्हीं संचित क्षणों की पुनरावृत्ति होती है । अतीत मनुष्य की स्मृति का एक ऐसा संचित कोष है जिसमें वर्तमान में घटित घटनाएं मन को प्रभावित कर जमा होती जाती हैं । वर्तमान के खालापन को भरने के लिए व्यक्ति बार-बार अतीत की ओर देखता है । वर्तमान की असफलताएं, नाउम्मीदें भी व्यक्ति को अतीतवादी बनने तथा उनकी मानसिक पुनरावृत्ति करने को मजबूर करती है, क्योंकि भविष्य अनदेखा और अंजाना होता है । जहां आगे बढ़ने की राह नहीं होती, वहां व्यक्ति रूक जाता है और पीछे की तरफ देखता है । वहां कोई भविष्य नहीं दिखता, वर्तमान ठहरा प्रतीत होता है और अतीत धीरे-धीरे जीवित होने लगता है । कभी-कभी व्यक्ति अपने अतीत को पुर्नस्मरण करता तो है लेकिन परिस्थितिवश उसमें जीने में अक्षम हो जाता है । ये परिस्थितियाँ उसके विच्छिन्न वर्तमान के कारण होती है । "अतीत न केवल हमारे पीछे है, वह पीछे छूट गया है और अगति को प्राप्त हो चुका है । मनोवैज्ञानिक दृष्टि से वह मर चुका है। इतिहास में ही नहीं, व्यक्ति के निजी जीवन में भी अतीत मरता जा रहा है क्योंकि उसे जोड़नेवाली कड़ियाँ घिसती या टूटती जाती हैं ।"[1] वर्तमान के जीये जा रहे जीवन के साथ अतीत में जिये गये क्षणों में जब कोई तादात्म्य स्थापित नहीं हो पाता है तब लगता है अतीत व्यर्थ है लेकिन वर्तमान की अनुकूल स्थिति में अतीत एक सुखद उत्प्रेरणा बन जाता है ।

अतीतवादी या स्मृतिवादी सुख वह है जहां सुखाकांक्षा हेतु घटी घटना की अनुभूति को ताजा किया जाता है और कल्पना द्वारा उसी अनुभूति को पुनः वर्तमान में प्राप्त करने की कोशिश होती है, इस कोशिश में व्यक्ति कितना सफल होता है यह उसकी क्षमताओं पर निर्भर करता है । लेकिन केवल अतीत में ही जीना पागलपन है, क्योंकि वर्तमान जीवन में उसका कोई प्रत्यक्ष व्यवहारिक उपयोग नहीं होता । व्यक्ति अतीत में संचित स्मृतियों के कुछ पलों को ताजा करके वर्तमान को मनोनुकूल बनाकर सुख का संवर्धन करता है ।

व्यक्ति की मानसिक-शक्ति या स्मरण शक्ति भी अतीत के पुनर्प्रक्षेपण में विशिष्ट भूमिका निभाती है । "सभी कुछ स्मरण नहीं रखा जाता - बार-बार होनेवाली घटनाएं भी ज़रूरी नहीं कि स्मरण रखी जाएं - यद्यपि स्मरण करना और रखना और घटित स्मृतियों का संचयन करते रहना स्मृति का धर्म है ।"[2] ऐसी स्थिति में व्यक्ति मुख्यत: उन्हीं घटनाओं को याद करता है जो उसके वर्तमान से मेल खाती सुख प्रदान करता है । कभी-कभी व्यक्ति अथक प्रयास के बावजूद बीते हुए क्षणों को स्मरण नहीं कर पाता । घटना-काल से लेकर सम्प्रति वर्तमान तक का उसका काल स्मृति को मद्धिम कर देता है । "स्मृतिभ्रंश से कल्पना द्वारा अतीत का पुनर्निर्माण करने की अक्षमता से व्यक्ति विखंडित होता है ।"[3] ऐसी स्थिति में अतीत के सुखद क्षणों की एक टूटी हुई रूप रेखा उसके सामने आकार ग्रहण करती है । अत: यह कहा जा सकता है कि यदि व्यक्ति में अतीत के पुनराकलन का सामर्थ्य न हो तो वह स्मृतिजनित सुख से अछूता रह जाता है ।

"एक करोड़ की बोतल" उपन्यास का बोमन, जो उच्चवर्गीय समाज का प्रतिष्ठित व्यक्ति है, निम्नवर्गीय इन्दु पर पैसे के बल से अभिजात्य का रंग चढ़ाना चाहता है क्योंकि उनके एलान व कागज़ी दस्तावेज के अनुसार इन्दु ही एक करोड़ की जायदाद की वारिस बन सकती है । इंदु पर प्रतिबंध लगाये जाते हैं, ताकि वह अतीत को भूल जाय । "बोमन का कहना था कि -- "मैं उसकी नई जिन्दगी एक साफ सिलेट की तरह शुरू करना चाहता हूं ।"[4] बोमन इन्दु के अतीत को धूल की तरह पोंछ देना चाहता है । इन्दु का अतीत दु:ख और गरीबी का अतीत है, जिसमें उसके सामाजिक संबंधों का आधार भी निहित है । अतीत पैसों से पोंछा नहीं जा सकता और न ही जिन्दगी कोई साफ सिलेट होती है, जिस पर मर्जी से जब जो चाहे लिख दें जब जो चाहे मिटा दे । "जिन्दगी एक फूल होती है, जो मुरझा जाती है । जिन्दगी एक पत्थर होती है, और घिस जाता है, जिन्दगी लोहा होती है और जंग खा जाती है, जिंदगी आंसू होती है और गिर जाती है, जिन्दगी महक होती है और बिखर जाती है, जिन्दगी समन्दर होती है जिस पर लहर-दर-लहर खराशें पड़ती रहती हैं।"[5] अतीत पानी की तरह होता है जिसे चाकू से काटा नहीं जा सकता । बोमन के सभी असफल प्रयासों के पश्चात् भी इन्दु रंजीत को ही पाना चाहती है

और अंत में पा लेती है । अत: अतीत की सुखद अनुभूतियों की छाप वह अपने मन से मिटा नहीं पाती । अतीत की अनुभूतियों के आधार पर ही वह अपना भविष्य निर्धारित करती है । उस अतीत व प्रेम "एक करोड़ की बोतल" में बंद नहीं हो सका । जिस तरह चट्टान बर्फ में दब जाती है उसी तरह गहराइयों की छाप व्यक्ति के मन में दब जाती है -- यही अतीत है, और जहां वक्त की भूचाल बर्फ को पिघला देती है वहीं वर्तमान है । इस प्रकार व्यक्ति हर बार अतीत की तरफ जाता नहीं है बल्कि कई बार अतीत भी वर्तमान के आगे आ उभरता है, इससे व्यक्ति को दिशा मिलती है ।

"मछली मरी हुई" उपन्यास के निर्मल को काले गुलाब देखकर कल्याणी की याद आती है, जो उसकी प्रेमिका रही थी । उसे याद आती है, उन्नीस साल पहले की बात, ठीक इसी दिन वह कल्याणी से आखरी बार मिला था । उस दिन " ..... कल्याणी संगमरमर की तराशी हुई एफ्रोदिती दिख रही थी । सुन्दरता की नग्न प्रतिमा - एफ्रोदिती ।"[6] वर्तमान में जब एास आई शीरीं को देखता है तो उसमें उसे कल्याणी का वही रूप, वही चंचलता, वही मुस्कान नज़र आती है । वही जिप्सी संगीत उसकी आंखों में गूंजने लगता है । एक बार फिर निर्मल का मन वर्तमान से कट कर अतीत में जाता है और उसे लगता है यह "शीरीं मेहता नहीं है, कल्याणी है ।"[7] अतीत की स्मृति जागती है, उसे याद आता है "संग्रीला होटल" का फ्लोर, जहां निर्मल ब्लेक प्रिन्स और कल्याणी परियों की रानी लगती थी । संगीत की लहरें उठती थी और लहरों पर दोनों तैरते थे, " ..... कल्याणी ..... संग्रीला होटल ..... पार्क स्ट्रीट सीमेट्री । नाचनेवाले के पाँव घूम फिर कर वहीं आ जाते हैं । संगीत की लहरें वहीं लौट आती हैं । लौट आने के सिवाय और कोई उपाय नहीं रह गया है । वही बेबसी है और वही अकेलापन ।"[8] चाहे वस्तु हो या कोई संबंधित घटना, व्यक्ति के जीवन में अनुभव की गई हर अनुभूति उसके स्मृति का अंश बन जाती है । "हमारी स्मृति किसी भी समय किसी घटना का पुनराह्वान कर सकती है और अतीत का पुनर्निर्माण कर सकती है । इससे उसे एक कालातीत आयाम मिल जाता है । इतना ही नहीं, स्मृति में किसी अनुभूति की गुणात्मकता अपने मूल रूप में सुरक्षित रहती है । यहां तक कि जिस घटना से वह अनुभूति

सम्बद्ध है उसके प्राय: सम्पूर्ण विस्मृत हो जाने पर भी अनुभूति की गुणात्मक छाप सुरक्षित बनी रह सकती है ।"[9] निर्मल के मन पर भी अतीत की घटनाओं की वही छाप सुरक्षित है जो उसे कल्याणी के साथ प्राप्त हुई थी । इन कुछ क्षणों की अतीत स्मृति के बावजूद वह यह नहीं भूल पाता कि कल्याणी "पार्क स्ट्रीट सीमेट्री" में दफन है और वह पुन: वर्तमान में जीने को विवश हो जाता है ।

अत: वर्तमान से संयोग न बैठा सकने के कारण अतीत का या स्मृति का सुख कुछ ही क्षणों में टूट जाता है और स्मृति बिखर जाती है । इसीलिए निर्मल का अकेलापन उसका दर्द और दु:ख एक बेबसी है जहाँ मृत कल्याणी में जान नहीं फूंक सकता । अतीत की स्मृतियाँ उसके वर्तमान पर हावी होने लगती हैं । उसकी पत्नी शीरीं के बीच कल्याणी प्रतीक रूप में आ ठहरती है जिसमें एक ओर उसका वर्तमान कटु होने लगता है और दूसरी ओर भविष्य अँधेरे में लगता है । "बीते हुए कल की जिन्दगी के साथ जीने के लिए कुछ लोगों को छोड़ देना आदमी की बर्बरता की कहानी है ।"[10] बीते हुए दिनों के कुछ महत्वपूर्ण क्षण व्यक्ति के जीवन से इस गहराई से जुड़ जाते हैं कि वह जीवन भर उन्हें त्याग या भूल नहीं पाता । इस परिस्थिति में उसका वर्तमान भी नष्ट होने लगता है । अतीत की मात्र स्मृतियों में निर्मल न तो जी सकता है, न ही वर्तमान में शीरीं की चुनौतियों को सह सकता है ।" "शीरीं गर्म भट्टी की तरह जलती है ..... लेकिन पता नहीं क्यों, ठीक इसी वक्त निर्मल पद्मावन को याद आया कि नीचे चित्त लेटी हुई औरत शीरीं नहीं है ..... कल्याणी है ।"[11] इस बात का एहसास होते ही निर्मल बर्फ की तरह ठंडा हो जाताहै । शीरीं को कल्याणी के रूप में देखकर भी वह नये सिरे से अपना जीवन बिता पाने में असमर्थ रहता है । यही असमर्थता उसके वर्तमान के सुख को फलित नहीं होने देती । "हर बार यही होता है । निर्मल अपने नैतिक अधिकार का लाभ उठा नहीं पाता । निर्मल दरिद्र है । सर्वहारा है ..... सर्वहारा ।"[12] वस्तुत: उम्मीदों में डूबी हुई खूबसूरती को वह उसी तरह से देखता है जिस तरह एक भूखा बाघ अपने शिकार को देखकर उत्तेजित होता है लेकिन नपुंसक और कायर बन जाता है । परिणाम में साथ सोया हुआ सौंदर्य "मरी हुई मछली" का रूप ले लेता है । निर्मल अतीत

में रहना चाहता है और वर्तमान को दरिद्र बनाता है । कल्याण का बदला शीरों से लेता है, शीरों का बदला प्रिया से लेता है ।

अतीत जो बीत चुका है निर्मल उसी पर टिके रहना चाहता है, उसी को पकड़ने की कोशिश में आगे के बजाय पीछे भागता जाता है । वह तीस-पैंतीस वर्ष पहले की बात सोचता है जब उसकी माँ लारीवाले के साथ भाग गई थी । उसे यह भी ज्ञात नहीं कि उसकी माँ मर गई लेकिन "वह सोचता है -- उसकी माँ लौटकर उसके पास आ जाए । रहने के लिए एक घर माँगे । सिर के ऊपर एक छाँव ।"[13] तब वह उसे तीस मंजिला कल्याणी मैंशन" दे सके । लेकिन माँ कभी लौटकर नहीं आती और न मृतक कल्याणी पुनः जिंदा होती है । "एडलर महोदय के अनुसार मनुष्य के जीवन की किसी कमी या क्षति की पूर्ति प्रभुत्व प्राप्ति से होती है ।"[14] निर्मल का उपर्युक्त प्रयास इस बात का द्योतक है । माँ का लौटना और कल्याणी का जीवित होना -- अतीत की इन दो घटनाओं से निर्मल लिपट गया है, जिसके कारण वह एक बीमार मानसिकता का शिकार हो जाता है, जिस अतीत को जिंदा कर वह सुख पाना चाहता है, वह उस अतीत को दोहरा नहीं पाता, क्योंकि वह गर्त में मिल गया है ।

"अपने से अलग" उपन्यास में नायक की माँ अतीत में विश्वास करती है । अतीत की गाथाएं फुर्सत के वक्त अपने बच्चों को सुनाया करती है । भविष्य माँ को अंधेरा लगता है । "यह कैसा भविष्य है । अतीत की बराबरी में जब-जब वे हमें भविष्य के बारे में बताती थीं तब उन्हें भविष्य काले अंधेरे के अनुभव उन्हें मिले थे अतीत में ही । अतीत से परिवार की पीड़ा-गाथाएं शुरू हो जाती हैं ।"[15] पीड़ा की अनेक सिलसिलेदार कहानियाँ बच्चों को सुनाती है । पिता किस तरह परिवार के लिए लड़े आदि और जब कहते-कहते विभोर हो जाती तो गीत गाती थी जिसके भाव थे -- "ओ विपत्ति दिनों ! कल की तरह आओ, आनेवाले कल की तरह नहीं, उस कल की तरह नहीं जिसका हमें पता नहीं ।"[16] क्योंकि "अपने बीते को अस्वीकारना खुद को अस्वीकारना है ।"[17] अतीत जीवी होकर माँ विचित्र किस्म का सुख पाती है । "दुःखमय अतीत के स्मरण का भी एक सुख हो सकता है ।"[18] यह वृद्धावस्था की ओर जाते हुए लोगों में विशेषकर देखा जा सकता है ।

अतीत वह संचित कोष है जहाँ पर व्यक्ति अपनी स्मृतियाँ संचित करता है लेकिन उसका अपने लिए उपयोग न हो तो सब कुछ यों ही बीतता जाता है, जहाँ स्वयं का अस्तित्व निरर्थक लगता है। जीवन संचयन और उपयोग का पर्याय है। इसलिए "उसका शहर" की लुपिका चाहती है कि इसका निर्णायक भी स्वयं को होना चाहिए। सब कुछ बीतता जाएगा और जो बीत चुका है वह वापस नहीं आता। "बीतते जाने का एहसास उस आत्महत्या की तरह है जिसमें आदमी अच्छी तरह जानता है कि यदि उसने ऐसा कुछ भी किया तो उसका अस्तित्व खतरे में पड़ जायेगा, और यह खतरा अन्य खतरों की तरह टाला नहीं जा सकता, बल्कि इससे उसके अस्तित्व के ही टल जाने की गुंजाइश रहेगी।"[19] संचय और उपयोग भी जीवन को सुखी बनाने के माध्यम है।

स्मृति का कुछ उखड़ापन "वे दिन" उपन्यास में मिलता है, लेकिन उसमें नायक का मानसिक लगाव भी लक्षित होता है। क्योंकि जिज्ञासा, लगाव के सहज विकास के अभाव में संबंधों में खालीपन और अजनबीपन की शुरुआत होने लगती है। ऐसी शुरुआत शब्दहीनता को जन्म देने लगती है जिसकी स्मृति नायक को होती है, जब वह रायना के साथ होता है। जहाँ वर्तमान में न संबंध की कोई महत्वपूर्ण स्थिति होती है और न ही उस संबंध का कोई अतीत होता है, और न ही भविष्य में ऐसा कोई संबंध विकसित होने की संभावना ही होती है। नायक के अनुसार, "उस शाम की स्मृति मुझे आज भी कुछ अलग सी लगती है ..... अन्य दिनों से अलग। अन्य दिनों की तरह उस शाम हमें एक दूसरे को खोजने की जानने की इच्छा नहीं रह गई थी। लगता था, वह है और यह झेल पाना ही एक सुख है जो इतना ज्यादा है कि पीड़ा था - क्योंकि वह असह्य सा लगता था। जब हम चुप रहते थे, जैसे पानी चढ़ता हो और उतर जाता हो। उसमें कोई दुराव न आता था।"[20] साथ न हो कर भी साथ होने की याद एक स्मृति सुख देती है।

"रुकोगी नहीं राधिका" में डैन और राधिका अपने संबंध में असफल हो जाते हैं क्योंकि डैन राधिका के साथ रह कर अपने अतीत को भूलना चाहता है।

छोड़कर चली गई हुई पत्नी के दु:ख को राधिका के साथ रहकर भूलना चाहता है । कहता है, "मैं तुममें अपना खोया यौवन ढूंढ रहा था । अपनी पत्नी के छोड़कर चले जाने की कड़ुवाहट धोना चाहता था, पर हम दोनों ही सफल नहीं हुए ।"[21] दूसरी तरफ राधिका अपने पिता जो दूसरा विवाह कर चुके हैं उन्हें त्रास देना चाहती है इसलिए डैन से संबंध बनाकर बाहर चली जाती है । वस्तुत: दोनों अलग-अलग उद्देश्य लेकर चलते हैं और अपने उद्देश्य के कारण दु:खद अतीत को भुला नहीं सकते, इसीलिए संबंध में असफल होते हैं और इस असफलता का आधार अतीत है । अपने वर्तमान को लेकर बराबर एक टकराहट "रूकोगी नहीं ... राधिका" के मुख्य पात्रों में मिलती है जो अपना वर्तमान संवारने की फिक्र में लगे रहते हैं । "ये पात्र प्राय: ऐसे सामाजिक संबंधों की उपज है जिनमें पीछे छूट गई जिंदगी की समृद्धि और सम्पन्नता और वर्तमान का सुविधाभोगी जीवन कुल मिलाकर उन्हें अपने परिवेश के साथ किसी जीवित सम्पर्क में जुड़ने नहीं देता । उनके संसार की वायवीयता केवल किसी ठोस बाह्य और आंतरिक दबाव की अनुपस्थिति के कारण ही नहीं होती बल्कि इस कारण भी होती है कि उनके वर्तमान पर अतीत की छाया इतनी गहरी है कि वर्तमान के व्यक्तित्व को धुंधला और निराकार कर देता है ।"[22] इस प्रकार इस उपन्यास के पात्रों का अतीत-जीवी होना उन्हीं की नियति है जिसके लिए उनकी बौद्धिकता, उनका अहं, उनके उद्देश्य ही मुख्यत: सहयोगी होते है ।

अतीत के सम्बन्धगत लगाव पर ही "अँधेरे बंद कमरे" के हरबंस और नीलिमा का संबंध टिका हुआ है । विवाह के बाद हताशाओं और जिम्मेदारियों से परेशान होकर हरबंस को विवाह के पूर्व का मैत्री संबंध ही अच्छा लगता है जहाँ जिम्मेदारियों का बोझ नहीं होता । हरबंस पत्र में लिखता है कि -- "कितना अच्छा होता यदि हम पति-पत्नि न होकर दो मित्र होते और दो मित्रों की तरह यह यात्रा साथ-साथ करते ।"[23] अतीत का सम्बंधगत आधार जब इतना मज़बूत होता हैतो भविष्य में खराशें आने पर भी संबंध टूटना नहीं है । यही कारण है कि " ... जब-जब वह अपने को हरबंस के प्रभाव से मुक्त करना चाहती, तब-तब ही वह प्रभाव उसे सबसे प्रबल और कसता हुआ प्रतीत होता है ।"[24]

अतीत के सुखद मज़बूत क्षण आगे भी संबंध को कायम रखने में सहायक तत्व का कार्य करते हैं । अपने अतीत और वर्तमान में उलझे हरबंस की मानसिकता उधेड़ते हुए श्री निदारिया का मानना है कि "हरबंस का आगे बढ़ना जीवन है तो पीछे लौटना भी जीवन है -- पर यह बढ़ना और लौटना उसी की विचारधारा के अनुकूल होना चाहिए । उसे सुख चाहिए - सुख के लिए ही आगे बढ़ना है, सुख के लिए ही पीछे लौटना है,[25] तिस पर भी विडंबना यह है कि, उसके लिए सुख-सुख नहीं है, केवल छानबीन और विश्लेषण का विषय है । वह जीवन के किसी भी क्षण को उसके समूचे रूप में स्वीकार नहीं करता । हर क्षण की वह चीर-फाड़ करता है । सुख को चीरफाड़ कर वह उसमें से दु:ख को निकाल लेता है । सुख मर जाता है ।"[26] इस तरह हरबंस वर्तमान दु:ख के कारण्य के लिए अतीत के क्षणों से उनका विश्लेषण करने के बावजूद सुखी नहीं रह पाता ।

अपने वर्तमान जीवन से ऊब कर हरबंस विदेश चला जाता है । इस प्रकार नीलिमा से अलग हो जाने पर वह अपने अतीत का स्मरण करता हैऔर नीलिमा को पत्र लिखता है । इस मन:स्थिति में वह अपने प्रेम को अतीत से उठा लाता है और वर्तमान में जीता है । "अँधेरे बंद कमरे" के पात्र अतीत या भविष्य में जीवित है, वर्तमान में नहीं । अत: प्रेम भी उनके लिए या तो भविष्य का स्वप्न है या अतीत की स्मृति"[27] अपने को जीवन के साथ सहजता से जोड़ नहीं पाने की विवशता हरबंस व नीलिमा दोनों ही दिखाई देती है । सातवें दशक के उपन्यासों में यही नियति मूल रूप से दिखाई देती है जहाँ व्यक्ति अपने वर्तमान को परिस्थितियों के अनुसार अपने को तो ठीक से स्थापित नहीं कर सकता और जब वर्तमान के दु:ख से अपने को अलग कर लेता है तो बिछोह का दु:ख उसे सालता है । अत: वह अपने सुख के लिए पुन: अतीत के सुखी क्षणों को याद करते हुए उनसे सहज संबंध स्थापित करने का प्रयत्न करता है ।

स्थूल सुख की स्मृतिवादी दृष्टि "दूसरी बार" में देखी जा सकती है । अतीत की स्मृति में जाकर नायक सुख प्राप्त करता है। नायक का कहना है कि "कई साल पहले जब बिंदो से मेरा परिचय नहीं हुआ था, मैंने एक बड़ी उम्र की सोहबत की थी । वह कई लोगों से होते हुए मेरे पास आयी थी । स्त्री

के शरीर का पहला स्वाद उसी से मिला था । पहली स्त्री का शरीर ही, चाहे वह चली हुई ही क्यों न हो, अपने आनन्द की स्मृति छोड़ जाता है । उसे देख कर मेरे मन में कभी कुछ नहीं उपजा । शायद उसे भी इस संबंध में कोई भ्रांति नहीं थी ।"[28]

"अठारह सूरज के पौधे" उपन्यास में मुख्य पात्र का जीवन निपट अकेलेपन व आत्मवादिता में बीतता है । जीवन के स्थायित्व के लिए उसका घर से भी स्थाई संबंध नहीं है । वह अपने जीवन की देनन्दिनी को रेल में ही बिताता है । "शिल्प की दृष्टि में इसमें फ्लेशबेक की टेकनीक का प्रयोग किया गया है । न केवल यह अपितु अतीत की इन स्मृतियों का वर्तमान से जोड़ने का प्रयास भी किया गया है । इस आधार पर कहा जा सकता हैकि रेल की दो समानान्तर लाइनों के सदृश्य वर्तमान एवं अतीत है ।"[29] लगातार रेल में सफर करनेवाला यह नायक हर बार अपने वर्तमान से कुंठित ही हुआ । फलत: वह अतीत की ओर अग्रसर होता है और वर्तमान में सुख का अनुभव करता है ।

तात्कालीक सुख :

तात्कालीन सुख में व्यक्ति जीवन के वर्तमान क्षणों के साथ सीधे जुड़ता है । क्षणों की गति के साथ-साथ बहना चाहता है । जीवन का सत्य क्षण ही लगता है, जो व्यक्ति वर्तमान क्षण का उपयोग नहीं कर पाते वे कल्पनाशील होते हैं तथा अतीत एवं भविष्य की मन्दराओं में भटकते हैं । आधुनिक युग की नियति या विवशता ही यही है कि व्यक्ति घर और बाहर की बंटी हुई जिन्दगी जीता है । उसकी आकांक्षा सदैव यही रहती है कि बंटी हुई जिन्दगी के हर टुकड़े में वह अपना पूर्ण रूप देख सके । यदि घर जीवन का आधार है तो धनार्जन उस आधार को चलाने का माध्यम, और इसी माध्यम के द्वारा उसका संपर्क अन्य व्यक्तियों से होता है । इसी में व्यक्ति स्वार्थी, अवसरवादी व क्षणवादी होने लगता है । यह आधुनिक मानस की पहचान है, अन्यथा इसके अभाव में व्यक्ति रूढ़िवादी या आदर्शवादी भटकान में भटकता जाता है और यथार्थ की नब्ज नहीं पकड़ पाता । वर्तमान क्षण का यही सच है । जो गुजर

गया या जो गुजरनेवाला है उसकी सम्भावना मात्र एक बीता हुआ तथा आनेवाला भ्रम होता है । थामस मान् ने माना है कि "मेरे लिए सबसे मूल्यवान तत्व है क्षण भंगुरता ... वह अस्तित्व की आत्मा है ... क्षण-भंगुरता काल का सर्जन करती है और काल ही सार तत्व है ।"30 व्यक्ति जब तक जीवित है, उसकी सत्ता है और जब तक वह जीवित है, तब तक ही वह क्षण की अनुभूति कर सकता है । वर्तमान का सुख ठीक उसी प्रकार है । " ... आदमी जितना ऊपर चढ़ता है, नीचे की जमीन को उतना ही भूलना चाहता है, क्योंकि नीचे देखने पर उसे डर लगता है । नीचे गिर जाने का डर ।"31 ऊँचाई पर पहुँच जाने पर चाँद बहुत करीब दिखने लगता है मानों जरा सा उछल कर उसे पकड़ा जा सकता है, लेकिन वास्तव में वह बहुत दूर होता है -- यही स्थिति भविष्य-बोध की होती है, और नीचे गिरने का भय अतीत । बढ़ते जानेवाली गतिमान प्रक्रिया की स्थिति वर्तमान है । इसलिए "मछली मरी हुई" उपन्यास की शीरीं को इन्तज़ार से नफरत है वह " ... जो कुछ चाहती है, तत्काल चाहती है, उसी क्षण ! क्षण बीत जाने पर उसकी चाह मिट जाती है । रह जाती है घृणा ।"32 जिस क्षण चाह हो यदि उन क्षणों का सही उपयोग न किया जाय तो वह घृणा का रूप भी ले सकती है । इसी का परिणाम था कि शीरीं विश्वजीत मेहता को छोड़कर निर्मल से विवाह कर लेती है, क्योंकि विश्वजीत मेहता एक बूढ़ा और लिजलिजा आदमी है एक सूखे हुए डाल की तरह, जो क्षणों का इस्तेमाल नहीं कर सकता ।

वस्तुत: इस उपन्यास की शीरीं, कुलीन परिवार में रहते हुए भी उसमें कुलीनता का अभाव मिलता है । वह शतरंज नहीं जुआ खेलती है । जीतती है तो हँसती है, हारती है तो रोती है, फिर सब कुछ भूल जाती है । बीते हुए का पछतावा नहीं । आगे होनेवाले की फिक्र नहीं । जीने का एक मात्र तरीका रह गया है, वर्तमान को जिये जाना । पहले अँधेरा था । फिर अँधेरा होगा । अभी अगर रोशनी की एक हल्की सी भी किरण बाकी है, तो उसे जी लो, यह किरण जिन्दगी है, यह किरन ... में फूल ... ।"33 क्षणों के बहाव में वह केवल बहते जाना चाहती है । उसमें कर्तव्य व जिम्मेदारी

का अभाव है, जिससे उसका व्यक्तित्व कमज़ोर पड़ता है । वह केवल जीती है उसमें मानवीयता के कुछ भाव का जैसे प्रेम, सद्भावना का सहज विकास नहीं मिलता। "आधुनिक युग की नारी यौन क्षेत्र में जो इतनी प्रगतिशील दृष्टिगत होती है, उसका एक सूक्ष्म कारण है कि आधुनिक कृत्रिम वातावरण में नारी को कहीं नितांत एकाकी, संबंधों से असम्यक अनुभव करती है । अत: आत्मीयता प्राप्त करने के हेतु ही वह यौन स्वच्छंदता की ओर उन्मुख होती है । आधुनिक नारी की यौन-स्वतंत्रता का बहुत बड़ा उत्तरदायी उनका पारिवारिक परिवेश होता है, जहां वे अपने एकाकीपन में घुटती रहती है, संबंधों की निकटता के हेतु उत्कंठित रहती है । पति-पत्नी के संबंधों के विषय में नारी की यौन स्वतंत्रता पति के प्रति स्पर्धा के कारण होती है ।"[34]

तात्कालीन सुख आज के युग का एक आधुनिक दृष्टिकोण है । मन की सीमा अनंत होती है वह काल में बंध कर नहीं रह सकता । रघुवंश कहता है कि "मैं जानता था कि कल्याणी जैसी स्त्री ही प्यार कर सकती है । गृहस्थ स्त्रियाँ प्यार नहीं कर सकती । प्यार कर सकते हैं आवारा औरतें जिन्हें किसी चीज़ की परवाह नहीं है जो सामाजिक मर्यादाएं नहीं मानती । नैतिक नियंत्रण नहीं मानती । धर्म नहीं मानती हैं । ऐसी औरतें कदम-कदम पर देह बेचती चलती हैं, मगर मन नहीं बेचती । पत्नी बनकर भी नहीं । वैश्या बनकर भी नहीं।"[35]

विदेश में आर्थिक संकट झेलती हुई कल्याणी वैश्या बन जाती है । कल्याणी रघुवंश की अच्छी पत्नी भी थी लेकिन जीवन पर्यन्त वह मन से निर्मल की थी । "मन की गति विचित्र है, यही कभी निश्चल हो जाता है और कभी अनुभूति और विचार के क्रम में विगत अथवा भविष्य की अतल गहराइयों में अगणित डुबकियाँ लगाने लगता है । मन की इस दोलायमान प्रवृत्ति के कारण व्यक्ति का वर्तमान कालखण्ड अनोखी विविधता और विचित्र विस्तार धारण कर लेता है।"[36]

निरंतर तेज़ी से परिवर्तित होनेवाली दुनियाँ में व्यक्ति का मन केन्द्रीत हो पाना मुश्किल होता जा रहा है । अन्य आकर्षण उसे खींचते हैं और हलचल पैदा करते हैं । "... जीवन यात्रा का जो अंश मनुष्य ने तथा मानव जाति ने तय कर लिया है, उसे वह विगत की संज्ञा देता है । जिस क्षण में वह अतीत यात्रा से स्वयं को पृथक करके देख रहा है, वह क्षण उसका वर्तमान है और परवर्ती समय

मनुष्य की कल्पना में उसका भविष्य है । इस प्रकार मनुष्य ने काल-प्रवाह का बोध अपनी परिवर्तनशील स्थिति से प्राप्त किया है ।"[37] यह भी माना जाता है कि बिना क्रिया या कारण के समय की गणना असंभव है । वर्तमान ही वह खण्ड है जहाँ व्यक्ति सीधी तरह क्रिया से जुड़ता है । आधुनिकता की विचार-धारा भी वर्तमान से ही जुड़ती है अपने समय और युग के प्रति सजग और संवेदन-शील " ... आधुनिक यानी आज और अबमें रहनेवाला, अतीत की और भविष्य की चिन्ता से अछूता, असंपृक्त, सिर्फ वर्तमान क्षण के प्रति वफादारी महसूस करने-वाला ।"[38] लगातार बदलती हुई वस्तुओं के बीच इन्सान और भावनाएं भी ठोस बनकर रह गयी है । भावनाओं का स्थान जहाँ जड़ता ले लेती है वहाँ संबंधों में दरारें पड़ने लगती है । अजय 10 दिसंबर की सुबह डायरी में लिखता है कि "शरीर और मन एक है, और अलग-अलग भी । मन को निर्लिप्त रखते हुए भी शरीर को दिया जा सकता है । मनुष्य स्वयं अपने व्यक्तित्व के एक भाग को वस्तु की तरह दूसरे के हवाले कर सकता है, कुछ देर के उपयोग के लिए । मनुष्य की क्षमताएं अद्भुत हैं ।"[39] हृदयहीन लगाव बाद में मन की ऊब, विरक्ति व विकर्षण का कारण बनती है । "हैव ए गुड टाइम, एन्जाय योर सेल्फ, द परस्यूट आफ् हैपीनेस"[40] जब कोई यह आधुनिक नारा लगाता है तो वह भी समय से ही जुड़ता है, वर्तमान से ही भले-बुरे का फर्क समाप्त हो जाता है । उकताहट की स्थिति से हटने के लिए क्षण का रस लेना गलत नहीं लगता । ऐसा जान पड़ता है कि इसके लिए मन या हृदय का होना ज़रूरी नहीं है । अधिकतर ऐसी मानसिकता रखनेवाले क्षणवादी जीवन जीते हैं । वस्तुत: ऐसे लोग सुख पाना नहीं बल्कि तनाव से मुक्ति पाना चाहते हैं ।

सवाल उठता है क्या वर्तमान जीवन से संतुष्ट होने के लिए इन्जाय करना ज़रूरी है, क्या इससे अतीत की कटुताएं धुल सकती है । वर्तमान में जब सुख का माध्यम न हो तो व्यक्ति स्वयं को भूल कर समय को भुलाकर कुछ क्षण जीने की कोशिश करता है । "देहगाथा" का अजीत कहता है -- "अपना गिलास उठाओ देव बाबू । क्लास में लाल रंग की शराब है और अपना सारा भूत-वर्तमान-भविष्य इसकी आग में जला डालने का मन करता है । स्थान काल, पात्र, पात्र की सारी सीमाएं ध्वस्त हो जाए, और दिन भर के लिए

भी सारी गतियाँ रूक जाए ।"[41] शराब के नशे में व्यक्ति स्वयं को और काल को ही भूल जाना चाहता है । अतीत की लाल रंग की शराब में समय जलता हुआ लगता है, जिसकी तपन में डूब कर वह दिन भर के लिए अपनी परिस्थितियों को और स्वयं को भूल जाना चाहता है । "मुक्तिबोध" उपन्यास की नीला जो सहाय की प्रेमिका है, वह थके-हारे सहाय को यही राय देती है कि -- "छोड़िए, कभी तो अपने को भूला कीजिए । ... एक बार भूले थे । दोनों हम भूले थे । वह क्षण क्या कर सका है फिर आपके लिए या मेरे लिए ? अमर वही होता है जहाँ आपा भूल जाता है । बहुत याद न रखिये अपने को या फर्ज को ।"[42] परेशानी या भयंकर उकताहट की स्थितियों से गुज़रने पर या गुज़रते हुए व्यक्ति राहत पाने के लिए इन्तजाम करना आवश्यक लगने लगता है ।

"डाक बंगला" की इरा समय के साथ बहते रहना चाहती है । भविष्य के विषय पर अधिक सोचना इरा को स्वीकार नहीं । रिश्ते भी समय के साथ बनते, बदलते और टूटते हैं । इरा की दृष्टि में "जो व्यक्ति गिन-गिन कर कदम रखता है वह मुझे निहायत ओछा लगता है।"[43] इरा विमल के लिए पिता और घर को छोड़ती है, उसका वही पति विमल आर्थिक संकट के समय नौकरी करती हुई इरा पर शक के कारण छोड़कर चला जाता है । इरा कहीं परिस्थिति का शिकार बनती है तो कहीं मन:स्थिति की शिकार होती है । उसे शक करना नहीं आता, विश्वास देती है, लेकिन प्रतिदान में विश्वास न मिलने पर टूटती है । वह विश्वास देकर लोगों को जीतती है लेकिन, विश्वास न मिलने पर टूटती है । वर्तमान में जीने की धारा उसे अविश्वास के छोर पर उछाल फेंकती है ।

वस्तुत: विश्वयुद्ध के बाद की स्थिति क्षणवादी जीवन को विश्व के लगभग हर समाज में बड़ी ही तीव्रता से उभार कर रही है । व्यक्ति को अपने जीवन के प्रति थोड़ा भी यह विश्वास नहीं रह गया कि उसका भविष्य से क्या संबंध है । इस काल के परिप्रेक्ष्य में लिखा गया उपन्यास "वे दिन" इसी क्षणिक प्रवृत्ति पर आधारित है । युद्ध के बाद की शांति में जैक और रायना का एक दूसरे के लिए बेकार होने की रचना वैयक्तिक संवेदनाओं से तीव्रता में अनुभव करता है । "लड़ाई में बहुत लोग करते हैं --

इसमें कुछ अजीब नहीं लेकिन कुछ चीजें हैं जो लड़ाई के बाद मर जाती है शांति के दिनों में हम उनमें से थे ।"[44] "भारतीय छात्र से देह धर्म निभाते हुए रायना का रात में समर्पित होकर दिन में उसे भूल जाने को कहना क्षण-बोध से प्रेरित है ।"[45] यह तो सच ही है कि क्षण का ऐसा तीव्र बोध उसी को होता है जो वास्तव में मृत्यु से या तो साक्षात्कार किये होते हैं या उस मन:स्थिति से गुज़रे होते हैं । यूरोपीय देश चूंकि द्वि-विश्वयुद्ध से सीधे जुड़े थे, अत: उनके समाज में क्षणबोध पाया जाना स्वाभाविक है ।

भविष्य सुख :

व्यक्ति सिर्फ सुखी ही नहीं बल्कि अपने विकास की प्रक्रिया में और ज्यादा सुखी होना चाहता है । जीवन जीने की जिजीविषा व्यक्ति के भविष्य सुख की ओर प्रवृत्त करती है । वर्तमान में किये जा रहे अपने ही कार्यों के प्रति असंतुष्टि व्यक्ति को स्वप्निल बना देती है । इच्छाएं और आकांक्षाएं व्यक्ति को भविष्य के प्रति महत्वाकांक्षी बनाती ही हैं । वस्तुत: जो व्यक्ति भविष्य के सुख की कल्पना करता है वह वर्तमान से कहीं न कहीं असंतुष्ट होता है । भविष्य का सुख मूलत: दिवास्वप्न है जिसके परिष्करण तथा प्राप्ति के लिए व्यक्ति वर्तमान को निरन्तर परिशोधित करता है लेकिन अधिकांश परिस्थितियों में व्यक्ति पूर्णत: सुख को लक्ष्य बनाकर अपने वर्तमान में होनेवाली घटनाओं को अनदेखा कर देता है जिसके फलस्वरूप वह न केवल वर्तमान से वंचित हो जाता है परंच लक्षित भविष्य से भी दूर हो जाता है । फिर भी व्यक्ति काल्पनिक जगत् में विचरते हुए सुख प्राप्ति की खोज करता ही है । इन कल्पनाओं को वास्तविक आधार देने के लिए वह वर्तमान में निरन्तर प्रयत्नशील रहता है । इसी प्रयास में व्यक्ति भविष्य की ओर भागता है ।

भविष्य सुख का आधार उम्मीद व सम्भावना होती है । "दूसरी बार" का नायक आत्मनिर्वासित है । वह अपनी परित्यक्ता पत्नी को पत्र लौटाने जाता है । पत्रों को लेकर सोचता है कि वह अपना आखरी हथियार खो रहा है । चूंकि के पत्रों के माध्यम से ही भविष्य में मिला जा सकता है, या फिर छला भी जा सकता है और यह भी हो सकता है कि उसकी पत्नी ही

पत्र वापिस लेने उसके पास आए । इसीलिए वह सोचता है कि "जब तक आखिरी चीज अपने पास रहती है उम्मीद होती है । यह उम्मीद झूठी होती है । अगर आदमी इस झूठी उम्मीद को बनाये रखना चाहता है । वह इस सम्भावना में जीना चाहता है कि एक-न-एक दिन ज़रूर होगा ।"46 जैसे तिनका डूबते हुए को सहारा देनेवाला माना जाता है लेकिन वास्तव में कोईसहारा प्राप्त नहीं होता बल्कि एक उम्मीद बंधा रहती है । वैसे ही भविष्य की सम्भावना बुझते हुए दीपक की आखिरी ज्योति के समान होती है, जिससे उम्मीद की किरण बनी रहती है और आशा का सुख देती है । "दूसरी बार" के नायक यह वैचारिक उलझन है कि " ... अगर मैं यहां से चला जाऊं तो क्या बिंदो मेरे पास फिर आयेगी ? बिन्दो के वापस आने के ख्याल से हल्का-सा सुख भी हुआ और घबराहट भी ।"47 नायक का सुख इस बात का है कि वह छूटी हुई जिन्दगी फिर से शुरू कर सकता है और घबराहट इस बात से की वह बिन्दो का साथ बर्दाश्त नहीं कर पाता । मुख्यत: जिन्दगी से डरने और भागने की प्रवृत्ति नायक में मिलती है । इसी घबराने और भागने में उसके भविष्य के सपने बनते और बिखरते हैं ।

प्रेम में मानसिक उथल-पुथल का अनुभव "रेखा" उपन्यास के पात्र प्रभाशंकर करते हैं । यही परिवर्तन भविष्य में उनके जीवन को नया मोड़ देता है । प्रभाशंकर की सूखी जिन्दगी में रेखा फुहार ले आती है, और प्रभाशंकर के लिए काल्पनिक सुख का माध्यम बनती है । विवाह से पूर्व रेखा से मिलकर जाने के बाद प्रभाशंकर भावी जिंदगी की कल्पना में खो जाते हैं । " ... एक नशे की भांति छा गयी थी रेखा उनके मस्तिष्क में । यौवन और प्रेम फिर से उनके जीवन में प्रवेश कर रहे थे । उनकी धमनियों में रक्त का प्रवाह तीव्र हो गया था । दो दिन बाद फिर रेखा आयेगी उनके यहां, उनके जीवन में मधुरिमा के लिए ।"48 रेखा का यौवन और प्रेम प्रभाशंकर में भविष्य सुख के रंगीन सपनों का संचार करता है ।

भविष्य तभी सुखद लगने लगता है जब किसी के प्रति विश्वास होता है और विश्वास मिलता है । "डाक बंगला" उपन्यास का निराश

विमल अपनी पत्नी को जब रात में देर से नौकरी से लौट कर आता देखता है तो शंकालु हो जाता है । यही शंका उसके जीवन में विष घोलती है । विमल को पहले-सा मुक्त, प्रखर व सामान्य बनाने तथा समझने के लिए उसकी पत्नी इरा को कुछ घण्टे लग जाते हैं । विमल सामान्य होकर जब किशोरता के क्षणों में पहुंचता है तब दोनों भावनाओं और कल्पनाओं में भर कर सपने बुनने लगते हैं । वे क्षण "जो और जितने भी थे बहुत कीमती थे - शरीर की प्यास के नहीं, आत्म-विश्वास के । हम दोनों अपनी स्थितियों से पूरी तरह परिचित होते हुए, कंटीली सीमाओं को समझते हुए भी ऐसी योजनाएं बनाते थे, जो पूरी होनी मुश्किल नहीं दिखाई देती थी ....."[49] मदहोशी के विश्वास भरे क्षणों में दोनों मिलकर ऐसी योजनाएं बनाते हैं, जिनसे उन्हें भविष्य-सुख मिलता है ।

महान बनने व यश प्राप्त करने की होड़ में व्यक्ति वर्तमान के कुछ अहम पक्षों को त्याग देता है । "एक इंच मुस्कान" उपन्यास के नायक अमर की प्यास महान लेखक बनने की है । इसी महानता के लिए वह प्रेरणा स्वरूप अमला को चाहता है, और अपने सुखी गृहस्थ जीवन का नाश करता है । रंजना से प्रेम-विवाह करके भी वह गृहस्थ जीवन जमा नहीं पाता । "प्रयत्न करूं तो शायद रंजना को सुखी कर सकता हूं, एक सुखी गृहस्थ का आदर्श उपस्थित कर सकता हूं, लेकिन क्या करूं, "सुखी गृहस्थ" होने के यश की बात मन में ही नहीं आती ... - क्योंकि यह विश्वास आज भी नहीं छूटता कि शायद कुछ बड़ा कर सकूंगा .."[50] अमर का भविष्य-सुख यश प्राप्त करना एवं प्रतिष्ठित होना है । इसी यश के लिए वह अमला के पास दौड़ता है, क्योंकि उसके पास धन है । अपनी भावनाओं के प्रति संवेदनशील भावुक अमर रंजना से कहा करता था "मेरा भी एक घर हो जहां प्यार हो, स्नेह हो, रंजना हो, कैसे अस्वीकार कर दूं कि यह मेरा भी बहुत बड़ा सपना रहा है ।"[51] लेकिन भावुक अमर की यश प्राप्ति की प्यास इतनी निर्मम है कि इसके पीछे वह अपने भविष्य के इस नक्शे को निर्ममता से स्वयं ही तोड़ता जाता है। उपन्यास के प्रारंभ से अंत तक अमर एक जागरूक महान लेखक बनना चाहता है । यही सपना उसका एक स्थायी सपना है । इसी

उपन्यास में अमला की नियति भविष्यवादी है । वह प्राप्त सुख का भोग नहीं कर पाती और " .... एक ऐसे अदेखे, अनजाने सुख के पीछे भागती है जो शायद उसे कभी प्राप्त नहीं होगा ।"[52] मनुष्य में अप्राप्त के पीछे भागने की सहज प्रवृत्ति होती है, यही भविष्य सुख की प्यास है ।

कभी-कभी अतीत में झाँकने पर बहुत कम अंश जीवित मिलता है, इसलिए व्यक्ति विगत से घबराकर आगत देखने को व्याकुल रहता है । इसके विपरीत "अपने से अलग" उपन्यास की माँ अतीत के समान अपना भविष्य देखना चाहती है, क्योंकि अतीत देखा हुआ है भविष्य अनभिज्ञ है इसलिए वह चाहती है कि भविष्य भी अतीत जैसा ही हो । जबकि उपन्यास का "मैं" माँ के विचारों से भिन्नता रखता है क्योंकि वह भी उसी परिवार की इकाई होने की वजह से अतीत को जानता है । " .... माँ, बाप, भाई-बहन, परिवार एवं समाज की अनेक स्मृतियाँ, अनेक प्रसंग हैं जो स्मृति की किसी सीमा से पार हो गये हैं और पार होते जा रहे हैं ।"[53] पिछली जिंदगी के जो कई सिलसिले बीत चुके हैं वह उनकी निष्क्रीयता को तोड़ना चाहता है । हर दिन एक गतिमान भविष्य की कामना करता है । मेरे ये दिन, मेरी यह निष्क्रियता किसी के लिए प्रतीक्षित है । वह किसका इंतज़ार है -- इसी की खोज में सुबह से शाम हो जाती है । तारीखें आगे बढ़ती रहती है । बस प्रतीक्षा है सुबह होने की, दिन बीतने की, छोटे-छोटे कारणों से बंधी संभावनाओं की और हर बार जो कुछ बीत जाता है वह अधूरापन दे जाता है । कोई सुबह उस परितृप्ति की सुबह नहीं होती-- जिसके बाद हर अनुभव का स्वाद फीका पड़ जाता है ।"[54] "मैं" की यह प्रतीक्षा आशावादी है ।

"अमृत और विष" उपन्यास में नयी पीढ़ी की शक्ति तथा वर्तमान में चल रहे परम्परागत रूढियों, नीतियों के विरूद्ध उनका आक्रोश मिलता है । इस युवा वर्ग की मूल कुंठा समाज में व्याप्त कुटिल नीतियों तथा भ्रष्टाचार के प्रति रही है । उनकी भी यह आकांक्षा है कि वे कभी-न-कभी समाज में ऊंची हैसियत प्राप्त करें । " ... मुझे भी जीना है, और मेरा

भी यह जन्मसिद्ध अधिकार है कि शान से जिऊं । अपनी फोर्ड मोटर सड़क पर चलाते हुए लच्छू उग्र था -- इस पैराडाइज को मैं फिर से अपना बनाके रखूंगा और इस बार मालिक बनूंगा नौकर नहीं । हर्गिज नहीं ।"[55] इसके अलावा वे सुखद भविष्य की कल्पना करते हुए भी वर्तमान की ज़मीन छोड़ नहीं पाते । "मुझे लग रहा था जैसे सुखद सपना देख तो रहा हूं । लेकिन उस सपने में भी मेरे जीवन का कटु यथार्थ अपनी पूरी चेतना के साथ विद्यमान है, और वह मुझे इन नशीले सपने से बदलने नहीं दे रहा ।"[56] यह कल्पना पात्र की अपने लिये संजोये गये एक सुखद भविष्य की कल्पना है लेकिन साथ ही वर्तमान का यथार्थ भी उस कल्पना पर हावी हो रहा है । जिससे वह स्वप्न के माध्यम से भविष्य में भी सुख नहीं प्राप्त कर पा रहा है ।

निष्कर्ष :

अतीत एक ऐसा कोष है जिसमें बीते हुए जीवन की सुखद और दुःखद अनुभूतियाँ संचित रहती हैं । व्यक्ति जब अतीत के अनुभव के आधार पर वर्तमान को दिशा देता है तो अतीत उसके लक्ष्य-निर्धारण में सहायक तत्व की भूमिका निभाता है । काल के बहाव में व्यक्ति कभी-कभी अतीतजीवी भी हो जाता है । अतीत की सुखद अनुभूति व्यक्ति को काल्पनिक सुख प्रदान करती है और विगत दुःखद अनुभूति की कल्पना दुःख देती है । इसी अतीत-दर्शन के आधार पर व्यक्ति कालान्तर में अनुभवी भी होता जाता है ।

वर्तमान का गुज़रता हर क्षण अतीत में संचित होता जाता है । अतीत का मोह वर्तमान सुख के लिये कभी-कभी घोर समस्याएं उत्पन्न कर देता है । "मछली मरी हुई" का निर्मल इसका ज्वलंत उदाहरण है । वह वर्तमान की चुनौतियों को नकार कर समय के साथ तालमेल नहीं बैठा पाता। अतीत से अनुभव प्राप्त कर वर्तमान और भविष्य को दिशा नहीं दे सकने के कारण कायर साबित होता है । लेकिन "अंधेरे बंद कमरे" की नीलिमा का संबंध अतीत के लगाव पर ही टिका हुआ है । अतीत के सुखद क्षण वर्तमान और भविष्य को भी मज़बूती प्रदान करते हैं । "अपने से अलग" में नायक

को भी अतीत-दर्शन में किशोर दिखाई देती है । दु:खद अतीत की अनुभूति भी उसे सुख प्रदान करती है, क्योंकि इस अनुभूति में दु:ख का पुनराभास किया जाता है, जिस तरह घाव के निशान को देखकर चोट के दर्द का स्मरण किया जा सकता है । इसीलिए दु:खमय अतीत भी उसे किशोर कर देता है और वह चाहती है कि उसका भविष्य भी अतीत जैसा ही हो ।

वर्तमान के खालीपन के दु:ख को भरने के लिये अतीत की स्मृतियाँ उपयोगी माध्यम होती है । "वे दिन" उपन्यास का नायक जीवन के कई क्षण रायना की स्मृति में बिताता है । अतीतजीवी होना कोई मानसिक रोग नहीं बल्कि पात्रों की नियति है । "दूसरी बार" के नायक के लिये अतीत की स्मृति दु:ख का कारण बनती है क्योंकि इसी के प्रभाव से वह वर्तमान से कटता जाता है । बिन्दो उसकी पत्नी है उसमें भी उसे परकीयापन नज़र आता है और अपना सहज संबंध स्थापित नहीं कर पाता । इसलिये अतीत की छाप शुद्धता दु:ख नहीं परंच दु:ख का कारण बनती है ।

अतीत और भविष्य के दबाव से व्यक्ति मुक्त हो जाता है तो वर्तमानजीवी हो जाता है । 1960 के बाद की यह नियति ही रही है कि व्यक्ति क्षणजीवी हो गया है । कुण्ठा, घुटन, संत्रास के कारण व्यक्ति वर्तमान को ही अधिक महत्व देता है । न तो वह विगत अतीत को दुबारा जी सकता है न ही आगत भविष्य उसकी मुट्ठी में बंधा होता है । इसीलिए वर्तमान ही एक ऐसा साधन है जिसका वह पूरा उपयोग कर सकता है । अधिकांश वर्तमानजीवी मानसिक रूप से कर्म के साथ जुड़ नहीं पाते । "मछली मरी हुई" की कल्याणी रघुवंशी की पत्नी होकर भी जीवनपर्यन्त मानसिक रूप से निर्मला की ही रहती है । वर्तमान के क्षणों के साथ व्यक्ति शारीरिक रूप से अधिक जुड़ता है, साथ ही मन से जुड़ने का प्रयास भी करता है । इसका एक कारण यह भी है कि उसके आगे अन्य विकल्प नहीं होते । समकालीन आधुनिकता का बोध भी यहीं से जन्म लेता है । इसी बोध की तीव्रता का स्वर "देहगाथा" के अजती में मिलता है । वह शराब के नशे में भूत, वर्तमान और भविष्य को जला देना चाहता है । इसकी तपन में वह काल को जलाकर

स्वयं को भूला देना चाहता है । यहां पर अतीत और भविष्य ही नहीं वर्तमान को भी जलाकर राख कर देना चाहता है ।

"डाक बंगला" की इरा का विश्वास है कि रिश्ते- समय के साथ बनते और बदलते हैं । वस्तुत: इरा भाग्यवादी नियति की शिकार है । वह काल के प्रवाह में बहती है और भटकती है । समय को सही कर्म के द्वारा उपयोग किया जा सकता है क्योंकि समय का महत्व कर्म से है । कर्म के द्वारा ही समय को नई दिशा प्रदान की जा सकती है। "वे दिन" उपन्यास की रचना में भी वर्तमान के क्षणों के उपयोग का तीव्र बोध मिलता है । वर्तमान आवश्यकता की पूर्ति ही वर्तमान का सुख है ।

वस्तुत: हर प्रक्रिया का एक अंत होता है । व्यक्ति अपने जीवन में वर्तमान में जीते हुए किसी न किसी लक्ष्य का निर्धारण करता है । लक्ष्य निर्धारण की दूरी को नापने के लिए वर्तमान में जो प्रक्रिया कार्यरत रहती है उस प्रक्रिया के साथ कुछ न कुछ अंशों में समानान्तर रूप से लक्ष्य के सुखद परिणाम हेतु एक भविष्यत् सुख भी साथ चलता है । भविष्य का सुख मूलत: निर्धारित लक्ष्य के परिणामों की प्राप्ति ही होता है । सातवें दशक के उपन्यासों में इसकी कुछ सम्भावनाएं प्राप्त होती है । "दूसरी बार" का नायक पत्रों की धरोहर के माध्यम से एक झूठी उम्मीद का सुख बनाये रखता है वह अपने अतीत के आधार पर यह सोचता है कि उसकी परित्यक्ता पत्नी द्वारा लिखे गये पत्र उसके पुर्नमिलन का आवश्यक माध्यम बनेंगे । दूसरी ओर "रेखा" उपन्यास का प्रौढ़ प्रभाशंकर रेखा के पहले ही आकर्षण के परिणाम में अपने भविष्य के सुखमय जीवन की कल्पना करता है । हालांकि भविष्यत् सुख मात्र कल्पनाधारी होता है फिर भी व्यक्ति का दिवा स्वप्न तथा उसकी इच्छाएं उसे भविष्य में जीने के लिए बाध्य करती हैं । आपस के सोहार्दय जीवन में क्षणिक कटुता के बाद "डाक बंगला" उपन्यास के दम्पत्ति रात की रंगीनियों में उन्नत भविष्य को संजोते हुए सुख का अनुभव करते हैं, जिनमें उनका आत्म-विश्वास सहयोग करता है । कभी-कभी व्यक्ति अपने भविष्य में असाधारण ऊंची उड़ान के लिए अपने वर्तमान को अनदेखा करता चला

जाता है । इस प्रक्रिया में व्यक्ति पर दिवा स्वप्न भरपूर रूप से हावी हो जाता है । इसका उदाहरण "एक इंच मुस्कान" उपन्यास का नायक अमर है । वर्तमान की सुविधाओं को न भोग पाना ऐसे पात्रों की नियति बन जाती है । यही स्थिति इसी उपन्यास की अमला की भी है । भविष्य के गढ़ने में अतीत के अनुभव व्यक्ति के जीवन में विशिष्ट भूमिका का निर्वहन करते हैं । "अपने से अलग" उपन्यास की बूढ़ी माँ अपने सुखद अतीत को बार-बार याद कर उन्हीं की पुनरावृत्ति भविष्य में करने की जिज्ञासा रखती है । व्यक्ति अपने समकालीन जीवन में उन परम्पराओं, रूढ़ियों, आडम्बरों को तोड़ना चाहता है जो संप्रति अनावश्यक होते हैं । इन्हें तोड़ने के लिए वर्तमान पीढ़ी या नवयुवक परिणामों तक जानेवाली प्रक्रियाओं का निर्धारण कर भविष्य में इन्हें पाने का प्रयत्न करता है । "अमृत और विष" उपन्यास के नयी पीढ़ी के पात्र ऐसे ही भविष्योन्मुख विचारों से लिप्त हैं, साथ ही वे उन्नत भविष्य के लिए किसी भी प्रकार की पद्धति अपनाने में हिचक का अनुभव नहीं करते । अत: यह कहा जा सकता है कि भविष्य का सुख व्यक्ति अपने लक्ष्य स्वप्न, दिवा स्वप्न तथा कल्पनाओं के माध्यम से प्राप्त करने का प्रयत्न करता है । प्रयत्न की यह परिणति कोई भी परिणाम दे सकती है ।

0
000
0

संदर्भ

1• सं• वात्स्यायन, संवत्सर, पृ• 94

2• - वही - पृ• 77

3• - वही - पृ• 88

4• कृष्ण चन्दर, एक करोड़ की बोतल, पृ• 57

5• - वही - पृ• 57

6• राजकमल चौधरी, मछली मरी हुई, पृ• 79

7 - वही - पृ• 79

8• - वही - पृ• 82

9• स• वात्स्यायन, संवत्सर, पृ• 89

10• राजेन्द्र अवस्थी, काल चिंतन, पृ• 68

11• राजकमल चौधरी, मछली मरी हुई, पृ• 105

12• - वही - पृ• 105

13• - वही - पृ• 128

14• पारूकान्त देसाई, सा0ोत्तरी हिन्दी उपन्यास, पृ• 118

15• गंगा प्रसाद विमल, अपने से अलग, पृ• 26

16• - वही - पृ• 27

17• - वही - पृ• 27

18• - वही - पृ• 27

19• प्रमोद सिन्हा, उसका शहर, पृ• 94

20• निर्मल वर्मा, वे दिन, पृ• 174-75

21• उषा प्रियंवदा, रूकोगी नहीं राधिका, पृ• 34-35

22· भीष्म साहनी (सं०), आधुनिक हिंदी उपन्यास, पृ· 273

23· मोहन राकेश, अँधेरे बंद कमरे, पृ· 110

24· - वही - पृ· 227

25· भीष्म साहनी (सं०), आधुनिक हिंदी उपन्यास, पृ·544-545

26· मोहन राकेश, अँधेरे बंद कमरे, पृ· 294

27· भीष्म साहनी (सं०), आधुनिक हिंदी उपन्यास, पृ· 388

28· श्रीकान्त वर्मा, दूसरी बार, पृ· 119

29· राजेन्द्र सिंह टीका, रमेश बक्षी के उपन्यासों में व्यक्तिबोध

30· "What I value most is transistoriness .... It is very soul of existence .... transistoriness .... creates time and time is the essence."

THOMAS MANN,

"संवत्सर", पृ· 72 से उद्धृत

31· राजकमल चौधरी, मछली मरी हुई, पृ· 74

32· - वही - पृ· 74

33· - वही - पृ· 85

34· डा० श्रीमती ज्ञानेश्वरी बाजपेयी, "स्वातंत्र्योत्तर नारी का यौन संबंधी दृष्टिकोण", हिन्दुस्तानी, पृ· 67

35· राजकमल चौधरी, मछली मरी हुई, पृ· 132

36· शशिभूषण सिंहल, हिन्दी उपन्यास : यात्रा गाथा, पृ· 21

37· - वही - पृ· 16

38· डा० देवराज, अजय की डायरी, पृ· 30

39· - वही - पृ· 367-68

40· - वही - पृ· 368

41. राजकमल चौधरी, देहगाथा, पृ. 33

42. जैनेन्द्र, मुक्तिबोध, पृ. 54

43. कमलेश्वर, डाक बंगला, पृ. 37

44. निर्मल वर्मा, वे दिन, पृ. 30

45. डॉ० राजेन्द्र प्रताप, हिंदी उपन्यास : तीन दशक, पृ. 63

46. श्रीकान्त वर्मा, दूसरी बार, पृ. 75

47. - वही - पृ. 89

48. भगवतीचरण वर्मा, रेखा, पृ. 31

49. कमलेश्वर, डाक बंगला, पृ. 43

50. राजेन्द्र यादव, मन्नू भण्डारी, एक इंच मुस्कान, पृ. 142

51. - वही - पृ. 56

52. - वही - पृ. 173

53. गंगा प्रसाद विमल, अपने से अलग, पृ. 95

54. - वही - पृ. 95

55. अमृतलाल नागर, अमृत और विष, पृ. 283

56. - वही - पृ. 32

सुख के प्रमुख तत्वों की उपन्यासों में स्थिति तथा विश्लेषण

प्रस्तावना :

सुख की सम्पूर्णता का कोई एकल स्वरूप नहीं होता । सुख का विभाजित रूप कई तत्वों में मिलता है । इन तत्वों की प्राप्ति से सुखानुभूति होती है । इनके अभाव में व्यक्ति क्रमशः दुःखी होता जाता है । सुख के इन अंशों की प्राप्ति पर व्यक्ति में हर्ष और उल्लास का संचार होता है । सुख के तत्व भिन्न-भिन्न होते हुए भी एक दूसरे से उनका अन्तःसंबंध होता है । व्यक्ति को सुखी जीवन बनाने के लिये सबसे पहले उत्साह की ज़रूरत होती है । उत्साहित व्यक्ति में कार्य के प्रति श्रम करने की चौगुनी शक्ति का विकास होता है । उत्साह व्यक्ति को उसके जीवित होने का अहसास भी करता है । निरुत्साहित व्यक्ति जीवन में हार जाता है । उत्साह के साथ-साथ विश्वास एवं आत्मविश्वास भी व्यक्ति को मजबूत बनाये रखने के लिये आवश्यक होते हैं क्योंकि मानसिक स्थिरता द्वारा ही आत्मविश्वास का सुख प्राप्त किया जा सकता है । दो व्यक्तियों के बीच मानसिक स्थिति एवम् आदान-प्रदान का समानान्तर विकास विश्वास के सुख को बनाये रखता है । समानान्तर रूप से चल रहे विश्वास के बल पर व्यक्ति में विभिन्न भावनाओं का जन्म होता है । व्यक्ति के मन के कोमल तंतु भावना के रूप में परिणत होते हैं । आत्म-विश्वास की निरंतर प्रगाढ़ता के साथ ही व्यक्ति में सुखापेक्षी भावनाओं

का प्रस्फुटन होता है । भावनाएं व्यक्ति में परिस्थिति, परिवेश तथा व्यक्ति के प्रति उत्पन्न भावों द्वारा सुख को निष्पत्ति करते हैं । निष्पत्ति के इस प्रयास से व्यक्ति को आत्मदृष्टि में सौन्दर्यानुभूति का संचरण होता है। इस स्थिति में व्यक्ति अपने परिवेश में सौन्दर्य का दर्शन करता है । कल्पना के सहयोग से एक क्रियाशील व्यक्ति जब यथार्थ के धरातल पर आलोकन करता है तब उसे सौन्दर्यानुभूति के एक अवर्णनीय सुख का बोध होता है ।

जीवन के अनेक अनुभव व्यक्ति अपने परिवेश द्वारा प्राप्त करता है। किसी भी प्रकार की सुखद अनुभूति व्यक्ति अनुकूल वातावरण में ही प्राप्त करता है । अनुकूलता सुख का एक सहायक तत्व है । अनुकूलता से व्यक्ति को लक्ष्य-निर्धारण में भी सहायता मिलती है । लक्ष्य व्यक्ति के भविष्य को निर्धारित करते हैं और वर्तमान को गति प्रदान करते हैं । इसी गति में यदि व्यक्ति विविध स्तरों पर जीवन व्यतीत करता है तो उसे एक नया सुखद जीवन और उत्साह मिलता है । व्यक्ति जब विविधताओं से जुड़ता है तो उसके परिवेश में भी विस्तार आता है । ऐसी ही विविधताओं में प्रेरणा के स्त्रोत भी मिलते हैं । भीतर छिपी योग्यता को प्रेरणा बाहर लाती है । इसी के आधार पर कलात्मक सृजन का सुख प्राप्त होता है । सौंदर्य और प्रेरणा कलात्मक सृजन के स्त्रोत होते हैं । मुख्यत: सौन्दर्य भी वहीं सम्भव है जहां प्रेम है । प्रेम सौन्दर्य की अनुभूति कराता है और जीवन में नई चेतना लाता है ।

लम्पट समाज की यह नियति रही है कि व्यक्ति चाहे जो उपाय करे उसे सफल होना ही है । सफलताओं के उत्तुंग शिखर पर पहुंचते-पहुंचते व्यक्ति अपनी सामाजिक हदों से सरकने लगता है और उसका रूझान नशे की ओर होने लगता है । नशा व्यक्ति को जितनी मात्रा में सुख देता है उतनी ही मात्रा में उसे अपरोक्ष रूप से दु:ख भी प्राप्त होता है । अर्थ की सफलता और नशे में डूबा व्यक्ति अपनी अस्मिता बचाने के लिये रीति-रिवाज़ों के माध्यम से समाज की ओर मुड़ता है । आज के वैज्ञानिक युग में रीति-रिवाज़ मात्र एक ढकोसला, दिखावा और बाह्याडंबरीय कृत्य होकर रह गये हैं फिर भी भारतीय संस्कृति का इतिहास इस बात का साक्षी है कि व्यक्ति मायाग्रस्त

जीवन से बचने के लिये रीति-रिवाज़ों और धर्म की शरण में जाता है । व्यक्ति का चरित्र विकासोन्मुख होता है । यथार्थ जीवन में विचरते हुए व्यक्ति अपने बहुमुखी विकास के लिये कभी स्वप्नों में तो कभी दिवास्वप्नों में अपना विकास देखता है । यह एक तरह से उसकी आकांक्षाओं के भविष्यबोध के परिणाम होते हैं । कभी-कभी व्यक्ति अपनी मानसिक थकान के उत्सर्जन के लिये धर्म की ओर अग्रसर होता है जहाँ पर वह नानाविध परेशानियों में भटके-उलझे मन को एक जगह लाकर एकान्त देने का प्रयत्न करता है । मन का एकाग्र होना ही आनंद की अनुभूति का पर्याय है । धर्म इस कार्य में एक माध्यम बनता है । इस प्रकार व्यक्ति अपने जीवन के प्रारंभ से लेकर मृत्युपर्यन्त विभिन्न माध्यमों, मानसिक अवस्थाओं तथा मानसेतर शक्तियों द्वारा अपने अनुकूल सुख एवं आनंद प्राप्त करने का सतत् प्रयत्न करता रहता है ।

सुख देनेवाले प्रमुख तत्वों का मोटे तौर पर वर्गीकरण करके उनके माध्यम से सातवें दशक के उपन्यासों में उनकी स्थिति तथा विश्लेषण, पात्रों की मानसिकता तथा उनकी सुख-प्राप्ति के विभिन्न धरातल व आयामों का अवलोकन शोधकार्य के इस खण्ड में करने का किंचित प्रयास किया गया है ।

उत्साह :

व्यक्ति में उत्साह तब जागृत होता है जब उसके जीवन में अपने पिछले किये गये कार्यों के सुखद परिणाम प्राप्त हुए हों, लगातार की सफलताएं व्यक्ति को उत्साही बनाती है। "जिन कर्मों में किसी प्रकार का कष्ट या हानि सहने का साहस अपेक्षित होता है उन सबके प्रति उत्कंठापूर्ण आनंद उत्साह के अन्तर्गत लिया जाता है ।"[1] कभी-कभी ऐसा भी होता है कि व्यक्ति को स्वयं उसकी योग्यताओं की जानकारी नहीं होती । कार्य-विशेष को सम्पन्न करने के लिये समाज के अन्य व्यक्ति से कथित व्यक्ति उत्साह पाता है । इस प्रकार के उत्साह का सुख एक ओर जहाँ उत्साह देनेवाला पाता है वहीं दूसरी ओर कार्मिक व्यक्ति कार्य की सफलता तथा अपनी उपयोगिता की सफल अभिव्यक्ति में सुख का अनुभव करता है । इसके विपरीत निरुत्साहित करना व्यक्तिविशेष के पतन का कारण भी बनता है ।

किसी कार्य को लेकर व्यक्ति के मन में उठनेवाले द्वन्द्वभाव सहज ही होते हैं । द्वन्द्व मन की वह स्थिति है जहाँ सब कुछ अनिश्चित होता है । जब इस स्थिति से व्यक्ति उबर जाता है तब वहाँ संशय के स्थान पर एक मानसिक शान्ति की अनुभूति होती है जिससे मन उत्साहित होता है । यह सच है कि "उत्साह में आदमी तब रहता है जब वह कुछ निर्णय ले लेता है।"[2] "अपने से अलग" उपन्यास का यह कथन इसलिये समीचीन प्रतीत होता है कि व्यक्ति में निर्णयात्मक हो जाने की स्थिति उसके उत्साह को दर्शाती है ।

मानवीय संबंधों में स्नेह देनेवाला व्यक्ति यदि बार-बार उत्साहित करता रहे तो वह व्यक्तिविशेष अपने लक्ष्य से विमुख नहीं हो पाता । संबंध-गत लगाव में व्यक्ति-विशेष की सफलता में सुख और कष्ट में सुख का अहसास होता है । उत्साह और प्रेरणा में ज्यादा दूर का संबंध नहीं होता । "एक इंच मुस्कान" की अमला नायक अमर की प्रेरणा भी है और प्रेमिका भी । अमर का लक्ष्य जीवन में महान लेखक बनने का होता है । जिसके लिये अमला उसे बार-बार उत्साहित करती है, "अमर, मुझे सचमुच तुम्हारी प्रतिभा और लेखन पर बड़ी आस्था है । अगर तुम भटक गये तो मुझे कितना दुःख होगा, ... मैं ही जानती हूँ"[3] एक कमज़ोर पड़ते लेखक को प्रेमिका द्वारा इस तरह उत्साहित करना उसकी सफलता में सहायक होता है । "उत्साह वास्तव में कर्म और फल की मिली-जुली अनुभूति है जिसकी प्रेरणा से तत्परता आती है । यदि फल दूर ही पर दिखाई पड़े, उसकी भावना के साथ ही, उसका लेशमात्र भी कर्म या प्रयत्न के साथ लगाव न मालूम हो तो हमारे हाथ-पाँव कभी न उठें और उस फल के आनंद की भी कुछ अनुभूति होने लगती है ।"[4] अमर को कर्म करने के लिये उकसाना अमला का काम था क्योंकि वह यह जानती थी कि अमर को एक सफल लेखक बनाया जा सकता है । अमर अमला की इसी प्रेरणा से लेखकीय जीवन में प्रसिद्धी प्राप्त करता है ।

जीवन में जब सफलता और सहजता रहती है तब एक उत्साह का संचार निरन्तर होता रहता है । स्वयं की इच्छाओं को स्वीकार करना और उन्हें पूर्ण करना भी सुख और उत्साह का विषय होता है "मुक्तिबोध" की नीलिमा खुलापन पसंद करती है । इच्छाओं का दमन उसे स्वीकार नहीं होता

तथा नियम और संयम उसे बांध नहीं सकते । वह कहती है -- "मुझे आकाश पसंद है जो खुला है, दिशाएं पसंद हैं जो बुलाती हैं चारों तरफ से, किसी तरह से रोकती नहीं । मैं रहना चाहती कमरों में, दबड़ों में, आदर्शों में । मैं अनंत में रहना चाहती हूं ।"[5] सीमाओं का संकुचन भी व्यक्ति के दुःख का कारण बनता है । जीवन में गति और बहाव ही ताज़गी प्रदान करते हैं । ठीक वैसे ही जैसे एक जगह में सीमित होकर जल सड़ने लगता है । नियम जीवन को संयमित करने के लिए होते हैं, जकड़ने के लिये नहीं । जहां जकड़ बढ़ जाती है वहां व्यक्ति निरूत्साहित होकर कमज़ोर हो जाता है । जीवन में कभी-कभी कुछ क्षण ऐसे भी आते हैं जब सहानुभूति केवल दया जैसी हीन भावना का कारण नहीं बनती बल्कि एक उत्साह की चेतना जगाती है । "अक्सर दूसरों की सहानुभूति अपने होने का अपमान लगती है । मगर कभी-कभी किसी एक क्षण में किसी की दया का स्पर्श समूची अन्तरात्मा को कृतज्ञ कर जाता है ।"[6]

स्वातंत्र्योत्तर उपन्यासों में चरित्रों का मानसिक विश्लेषण अधिक मिलता है । "दूसरी बार" के चरित्रों की जिस मनःस्थिति का चित्रण हुआ है वह उनके संबंधों की प्रगाढ़ता को अधिक पुष्ट करता है । चूंकि दोनों पात्रों के बीच में प्रेम का रिश्ता है, वे सभी यथार्थवादी स्थितियों के प्रति सतर्क रहकर भी उन्हें अनदेखा करते हैं ।"दूसरी बार उसने मुझसे कहा कि मैं उसका हाथ देखकर उसका भविष्य बताऊं । मुझे हाथ देखना नहीं आता और इस विद्या पर मुझे कोई विश्वास नहीं । मगर उसने मुझसे इस तरह इसरार किया कि मुझे यह मानना पड़ा कि मुझे यह विद्या आती है । वह भी जानती थी कि मैं झूठ बोल रहा हूं और मैं भी जानता था कि वह जानती है कि मैं झूठ बोल रहा हूं । हम दोनों की शुरूआत ही झूठ से हुई थी । मगर शायद सबकी शुरूआत झूठ से होती है । अगर झूठ न हो तो शुरूआत को कोई ज़रिया नरहे ।"[7] ऐसा करने में उन्हें सिर्फ इसी बात का उत्साह होता है कि वे एक दूसरे के निकट आ रहे हैं । इस मनःस्थिति में उन्हें झूठ का सहारा भी उत्साहवर्धन में सहयोग करता है ।

गाँव में पला-पुसा व्यक्ति विदेश जा आये तो यह उसके भाग्य की उत्तमता ही मानी जाती है । विदेश से लौटकर यदि वह सामान्य-सी क्लर्की करे तो वह उसकी हैसियत से कम मानी जाती है । "अमृत और विष" उपन्यास के एक पात्र की यही स्थिति है । इसीलिये उसका भाई उसमें इस बात के लिये उत्साह जगाता है कि वह चल रही रोज़गार योजना के अंतर्गत कुछ व्यवसाय प्राप्त कर ले जिससे वह अपने जीवन को सुखी बना सकता है । "मैं नहीं चाहता कि तुम मेरे जैसे बनो । मेरा छोटा भाई जो रशिया तक हो आया है, अब मेरी तरह और अपने ईडियट बाप की तरह से क्लर्की करेगा, न, हर्गिज़ नहीं, माई डियर । हर काम में सिर्फ पूँजी ही नहीं अक्ल भी चाहिए । लाला राधेरमन आजकल छोटी रोज़गार योजना चला रहे हैं ।"[8] चूँकि यह पात्र रूस तक अपनी अक्ल के बल पर ही गया था, अत: उसका भाई उसी बुद्धि-बल के उपयोग के लिये उसे उत्साहित करता है । "प्रत्येक कर्म में थोड़ा या बहुत बुद्धि का योग भी रहता है। कुछ कर्मों में तो बुद्धि की तत्परता और शरीर की तत्परता दोनों बराबर साथ-साथ चलती हैं । उत्साह की उमंग जिस प्रकार हाथ-पैर चलवाती है उसी प्रकार बुद्धि से भी काम करती है ।"[9] किसी कार्य को करने के लिये व्यक्ति में उत्साह भरने से न केवल कथित कार्य में क्रियात्मकता आती है अपितु कार्य को सही दिशा व स्वरूप में प्रदान करने के लिए बुद्धि को भी उत्तेजना मिलती है ।

"राग दरबारी" का सनीचर स्वयं में तो कुछ नहीं होता फिर भी वैद्यजी के प्रभाव में वह हर्ष से फूल जाता है और गाँव का मुखिया बन जाता है अपने पद का उसे इतना उत्साह रहता है कि दरोगा जैसे बड़े पद का व्यक्ति भी उसके पास स्वयं ही आता है । "सनीचर अपनी दुकान के केबिन में बैठा हुआ दरोगाजी और जोगनाथ की प्रतीक्षा कर रहा था । खेत से वापस आते ही उसे गंजही पद्धति से मालूम हो गया था कि जोगनाथ के दावे पर दरोगा जी की हवा खिसक गई है, वे लुलुहाते हुए सुलह के लिये आये हैं, उन्हें कड़ाई से खींचना चाहिए ताकि सबक रहे कि शिवपाल गंज में बड़े-बड़े दरोगा लोग चीं बोल गये और यह घटना वक्त ज़रूरत काम आये । सनीचर ने दरोगाजी की प्रतीक्षा करते-करते भंग की चार-पाँच पुड़िया बेच डाली"[10] इस उत्साह का सुख यही है कि एक साधारण व्यक्ति जो गाँव भर की गालियाँ सुनता

था वही आज प्रधान बनकर सबको डाँट सकता है । गंवई जीवन पद्धति में सामाजिक तथा राजनीतिक धुरी ग्राम प्रधान या मुखिया ही होता है । "राग दरबारी" के प्रिंसिपल साहब का उत्साह यह है कि जो थानेदार उन पर मुकदमा करना चाहता था, उसकी उन्होंने बदली करवा दी । "प्रिंसिपल साहब की प्रसन्नता देखते ही बनती थी । लगता था वे हाथ फैलाकर एकदम हवा में उड़ जाएंगे और सामने की पेड़ की फुनगी पर बैठकर बुलबुल की तरह कोई तराना छेड़ देंगे । उन्होंने कहा, "बाबू रंगनाथ, इतने दिन अपने मामा के साथ रहकर भी तुमने उन्हें नहीं पहचाना । इससे पहलेवाले थानेदार को उन्होंने बारह घंटे में शिवपाल गंज से भगाया था । इन्हें तो, लगता है, चौबीस घंटे मिल गये ।"[11] प्रिंसिपल साहब का उत्साही होना उनकी थानेदार पर जीत का द्योतक है ।

उत्साह सुख का एक स्त्रोत है । उत्साह से व्यक्ति की मानसिक और शारीरिक शक्तियों में स्फूर्ति आ जाती है । उत्साहित व्यक्ति में जीवन्तता होती है । यही जीवन को एक गतिशीलता प्रदान करती है । जीवन का सुख जीवन के प्रवाह में है और प्रवाह में उत्साह निहित होता है

विश्वास तथा आत्म-विश्वास :

विश्वास व्यक्ति को दिशा प्रदान करता है । इससे निर्धारित लक्ष्य के प्रति प्रयास व्यक्ति द्वन्द्वमुक्त होकर करता है । विश्वास में एक दृढ़ता और आशा का भाव सुचलित होता है । इसी धैर्य के बल पर व्यक्ति साहसी बनकर भयमुक्त होकर जीवन जीता है । आत्मविश्वासी व्यक्ति के सामने निराशा के बादल अधिक समय तक मंडरा नहीं पाते । आत्मविश्वासी व्यक्ति प्राय: अहंवादी होते हैं लेकिन यह कहा जा सकता है कि विश्वास से एक मानसिक स्थिरता मिलती है जो कि एक शान्ति की स्थिति है । यही स्थिति सुख कहलाती है । "विश्वास की भाषा दिल ही समझ सकता है, जीभ अगर कोशिश करे तो भी कामयाब नहीं होती ।"[12] यानि कहा जा सकता है कि विश्वास भी एक ऐसी आत्मिक अनुभूति एवं स्वयं को जानने की स्थिति है जिसके प्रदर्शन के लिये शब्द या भाषा का सहयोग असंभव होता है।

परिवार में व्यक्ति की मानसिक स्थिरता का प्रथम आधार पत्नी होती है । पत्नी के विश्वास द्वारा ही आदमी का मन स्थिर और मजबूत बना रहता है । "कड़ियाँ" उपन्यास में महेन्द्र अपनी पत्नी प्रमिला के संदर्भ में यह बात स्वीकारता है, "उसके मन को कोई बात व्याकुल नहीं करती, वह छटपटाती नहीं, उसकी बड़ी-बड़ी आँखों में विश्वास छाया रहता है । मेरे जीवन में यदि कोई स्थिरता है तो उसी के कारण बनी हुई है ।"[13] इस विश्वास के पीछे घर के कामों में उलझे रहनेवाली शांत स्वभाव की नारी पूर्ण विश्वास देकर भी अपने जीवन में हार जाती है । अक्सर ऐसा होता है कि विश्वास देकर यदि प्रतिदान में विश्वास न पाया जाए तो विश्वास विलुप्त हो जाता है । "कड़ियाँ" की प्रमिला में आदर्श गृहिणी के सभी गुण मौजूद हैं लेकिन वह आधुनिक जीवन की फैशनपरस्ती की दुनिया में बहुत पीछे है । इसी फैशन के आकर्षण में महेन्द्र अपने कार्यालय में काम करेनवाली सुषमा से विवाह कर लेता है । प्रमिला को तोड़कर वस्तुत: लेखक नारी को आर्थिक रूप से निर्भर बनाने की कोशिश में लगा दिखाई देता है । आर्थिक निर्भरता एक आत्म-विश्वास जगाती है और पराश्रिता के बंधन से मुक्ति दिलवाती है । अशिक्षित प्रमिला टूटकर पुन: स्वयं को हिम्मत से समेटती है और अपनी पड़ोसन से कहती है, "पर अब मैं उसके पीछे मारी-मारी तो नहीं फिरूंगी । बहुत हो गया । रूखी-सूखी खिलाकर जैसे-तैसे अपने बच्चों को पाल लूंगी । भगवान ने मुझ पर दया की है । सत्ती, मुझमें हिम्मत आ गई है, अब मैं डरती नहीं, थर-थर कांपती नहीं रहती । अब तो मैं पिताजी को भी परेशान नहीं होने देती ।"[1] प्रमिला का यह आत्मविश्वास स्वाश्रित होने एवं आत्मनिर्भर होने से ही जागा है । भारतीय समाज में अधिकांश स्त्रियाँ पराश्रित होने के कारण ही विलगाव का ऐसा दु:ख झेलती हैं ।

पति के साथ विश्वास टूटने पर नारी में आत्म-विश्वास की एक प्रबल ज्योति जगती है और वह आत्म-निर्भर बनकर जीना चाहती है । "एक इंच मुस्कान"की अमला पति के घर से आ जाने के बाद सोचती है कि यह बंधन टूट गया तो किसी दूसरे बंधन में क्यों जुड़े । वह दुबारा ऐसे बंधन में बंधकर सामान्य होकर नहीं अपितु विशिष्ट होकर जीना चाहती है । वह एक आज़ाद जीवन जीना चाहती है । जीवन के प्रति ऐसी ही दृष्टि से उसे आत्मविश्वास

प्राप्त होता है और आत्म-सम्मान की भावना प्रबल होती है । वह अपने पिता से कहती है, "मैं किसी से विवाह करना नहीं चाहती, किसी से भी नहीं । मैं इतनी निर्बल और निरीह नहीं हूं कि जीवन बिताने के लिये कोई सहारा चाहिए । x x x यों भी आप मेरे पिता हैं और पिता के सारे अधिकार आपके पास हैं, फिर भी यह न भूलिये कि मैं वयस्क हूं, और अपने को अपमानित करने का अधिकार शायद मैं आपको भी न दे सकूंगी ।"[15] एक संवेदनशील स्त्री मर्माहत होने के पश्चात् दुबारा उसी राह पर चलना पसंद नहीं करती, विशेषकर तब जबकि उसका विश्वास ढहा गया हो ।

इसी उपन्यास की रंजना प्रेम और विश्वास के शब्दजाल में फंसकर अमर से विवाह कर लेती है । इसके लिए परिवार का विरोध कर स्वयं ही विवाह कर लेने में उसका विश्वास प्रेरक होता है । रंजना स्वयं अमर से कहती है, "एक आश्वासन होता है, ... एक निश्चय होता है, और उसके आधार पर बड़े से बड़ा कदम उठाया जा सकता है ।"[16] रंजना के लिये यह आश्वासन झूठा सिद्ध होता है । अमर अमीर अमला के चक्कर में चला जाता है जिससे गरीब रंजना का विश्वास टूट जाता है ।

सहाय के संबंध में सब कुछ जानते हुए भी "मुक्तिबोध" उपन्यास में उसकी पत्नी राज की समर्पण भावना में कोई कमी नहीं आती । नीला के साथ सहाय के संबंधों को वह जानती है, लेकिन फिर भी पति को पूर्ण विश्वास देती है । वह कहती है कि, "धरम पत्नी कभी अलग से गिनती के लिये नहीं हुआ करती है । उसका सब कुछ धरम-पति के साथ होता है ।"[17] यही विश्वास सहाय को बरदाश्त नहीं होता । वह चाहता है कि राज, जो उसकी पत्नी है उस पर शक करे । भला, बुरा कहे क्योंकि वह उसी के लायक है । वह विश्वास की चोट से तिलमिला उठता है और कहता है, "करना चाहिए शक ! तुमने क्या समझ रखा है ? देवता समझ रखा है "[18] लेकिन यह आवेश और अविश्वास भरे शब्द राज को भड़काते नहीं, वह शान्त भाव से इसे स्वीकार कर लेती है । ऐसी चुप्पी उपन्यास में एक असहज स्थिति पैदा करती है । जैनेन्द्र के उपन्यासों के पत्नी-पात्रों को पति का प्रेमिका रखना अखरता नहीं बल्कि पति की उन्नति और विकास के लिये ऐसा होना उन्हें अच्छा भी लगता है । प्रेमिका का स्पर्श सहाय को आश्वासन देता सा लगता है । पारिवारिक

अनबन या राजनीतिक उलझनों से घबराकर सहाय नीला के पास जाता है और देर तक बैठता है । "ऐसे हम देर तक बैठे रहे । नीलिमा की हथेली मेरे हाथ को होले-होले सहलाती रही और मैं सोचता रहा कि नीलिमा कोई नहीं है, मैं उसका कोई नहीं हूं । लेकिन यह हाथ का स्पर्श न जाने एक दूसरे को कितनी सान्त्वना, कितना आश्वासन पहुंचा रहा है । बाहर का होता जाता हुआ तथ्यात्मक या घटनात्मक सब कुछ अन्त में जैसे अलग ही छूट जाता है, सार रूप में छोड़ जाता है कुछ वह जो मनोवेदना को घुलाता और स्वयं उसमें घुलता रहता है ।"[19] मानसिक वेदना को शान्ति व उलझनों से मुक्ति के लिये सहाय को नीला से मनोबल प्राप्त होता है । सहायक अन्य को विश्वास दे या न दे लेकिन राज और नीला से उसे पूर्ण विश्वास मिलता है ।

उपन्यासों में कुछ पात्र ऐसे भी मिलते हैं जो विश्वास और आस्था की तलाश में भटकते रहते हैं । आत्मविश्वास की तह में जाकर "अँधेरे बंद कमरे" की सुषमा यहपाती है कि पत्रकार के रूप में काम करके बाहरी संघर्षों से वह थक चुकी है । अकेले रहनेवाली मुक्त विचारों की सुषमा एक घर की कामना करती है । "मैं कितना चाहती हूं कि जीवन में मुझे किसी तरह की आस्था मिल जाए, मगर उसकी जगह जो कुछ मिल जाए, मगर उसकी जगह जो कुछ मिल रहा है, वे हैं कोरे शब्द । x x x ये शब्द केवल हमारे सुख में बाधा ही डाल सकते हैं । मुझे इस तरह के शब्दों से नफरत है । मैं अपने लिये अब एक छोटा-सा घर चाहती हूं, बस ।"[20] स्नेह, सहानुभूति और आस्था में सुषमा विश्वास करती है । लेकिन व्यावहारिक जीवन में ये शब्द खोखले प्रतीत होते हैं । शब्दों के ऐसे कोरेपन से एक अर्थहीनता और बेईमानी की स्थिति संबंधों में जन्म लेने लगती है ।

"दीर्घतपा" उपन्यास की रेवा अपने प्रेमी पर विश्वास करती है । उसके लिये अपने परिवारवालों को भी छोड़ती है और अन्तत: अकेली हो जाती है, लेकिन वही आदमी उस पर विश्वासघात का आरोप लगाता है । रोती हुई रेवा अपने मित्र से कहती है, "रमा बहन, तुम गवाह हो । इस आदमी को चलते मैंन कम से कम आधा दर्जन लोगों का इन्सल्ट किया । अपने रेडियो स्टेशन के कितने सहकर्मियों से झगड़ा मोल लिया और आज यही लिखता है कि मैंने उसके साथ चालबाजी की है ।"[21] रेवा विश्वास देकर अविश्वास पाती है

और टूटती है क्योंकि इसी के लिये उसको अपना सब कुछ गंवाना पड़ता है । "दूसरी बार" के नायक में विश्वास की कमी दिखाई देती है । वह केवल विश्वास पाना ही चाहता है । उसे लगता है कि प्रेम करके व्यक्ति अपना आत्म-विश्वास गंवा बैठता है । वह एक हीनभावना से ग्रस्त लगता है और स्वयं को अपमानित महसूस करता है । लेकिन अविश्वासी होते जाने के कारण उसके मन में एक कुण्ठा का निर्माण भी होने लगता है । उसका मानना है कि प्रेम के चालू फार्मूले बेकार हैं क्योंकि इनमें स्थायित्व नहीं होता । उसकी मानसिक उलझन निम्न विचारों से प्रकट होती है -- "एक-दूसरे को जानना, एक-दूसरे से अलग होना है या एक-दूसरे से जुड़ना -- इसके बारे में क्या कहा जा सकता है, क्योंकि जो जिससे जितना जुड़ा है उतना ही टूटता है, जो जिससे जितना प्रेम करता है उतनी ही घृणा । प्रेम करना घृणा करना है और घृणा करना प्रेम करना है । व्याख्याएं करते हुए दिमाग उलझने लगता है और इससे सबसे पहले जो चीज़ टूटती है, वह है आत्म-विश्वास । आखिर में टूटा हुआ आत्म-विश्वास ही रह जाता है ।"[22] "दूसरी बार" का यह प्रमुख पात्र प्रेम या विश्वास देने में असमर्थ दीखता है क्योंकि विश्वास के अभाव में उसमें निर्बलता एवं मानसिक द्वन्द्व ही अधिक होता है । टूटी-बिखरी तथा असंतुलित मन:स्थिति के कारण उसके आत्मविश्वास भी नहीं होता ।

विश्वास व्यक्ति के साथ चलनेवाला एक ऐसा सहारा है जिससे उसको जीवन में मज़बूती मिलती है जिससे उसे अपने उद्देश्यों में बढ़ने में सहयोग मिलता है । विश्वास के अभाव में सभी भौतिक सुविधाएं होते हुए भी व्यक्ति जीवन में अकेला हो जाता है । विश्वास का सुख विश्वास के होने में ही निहित है ।

भावनाएं :

भावनाएं मानव मन के कोमलतम भाव हैं जो आत्मीय के प्रति सहज ही प्रस्फुटित हो जाते हैं । मन के उद्गार ही भावनाएं हैं । हर व्यक्ति तथा वस्तु के साथ इसके अर्थ भिन्न होते हैं । वस्तुत: भावनाओं का अर्थ मन में उपजनेवाले उद्गारों से लिया जाता है । व्यक्ति से भावनाओं का संबंध कभी सतही होता है तो कहीं गहराई में होता है । भावनाओं का अर्थ अभिव्यक्ति के भिन्न-भिन्न माध्यमों द्वारा भी बदलता रहता है ।

मातृत्व की भावना में डूबी हुई "मछली मरी हुई" की प्रिया कमज़ोर निर्मल के पुरूषत्व को ललकारती है, "पसंदी का सवाल नहीं है । एक और की जिन्दगी का सवाल है । आप उसे एक संतान नहीं दे सकते, तो उसके पास क्यों जाते हैं ? एक ही बार में उसे मार क्यों नहीं डालते ।"[23] शीरीं जो निर्मल की पत्नी है, माँ बनना चाहती है । निर्मल की असमर्थता के कारण शीरीं मातृत्व की भावना से वंचित रह जाती है । नारी का मूल सुख मातृत्व में सार्थकता पाता है। वह इसीलिये पुरूष के पुरूषत्व के सहयोग की कामना करती है । असमर्थ, कायर, कमज़ोर पुरूष से शीरीं को मातृत्व की भावना सुख की अपेक्षा दु:ख ही पाती है ।

प्रेम व सहयोग की भावना का रूप "कड़ियाँ" उपन्यास की सुषमा में मिलता है। सुषमा महेन्द्र के कार्यालय की साथी है । वह अपनी व्यक्तिगत दिलचस्पी के कारण कार्यालयी समाज से हटकर कुछ समय महेन्द्र के साथ बिताना चाहती है । "मैं तुमसे कुछ नहीं माँगती, महेन्द्र । केवल कभी-कभी तुम्हारे साथ दो घड़ियाँ बिताना चाहती हूँ । बस, इतना ही । इसमें किसी को क्या एतराज होना चाहिए ? तुम्हारे वक्त से जो दो घड़ियाँ टूटकर मेरी गोद में पड़ जाएं, मैं उन्हीं से संतुष्ट हूँ ।"[24] अपने मनोनुकूल साथी के साथ कुछ क्षण बिताकर सुषमा सुख पाना चाहती है । कुछ क्षण साथ होने की मैत्रिक भावना में ही सुषमा का सुख है । साथियों की ऐसी ही स्नेह भावना पर "अजय की डायरी" में यह विचार मिलते हैं कि संत-सन्यासी बनने में संतों की ऊंचाई में निर्लिप्त होने से साथियों का साथ छोड़ना पड़ता है । यहाँ पर मन मरता है। मन को कठोर बनाना पड़ता है । " क्या हृदय की कोमल वृत्तियाँ एकदम ही हेय हैं । मेरा मन इसे स्वीकार नहीं करना चाहता । सन्त बनने के लिये हमें मानव साथियों से संबंध तोड़ ही लेना चाहिए । उनके स्नेह पर निर्भर नहीं रहना चाहिए । यह फिलासफी मुझे आवश्यक रूप से सख्त और अमानवीय जान पड़ती है ।"[25] अजय संतों के खिलाफ इसलिये ही है कि संत बनने के लिये मानव-मन को बलपूर्वक नैराश्य की ओर ले जाना पड़ता है । शरीर को कष्ट देना भी एक मानसिक यातना है । मन से उठनेवाली भावनाओं को सहर्ष स्वीकार लेना ही सुखकर स्थिति होती है ।

किसी भावना या स्थिति का अहसास ही जीवन है । जीवन में दर्द का अहसास कर "उसका शहर" की लूपिका तनावमुक्त होना चाहती है । उसका कहना है, "एहसास ही तो अपने में जीना है, नहीं तो बिना इसके कहीं भी कुछ भी हो, फर्क क्या पड़ता है ।"[26] बिना भावना के किसी क्षण का अहसास भी नहीं किया जा सकता । लूपिका अहसास की भावना में ही जीना देखती है।

नारी पुरूष से केवल सुरक्षा ही नहीं अपितु घर और प्रेम भी चाहती है लेकिन इसके लिये अपने अस्तित्व तथा अपनी इच्छाओं का बलिदान करना उसे स्वीकार नहीं होता । "अंधेरे बंद कमरे" की नीलिमा एक महत्वाकांक्षी नारी है । अपने पति हरबंस से दूर विदेश में रहकर भी उसकी भावना यही कहती है कि, "तुमने मुझे जिस रास्ते पर डाला है, अब मुझे उस रास्ते पर आगे ले चलो। मैं तुमसे हठ के साथ यही मांगती हूं । मैं तुमसे दूर होकर नहीं रह सकती । तुम भी मुझे अपने से दूर होने का रास्ता न दिखाओ ।"[27] यह नीलिमा की अपने पति के साथ लगाव की भावना है । प्रतीक्षा में दूरी होती है जिसमें एक सुखद भावना होती है । "दूसरी बार" के नायक "मैं" का तलाक हो गया है । उसे यह उम्मीद है कि उसकी पत्नी बिन्दो अपनी पुरानी चिट्ठियाँ लेने उसके पास अवश्य आएगी । इस बहाने बातचीत का सिलसिला फिर शुरू हो सकता है । पुनर्मिलन की भावना तथा इच्छा-सुख प्रदान करती है । नायक के जीवन में सुख का यही आखिरी छोर था जिसे थामे हुए वह खुश था । एक प्रकार से संभावना व उम्मीद का झूठा सुख पा रहा था लेकिन प्रतीक्षा की यंत्रणा न केवल उसे सुख बल्कि दु:ख भी पहुंचाती रही । अन्तत: चिट्ठियाँ लौटाकर वह इस झूठे सुख को भी तोड़ देता है । वह सोचता है, "मैं जिस यंत्रणा से कभी मुक्त नहीं हो सका था, वह प्रतीक्षा की यंत्रणा थी । मगर क्या मुझे इसी दिन की प्रतीक्षा थी ? क्या यह आखिरी सूत्र भी तोड़ना था । बिंदो से अलग हुए कई साल हो चुके थे, मगर ऐसा लगता नहीं था कि मैं पूरी तरह से अलग हुआ हूं । आज ये चिट्ठियाँ उसे देने के बाद लग रहा था कि अब कुछ भी नहीं रहा । बिन्दो क्षण भर में, मेरे लिये, पूरी तरह अजनबी हो चुकी थी ।"[28] चिट्ठियाँ लौटा कर नायक एक अजीब सन्नाटे में पहुंच जाता है । अपनी भावना को अपने ही हाथों कुचल देता है । जीवन की उस मनहूस शाम को उसे लगता है कि वह किसी आदिम गुफा में चला गया है । इस प्रकार भावना के नकार की परिणति दु:ख में होती है ।

मुस्कुराहट में छिपी दर्द की भावना का अहसास एक सुखद प्रतीति है । "मछली मरी हुई" उपन्यास में शीरीं की मुस्कुराहट में दर्द का अहसास निर्मल को होता है, जिसमें उसे अनेक अर्थ मिलते हैं । "यह मुस्कुराहट हर सवाल का जवाब है, हर दु:ख की दवा है, हर परिस्थिति को सह लेने की ताकत है। इस मुस्कुराहट में और कुछ नहीं है । एक औरत अपने मर्द को देखकर मुस्कुरा रही है । दर्द, अभिमान, शिकवा और शिकायतें और समर्पण ।"[29] भावनात्मक मुस्कुराहट अनेक प्रश्न पैदा करती है । मुस्कुराहट की मूक भाषा मूलत: भावनात्मक लगाव को प्रकट करती है ।

अस्तित्ववादी पात्रों में प्रेम में मुक्त रहने और मुक्त रखने की भावना मिलती है । "रुकोगी नहीं राधिका" की नायिका डैन के साथ प्रेम-संबंध स्थापित करती है लेकिन डैन राधिका को इस दाम्पत्य संबंध से मुक्त कर देता है और कहता है, "तुम्हें नई तरह से एड्जस्ट करने में समय लगेगा, मैं जानता हूं, मुझसे छूटने पर दु:ख भी होगा । तुम में युवावस्था की लचक है और तुम शीघ्र ही इस दु:ख पर विजय पा लोगी । मैं तुम्हें रिजेक्ट नहीं कर रहा हूं मुक्त कर रहा हूं ।"[30] डैन का राधिका को मुक्त करने का कारण राधिका के मन में प्रेम-भावना का अभाव है । जबकि डैन राधिका की इस स्वार्थी भावना से सर्वथा अनभिज्ञ रहता है । जहां एक ओर डैन अपने अतीत के दु:खी जीवन को भूलने के लिये राधिका को अपनाता है वहीं दूसरी ओर राधिका डैन का साथ सिर्फ पिता को प्रताड़ित करने के लिये देती है ।

अपनी पत्नी से तटस्थ होने के बाद "दूसरी बार" का नायक सोचता है कि उसकी पत्नी किसी मानसिक बीमारी से ग्रस्त होने के कारण उसकी भावना को समझने में असमर्थ रही । यही सोचकर उसे आत्म-संतुष्टि प्राप्त होती है । "पुरानी बातें पर नई रोशनी पड़ती है और या तो रोशनी गलत होती है या पुरानी बातें । संबंध-विच्छेद के बाद, जब भी, तटस्थ होते हुए मैंने बिन्दो के बारे में सोचा, इसी नतीजे पर पहुंचा कि वह एक न्यूरोटिक स्त्री है । इस नतीजे पर पहुंचकर मुझे अनुपम तृप्ति मिलती थी ।"[31] यह भावनात्मक तृप्ति ही सुख का कारण बनती है ।

प्रेम में भावनात्मक सुख का एक रूप वह भी होता है जहां व्यक्ति जीव के साथ-साथ सामान्यसा भोजन भी बरदाश्त कर लेता है । भावनात्मक स्तर पर इससे विश्वास को आधार मिलता है । "अठारह सूरज के पौधे" की नायिका नायक से कहती है, "क्योंकि आपने पहले दिन बगैर घी वाली भाखर खा ली थी और मैं इससे समझी कि मेरी जिन्दगी के रूखेपन को आप हमदर्दी से देख रहे हैं । यदि उस दिन वे भाखर आपने नहीं खायी होती तो मेरे मन में आपके प्रति कोई भ्रम पैदा नहीं होता ।"[32] रूखे भाखर खाकर नायक उसकी प्रेम-भावना को स्वीकार लेता है ।

माँ के प्रति प्रेम तथा सम्मान की भावना "उसका शहर" उपन्यास की लूपिका में मिलती है । लूपिका की माँ नोरा तलाकशुदा है । संयोगवश लूपिका का पिता आमूल अवकाश-प्राप्ति के पश्चात् उन्हीं के पड़ोस में आकर रहता है और लूपिका उसके घर आने-जाने लगती है । आमूल लूपिका को देखकर नोरा के बारे में सोचता और कहता है कि, "अब वह तुम्हारी माँ नहीं रही।"[33] इस बात पर लूपिका की प्रतिक्रिया यह होती है -- "भले ही अब वह आपकी पत्नी नहीं रही लेकिन मेरी माँ नहीं है, इसे आप कैसे इन्कार कर सकते हैं । आप मेरे सामने माँ को कुछ न कहा कीजिए ।"[34] लूपिका की यह तीखी प्रतिक्रिया उसके आत्मीय प्रेम को दर्शाती है । निरीह पिता की ये आघात भरी बातें लूपिका को चोट पहुंचाती हैं लेकिन लूपिका का मन माँ के सम्मान के प्रति जागरूक रहता है । इसी उपन्यास में पिता की स्नेह भावना आमूल में भी मिलती है जो पुत्री के प्रति उसके लगाव को दर्शाता है । "देखो बेटी, जिन्दगी एक सी नहीं रहती । इसमें हर तरह की घटनाएं घटित होती रहती हैं । इसीलिये प्राय: हर कुछ को एक तटस्थ दर्शक की भाँति ही देखना चाहिए । अत्यधिक लगाव का, कहीं कुछ भी मतलब नहीं होता ।"[35] आमूल के ये दार्शनिक विचार अपने पड़ोसी "श्री" की माँ की मृत्यु पर उपजता है जिसके माध्यम से वह लूपिका को सही दिशा व उपदेश देना चाहते हैं ।

परम्परागत परिवार की सदस्या होते हुए भी "चौदह फेरे" की अहल्या नौकरी करना चाहती है । वह आत्मनिर्भर बनकर जीना चाहती है । विवाह के समय नौकरी के लिये विरोध करने पर वह अपने पिता से कहती है,

"पापा, जब मैं नौकरी करने गई, तब भी मैं बहुत बड़े आदमी की बेटी थी, यदि तब नौकरी करने में कोई दोष नहीं था, तो अब भी नहीं होना चाहिए। अहल्या के इन प्रगतिशील विचारों में एक आधुनिका नारी की आत्मनिर्भरता की भावना मिलती है । उच्चवर्गीय परिवार की अपेक्षा मध्यवर्गीय परिवारों में यह स्थिति कुछ भिन्न प्रकार की होती है । "अठारह सूरज के पौधे" उपन्यास में नायिका का पिता अपाहिज होता है तथा धनार्जन के लिये अपनी बेटी पर ही निर्भर होता है । अपने पिता की मन:स्थिति का वह स्मरण करती है, "दादा की आँखें सूख नहीं पायी थीं, वे रोते हुए ही बोले थे -- यह तेरी शादी की उम्र है, तेरी अपनी उम्र है लेकिन इन छोटे-छोटे बच्चों के लिये मैं इसे तुझसे माँग रहा हूं । देख, किसी भावुकता में छ: वर्ष पहले ही ब्याह मत कर लेना कि हम सब भूखे मर जाएं । नहीं तो तू ब्याह कर ले

और ये पढ़कर इस काबिल भी न बन पाये कि पेट तो भर सकें ..... मैंने दादा के आँसू पोंछ दिये थे ......"[37] मध्यवर्गीय परिवार में पिता की स्नेह भावना में आर्थिक विवशता का रूप अधिक मिलता है । भावना की विवशतम स्थितियाँ उस समय पैदा होती है जब परिवार में माँ नहीं होती, पिता बूढ़े, अपाहिज, असहाय होते हैं और परिवार के पालन-पोषण की जिम्मेदारी बड़ी लड़की की होती थी, पिता अपनी लड़की की शादी की खुशी चाहता है लेकिन पारिवारिक परिस्थितियाँ कुछ इस प्रकार से उत्पन्न हो जाती हैं कि उसे विवश होकर एक निर्धारित समय के लिये ही सही, विवाह न करने की सलाह देनी पड़ती है । स्नेह की इस भावना में एक विवशता भरा दर्द ऐसी घरेलू परिस्थिति में उत्पन्न होता है ।

जिन परिवारों में आज़ादी अधिक दी जाती है वहाँ बच्चे अधिकतर परायेपन की भावना से ग्रस्त दिखाई देते हैं । "मुक्तिबोध" उपन्यास में पिता सहाय अपने राजनैतिक कार्यों में तथा माँ घरेलू कामों में व्यस्त होती है जिसके परिणाम में बच्चे स्वयं को उपेक्षित महसूस करते हैं । व्यक्ति के समुचित विकास के लिये स्वतंत्रता आवश्यक है लेकिन अत्यधिक स्वतंत्रता व्यक्ति को उच्छृंखल बना देती है और वह अकेलापन महसूस करता है । नीला सहाय से कहती है, "जितनी आदर्श की सिद्धी हो वही वास्तव है, नहीं तो महत्वाकांक्षा है । उसमें ही आदमी अकेला बनता है और अपने और दूसरों के लिये समस्याएं पैदा करता है।

वीरेश्वर को तुमने स्वतंत्र और स्वायत्त समझा, जबकि वह तुम्हारा और घर का अंग था। तुम समझते गये कि स्वतंत्रता दे रहे हो, वह समझता गया कि वह पराया समझा जा रहा है।"[38] कोई घरेलू व्यक्ति अकेलापन महसूस करे यह पुत्र के लिये ही नहीं बल्कि पिता के लिये भी दु:ख का कारण बनता है। भारतीय रूढ़िगत समाज में प्राय: अन्तर्जातीय विवाह के प्रति विरोध की भावना मिलती है। लेकिन स्नेहवश माता-पिता बच्चों की इस भावना को स्वीकार कर भी लेते हैं तब भी सामाजिक भय उनमें रहता ही है। "राग दरबारी" में ऐसी स्थिति का चित्रण मिलता है। "जब बद्री ने निश्चय ही कर लिया है और पूरे समाज में बात फैल गई है तो हमारा यही कर्तव्य है कि शान्तिपूर्वक इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लें। यह एक आदर्श विवाह माना जाएगा। दोनों सुख से रहेंगे। बद्री को मैं राजनीति में काढ़ रहा हूं। यूनियन का मैनेजिंग डाइरेक्टर उसे बना ही दिया है। कन्या को भी कुछ दिन बाद समाज-सुधारक के कार्यों में लगा देंगे। महिलाओं का एक बोर्ड है उसमें उसे कोई पद दिला देंगे। मोटर मिलती है। चपरासी साथ रहता है। कुछ समय बाद एम०एल०ए० का टिकट भी दिलाना है। पति-पत्नी दोनों मिलकर सुखपूर्वक देश-सेवा करेंगे। हमें और क्या चाहिए?"[39] वात्सल्य-प्रेम से भरे ये विचार मन की वह सुखद भावना है जहाँ अभिभावक हर दृष्टि से अपने पुत्रों का सुख चाहते हैं।

पारिवारिक संदर्भों में भावनागत सुख का स्वरूप भिन्न-भिन्न रूपों में मिलता है। आधुनिकता तथा व्यावसायिक समाज में धन की प्रमुखता मिलते जाने के कारण स्त्री भी धनार्जन में अपने परिवार को सहयोग करने लगी है, दूसरी ओर स्वयं स्त्री भी आत्मनिर्भर बनने के पक्ष में ही होती है। मध्यवर्गी समाज में ऐसी आत्मनिर्भरता कहीं अस्तित्व संकट के कारण जन्म लेती है या फिर विवशता के कारण। पीढ़ीगत दरार के कारण माता-पिता की स्नेह-भावना युवा पीढ़ी की भावनाओं के साथ न चलकर उससे कुछ पीछे चलती है जिससे युवाओं में माँ-पिता के प्रति एक गलतफहमी जन्म लेने लगती है।

धर्म, आस्था और नैतिकता की भावना व्यक्ति के जीवन को सुखी बनाने के लिये ही होती है। लेकिन व्यावहारिक जीवन जीते हुए धर्म, आस्था और नैतिकता पर से व्यक्ति का विश्वास कुछ टूटने लगता है। "मछली मरी

हुई" का निर्मल कहता है, "नैतिकताएं गलत कैदखाने की दीवारें हैं । धर्म अंधा बनाता है । ईश्वर पर भरोसा करते ही अपनी शक्ति पर अनास्था हो जाती है ।"[40] धर्म, आस्था और नैतिकता व्यक्ति में भय उत्पन्न करते हैं जिससे वह समाज में अनाचार न फैला सके । ये उसकी भावनाओं पर अंकुश की तरह होते हैं । जब व्यक्ति अपने से इतर या अन्य पराशक्ति पर अधिक विश्वास करने लगता है तो उसकी वास्तविक शक्ति की क्षमता घटती जाती है । अपने ही द्वारा निर्मित एक कमज़ोरी की जकड़ में वह स्वयं कैद हो जाता है । दूसरी ओर व्यक्तिवादी विचारधारा के पात्र मन और बुद्धि की बात मानते हैं । वे अन्य शक्तियों की अपेक्षा स्वयं पर अधिक विश्वास रखते हैं । उनके विचार तथा भावनाओं में इसी प्रकार के आत्मिक सुख का रूप मिलता है ।"कानून, धर्म, विज्ञान और राजनीति, इन चारों का उद्देश्य एक ही है -- आदमी को सुखी एवं सम्पन्न करना । जो वस्तु, जो व्यवस्था आदमी को दरिद्र करे, अपाहित करे, उसे तोड़ देना चाहिए । अरस्तू सही आदमी था और सही आदमी था कार्ल मार्क्स ।"[41] यह विचार समाजवादी व्यवस्था का प्रतिनिधित्व करता है । कानून, धर्म, विज्ञान और राजनीति मूलत: व्यक्ति की भावना और सुख को केन्द्र में रखकर ही अपना कार्य करते हैं लेकिन फिर भी समाज की कुछ व्यवस्थाएं एवं कानून ऐसे होते हैं जो व्यक्ति को तोड़ती हैं । ऐसी ही अपाहित व्यवस्थाएं जो व्यक्ति के विकास में बाधा खड़ी करती हैं उन्हें तोड़ देने की भावना सातवें दशक के उपन्यासों की एक प्रमुख प्रवृत्ति रही ।

मनुष्य की मूल भावनाएं हर युग में वही होती हैं लेकिन समाज के ढांचे तथा युग में परिवर्तन होता रहता है । भावना की अतिशयता और भावना का अभाव दोनों ही दु:ख का कारण बनते हैं । "नार्मेल्टी है भावना का बौद्धिक संतुलन । भावना निरपेक्ष और अपरिवर्तनशील संज्ञा है -- वह नहीं बदलती । जहां तक समाज और सामाजिक मान्यताओं के बदलने का प्रश्न है, वह मानवीय भावना पर बौद्धिक विकास की गति का परिणाम है, लेकिन मानव की आधारभूत भावनाओं में कोई परिवर्तन नहीं होता । दया, प्रेम, त्याग, घृणा, क्रूरता, शोक ये सब जैसे थे वैसे हैं, किसी तरह का कोई परिवर्तन नहीं हुआ है उनमें ।"[42] "रेखा" उपन्यास में प्रभाशंकर के इस वक्तव्य से सवाल यह उठता है कि बदलता हुआ समाज बौद्धिक विकास का सूचक तो

है लेकिन इसके दबाव में भावना सहज रूप से विकसित नहीं हो पाती । बौद्धिकता की अतिशयता में भावना का वास्तविक स्वरूप दबने लगता है । "स्पष्ट रूप से निश्चित कारण जान लेना तो कठिन है, मैं केवल अनुमान लगा सकता हूं । विज्ञान के फलस्वरूप आज के युग का बौद्धिक तत्व भौतिकता की ओर झुक गया, और इसका परिणाम यह हुआ कि मनुष्य के बौद्धिक तत्व भावना का साथ ही छोड़ दिया है और इसका परिणाम स्पष्ट है -- समाज में एबनार्मैलटी"[43] भावना पर इस पात्र के विचार सही, सार्थक एवं न्याय-संगत प्रतीत होते हैं । संतुलित रूप में ही जीवन का सहज एवं भावनात्मक सुख प्राप्त किया जा सकता है ।

सौन्दर्यानुभूति :

सौन्दर्यानुभूति या सौन्दर्यासंवित व्यक्ति का एक सहजात गुण है । सौंदर्य की अनुभूति एक नई स्फूर्ति व ताज़गी को जन्म देती है । मन में उठने-वाले ऐसे भाव ही जीवन के सुखद क्षण होते हैं । सौंदर्य व्यक्ति की अनुभूति क्षमता का विषय है । मन के उद्वेलन को जो वस्तु शांति प्रदान करती है वही सौन्दर्य होती है । व्यक्ति के आत्मजागरण के लिये सौन्दर्य एक प्रेरक तत्व का कार्य करता है । वस्तु, स्थान, व्यक्ति, स्थिति के आधार पर सौन्दर्य की अनुभूति आत्मजागरण की अवस्था तक ले जाती है ।

प्रकृति में व्याप्त सौन्दर्य में जब व्यक्ति का मन डूबने लगता है तो वह प्रकृति के प्रति आभारी होने लगता है । उसमें एक पूजा का भाव जागृत होता है जो उसके आत्मजागरण की स्थिति होती है । "डाक बंगला" उपन्यास में सोलंकी, इरा और तिलक प्रकृति-रमण के लिये कोलहाई ग्लेशियर जाते हैं। चारों ओर व्याप्त सन्नाटा, नीले पहाड़, साफ आकाश, नदी की तेज धारा और फूलों की घाटी को देखकर वे तीनों विभोर होते हैं । प्रकृति की इस छटा के आगे तीनों ही मूक बने होते हैं क्योंकि "सौन्दर्य जब खुलता है तो आदमी मूक हो जाता है । तीनों ही उस उजाड़ सौन्दर्य को फटी-फटी आँखों से देख रहे थे । हल्की हरी और सिलेटी चट्टानों के पहाड़ सन्यासियों की

तरहचुपचाप खड़े थे ।"[44] कोल्हाई ग्लेशियर पर धूप सतरंगी-सी होकर चमक रही थी । बरफ की नुकीली चट्टानों श्वेत मुकुट-सी नज़र आती हैं । उन पर रोशनी की आभा पड़ती और ओझल हो जाती थी, जिसे देखकर पर्वत मानो मुग्ध हो रहे थे । इस सौन्दर्य में इरा और सोलंकी दोनों ही मुग्ध थे । तिलक की अनुभूति थी, "मेरा मन उस अपार सौंदर्य के सामने अपने-आप निर्मल होता जा रहा था ····· इरा की शारीरिक मोहकता महज एक मुलम्मा लग रही थी । कण-कण में सुंदरता बिखरी हुई थी । ····· ऐसे में दैहिक रिश्ते बड़े ही नगण्य और ओछे लग रहे थे । इरा की वह सारी खूबसूरती जिसकी आग में मैं जल रहा था, इस क्षण इतनी बनावटी और बेकार लग रही थी कि मन क्षोभ से भर जाता था ।"[45]इरा की खूबसूरती के आगे प्रकृति का विशाल एवं विराट सौन्दर्य तिलक के मन को अधिक आकर्षित कर रहा था । प्रकृति की खूबसूरती के आगे उसे दैहिक रिश्ते भी ओछे लगते हैं ।

एक ओर तिलक जहाँ दैहिक रिश्तों को नगण्य मानता हुआ प्रकृति में डूबना चाहता है वहीं इरा रिश्तों के माध्यम से प्रकृति को देखती है । वह तिलक का विरोध करती हुई कहती है, "मैं चाहती हूं, इस सौन्दर्य से ज्यादा मुझे चाहो, समझे । यह प्रकृति का सारा सौन्दर्य कुछ पलों का है ·····इसे देखकर या इसके सहारे जिन्दगी नहीं काटी जा सकती ।"[46] इरा का दृष्टिकोण यथार्थवादी है, वह कल्पनाजीवी नहीं है । उसके विचार हैं कि वही सौन्दर्य महान है जो जीवन के साथ चले, जीवन को साथ लेकर चले । प्रकृति का सौन्दर्य मानवीय रिश्तों के साथ जोड़ने के लिये होता है । वह सौन्दर्य बेकार है जो व्यक्ति को भटकाकर अकेला बना देता है, मानवीय रिश्तों से दूर या फिर जब मानवीय रिश्ते निरर्थक लगने लगते हैं तब व्यक्ति प्रकृति में रमने की कोशिश करता है । चौबीस घंटे पहले जो तिलक इरा के आ विवाह-प्रस्ताव रखता है वही व्यक्ति इरा को सोलंकी के साथ फोटो खिंचवाता देखकर आश्चर्य और असमंजस में पड़ जाता है । ऐसे में उसके सौंदर्य का केन्द्र इरा न होकर प्रकृति ही जाती है । क्योंकि उसका मन इरा के साथ न होकर प्रकृति के साथ हो जाता है ।

सौन्दर्यानुभूति व्यक्ति के आत्मजागरण की अवस्था होती है । सौन्दर्य का दूसरा महत्वपूर्ण पहलू प्रेम है । "एक इंच मुस्कान" का अमर सोचता है कि रंजना और सुख दो अलग-अलग चीजें नहीं हैं । "अक्सर रंजना को देखता हूं तो सोचता हूं कि सुख क्या है, यह शायद इसे देखकर ही समझा जा सकता है । जाने किस नशे में डूबी रहती है ।"[47] रंजना का सौंदर्य उसके खुश रहने में और सहजता में निखरता है । रंजना अनेक कष्टों को झेलने के बाद भी हंसती है, खुश रहती है । सदा हंसते तथा खुश रहनेवाली नारी आदमी के लिए हमेशा ही रहस्य का विषय रही हैं । सौन्दर्य में रहस्य न हो तो वह एक खूबसूरत चौखटा होता है ।"[48] पुरुष समझ नहीं पाया कि नारी क्यों हंसती है और खुश नज़र आती है । अमर को रंजना सुख का पर्याय लगती है ।

सौन्दर्य में आकर्षण होता है जिसमें व्यक्ति निरंतर बंधता चला जाता है । सौन्दर्य प्रेम का एक उत्प्रेरक तत्व भी है । "रेखा" उपन्यास में डॉ० प्रभाशंकर के पास रेखा अध्ययन के लिये जाती है । रेखा के सौन्दर्य पर प्रभाशंकर आसक्त हो जाते हैं । "मुख पर यौवन की आभा थी, जिसकी आँखों में कौतूहल की चमक थी, जिसके मुख पर स्वाभिमान से भरा आत्मविश्वास था, लेकिन इन सबके साथ एक अजीब-सा मोहक भोलापन था, जिसके समस्त अस्तित्व में"[49] कौतूहल, आत्मविश्वास एवं भोलेपन के साथ मुस्कान का योगदान एक प्रभावशाली चमत्कार पैदा करता है । एकान्त में रेखा की मुस्कुराहट प्रभाशंकर के मन में कौंधती है । "कितनी मनमोहक मुस्कुराहट थी उसकी"[50] रेखा के अनभिज्ञ सौन्दर्य को देखकर प्रभाशंकर मोहित होते जाते हैं और देवकी को भूलने लगते हैं जो एक विवाहित तथा बच्चोंवाली स्त्री है, जबकि रेखा एक युवती है । सौन्दर्य को देखकर आदमी के मन में प्रेम के भाव जागृत होते हैं । सौन्दर्य के साथ यदि ताज़गी के भाव भी हों तो प्रेम की भावना तीव्रता के साथ बढ़ने लगती है ।

सौन्दर्य में मन्त्रमुग्ध करने की शक्ति होती है ।"सौन्दर्य की अनुभूति होते ही भय बिखरने लगता है ..... शरीर में अजीब-सी ताज़गी और स्फूर्ति आ जाती है ।"[51] "डाक-बंगला" उपन्यास के तिलक को इस अनुभूति के स्पष्ट

होता है कि सौन्दर्य में स्फूर्ति और ताज़गी जगाने के भाव निहित होते हैं। सौन्दर्य जब आत्मसात् करने को न मिले तो मन में उसके प्रति एक पागलपन का भाव जागृत होता है। "चौदह फेरे" का चित्रकार रेक्सी अपने ऐसे ही पागलपन का अनुभव कुछ इस प्रकार करता है -- "कलकत्ते के एक अंग्रेज़ी सिनेमा-घर में ही उसे अहल्या दिखी थी। वह मंत्रमुग्ध-सा उसी के पीछे-पीछे बाहर आया था।"[52] सौन्दर्य के आकर्षण में खिंचाव होता है। इसी खिंचाव के कारण चित्रकार रेक्सी अहल्या के पीछे जाने लगता है।

अज्ञात सौन्दर्य मानव की जिज्ञासा को तीव्र करता है। जो सौन्दर्य अनभिज्ञ व अप्राप्य होता है वही मानव को व्याकुल करता है। दूसरे अर्थों में इसे ही प्रेम का नाम दिया गया है, जिसके धरातल भिन्न हो सकते हैं। "चौदह फेरे" का रोनेन यह अनुभव करता है, "कैसी अनुपम लावण्यमयी किशोरी थी यह। नारी, रोनेन के लिये आज तक केवल मनोरंजन का एक महत्वपूर्ण साधन मात्र रही थी, कितनी ही नारियाँ उसके रंगीन जीवन में तितलियों की भाँति मंडरा-मंडरा कर उड़ गई थीं, क्लौड, बुनेट, नीग्रेस, स्विस, फ्रेंच, कैनेडियन और इटैलियन पिता के असीम वैभव ने उसके लिये विलास के नाना कक्ष खोल कर रख दिये थे, किन्तु पहले तो कभी उसे ऐसी व्याकुलता ने नहीं घेरा था। रात भर वह ठीक से सो नहीं पाया था। उठते-जागते उसे अहल्या ही दीखती थी।"[53] सौन्दर्य प्रेम का आधार तत्व है। प्रकृति का सौन्दर्य मानव मन को शान्ति प्रदान करता है लेकिन मानव कभी भी फूल या नदी के पीछे भागता नहीं। सिर्फ नारी ही के पीछे भागता है। सौंदर्य के उपभोग की इच्छापूर्ति नारी के माध्यम से ही संभव है। प्रकृति मन को लुभा सकती है लेकिन उस सौन्दर्य को व्यक्ति अपने लिये समेट नहीं सकता। प्रकृति का सौन्दर्य केवल दृष्टि सुख होता है। दृष्टि का सौंदर्य भी एक सुख की अनुभूति देता है।

स्त्री-सौंदर्य की अनुभूति "अँधेरे बंद कमरे" के एक पात्र में निम्न प्रकार से प्राप्त होती है। "ऐसी ही। भई, हम तो चाहते हैं कि उसकी जिस किसी के साथ भी शादी हो, वह कॉफी हाउस में आती रहे और हमेशा इतनी ही सुंदर दिखाई देती रहे।"[54] दृष्टि की अनुभूति "रेखा" उपन्यास

में कुछ भिन्न रूप से मिलता है । सोमेश्वर रेखा से कहता है -- "कॉफी ! नहीं कॉफी की ज़रूरत नहीं है । x x x मैं तुम्हारी रूप-मदिरा पी रहा हूं ।"[55] यह दृष्टिभोग की सौन्दर्यानुभूति है। नारी का दुर्लभ सौन्दर्य अधिक मूल्यवान लगता है । "उसका शहर" में "खूबसूरत लड़कियों के प्रति गहरा लगाव आमूल का जन्मजात गुण है और वह ऐसी ही लड़कियों के पोर्ट्रेट बनाया करता था, जिसके मिलने में दुर्लभता हुआ करती थी ।"[56] सौंदर्य के पर्याय के रूप में स्त्री के स्वरूप की मोहकता अनंतकाल से चली आ रही है ।

"राग दरबारी" का रंगनाथ शहर का एक पढ़ा लिखा व्यक्ति है जो अपने चाचा के पास शिवपाल गंज जाता है । शिवपाल गंज एक कस्बानुमा गांव हैजो कई कारणों से विकसित नहीं है । गांव की सुंदरता उसके लिये नई थी । उसने देखा कि "कुएं से कुछ दूर एक टूटी हुई इमारत थी । वहीं खम्भे के पास एक लड़की बैठी थी -- गेहुएं रंग की नौजवान लड़की । चटकीली साड़ी पहने थी । नाक में सोने की नथ । मेले की गंदगी के खिलाफ रंगनाथ को यह दृश्य अच्छा लगा । वह उधर ही देखता रहा ।"[57] व्यक्ति की भी यह प्रकृति होती है कि जहां भी सौन्दर्य होता है, उसकी दृष्टि वहीं जाती है और न केवल उसकी दृष्टि जाती है अपितु उसकी दृष्टि लगातार सौन्दर्य की खोज में भटकती रहती है ।

व्यक्ति के मन का जहां मोहन होता है, वह वस्तु, वह स्थिति तथा वह क्षण उसके मन में सौन्दर्य की एक अप्रतिम अनुभूति का संचरण करता है । व्यक्ति अपने जीवन में ऐसी ही अनुभूति की जिज्ञासा रखता है जो कि उसे आत्मिक सुख प्रदान करती है ।

अनुकूलता :

अनुकूलता का प्रमुख गुण यही है कि इससे मानसिक अन्तर्विरोध नहीं रहता । कोई भी व्यक्ति, परिस्थिति या घटना यदि व्यक्ति के अनुकूल रहे तो वही कार्य करता है या पसंद करता है जो उसके हित में होते हैं या उसके

अनुकूल होते हैं । जहां व्यक्तिगत बातों में, विचारों में, रहन-सहन आदि में अनुकूलता होती है वहां संबंध बनने लगते हैं । संबंधों में होनेवाली मानसिक अनुकूलता भी कभी-कभी विषम परिस्थितियों का शिकार होने लगती है । विषम परिस्थितियां जब व्यक्ति पर हावी होने लगती हैं तो तनाव का जन्म होने लगता है । साधारणत: कोई भी व्यक्ति यह नहीं चाहेगा कि कोई भी कार्य उसकी प्रकृति के प्रतिकूल हो । यदि वह प्रतिकूलता से सामंजस्य स्थापित करता भी है तो इसीलिये ही कि उससे जीवन में अनुकूलता बनी रहे ।

अनुकूलता के अभाव में विषम परिस्थितियां और ज़रूरतें व्यक्ति को स्वार्थी और समझौतावादी बना देती हैं । इन स्थितियों में प्रेम मात्र अनुबंध बन जाता है । वैवाहिक संबंध में जब प्रेम और लगाव खत्म होने लगता है तो केवल ज़रूरत शेष रह जाती है। "अंधेरे बंद कमरे" की नीलिमा मधुसूदन से अपने पति के विषय में कहती है, "अपने स्वार्थ के लिये उसने कई बार हीन होकर भी मुझसे समझौता किया है । जिस तरह वह दोनों वक्त खाना खाये बगैर नहीं रह सकता, उसी तरह मेरे बगैर भी नहीं रह सकता ।"[58] सिर्फ सुख के भोग के लिये व्यक्ति परिस्थिति को अनुकूल बनाने के लिये अपने को झुका लेता है । चूंकि स्त्रोत उसके अनुकूल नहीं होता लेकिन आवश्यक होने के कारण वह परिस्थितियों की अनुकूलता के लिये ही स्वयं को गढ़ लेता है ।

ऐसी स्थिति के बावजूद घटनाएं व्यक्ति के मन पर अपना प्रभाव छोड़ जाती हैं । भविष्य में होनेवाली घटनाएं व्यक्ति की जानकारी में नहीं होतीं लेकिन जीवन में घटती हैं जिसके लिये व्यक्ति अक्सर पहले से तैयार नहीं होता । व्यक्ति के जीवन में ऐसी ही एक घटना मृत्यु है । "उसका शहर" उपन्यास का आमुल कहता है, "कब किससे मिलना है और कब किससे अलग होना है, इसे कोई नहीं जानता । हम सब घटनाओं की प्रतीक्षा में हैं और घटनाओं को अपने अनुकूल ढाल लेना ही अपनी सामर्थ्य है ।"[59] आमुल के जीवन की परिस्थितिगत विषमता से समझौतावादी दृष्टिकोण बनता है। प्रतिकूलता में भी जीवन को अपने अनुरूप ढाल लेना सामर्थ्यता का द्योतक है । लेकिन जहां कुछ छूट जाता है, वहां एक अपूर्णता का बोध होता है । "अपनी अपूर्णता और असमर्थता को जो दूसरों के माध्यम से दूर कर पाने की मिथ्याशा में गलत दिशाओं में भागते रहते हैं, उनके लिये सही दिशा में आगे बढ़ने का एकमात्र निदान सबसे पहला यही रह

जाता है कि वे उस स्थान या मनःस्थिति में पहले लौट आएं, जहाँ से उन्होंने भागना शुरू किया था ।"[60] "भागे हुए लोग" उपन्यास में भागे हुए लोगों का दिशाविहीन हो जाना अस्वाभाविक नहीं है । व्यक्ति की तमाम कोशिशें स्वयं को पूर्ण बनाने के लिये होती हैं । लेकिन सवाल यह उठता है कि अपनी कोशिशों को व्यक्ति किस ढंग से पूर्ण करता है । किस दिशा का निर्धारण हुआ है और वह कहाँ तक उचित है । अक्सर घटनाएं ही व्यक्ति को नहीं बदलतीं बल्कि स्वयं ही कई बार गलत धारणाओं और घटनाओं का निर्माणकर्ता बन जाता है । "और जिसकी आत्मा में शक्ति होती है वह अपने सपनों को जीवित रख सके, वह नहीं मरता है ।"[61] यानि व्यक्ति संकल्प कर ले तो वह कभी निराश या दुःखी नहीं हो सकता । सामर्थ्यवान व्यक्ति को निराशा मरने नहीं देती ।

जिम्मेदारियों से भागनेवाला व्यक्ति अपने लिये स्वयं ही अनुकूल परिस्थितियाँ तैयार करता है । "मुक्तिबोध" उपन्यास का सहाय घरेलू विषमताओं से परेशान होकर नीलिमा के पास जाता है । नीलिमा उसे जिम्मेदारियों के प्रति सचेत करवाते हुए कहती है -- "जिम्मेदारियों से निबटकर आदमी वह खुशी पाता है कि जिसमें फूल खिलता और महकता है । मैं देख रही हूं कि तुम घिरे से हो, खिल नहीं रहे हो और शायद इसी वजह से कि सीधे तुम उन जिम्मेदारियों को उठाने से बचना चाहते हो। जो सामने है और तुम्हारे होने के लिये है ।"[62] जिम्मेदारियों से भागकर व्यक्ति प्रायः अकेला और दुःखी ही होता है क्योंकि समाज के अन्य सदस्य भी जिम्मेदारियों के प्रति उसके कर्तव्य का अहसास दिलाते रहते हैं । अपनी जिम्मेदारियों के प्रति जागरूक तथा अपने फर्ज को निभाता हुआ व्यक्ति स्वयं के लिये और समाज के लिये अनुकूल परिस्थितियाँ बनाए रख सकता है ।

वर्तमान जीवन के प्रति जागरूकहीनता एवं वर्तमान के प्रति अनुकूल न बन पाने के कारण व्यक्ति निरूद्देश्य जीवन जीने लगता है । अतीत का प्रभाव वर्तमान पर निश्चित रूप से पड़ता ही है । अतीत में संजोयी गई असफलताओं की स्मृतियाँ सफल वर्तमान पर अपना कुप्रभाव ही डालती है । "एक इंच मुस्कान" की अमला अमर से कहती है, "मन की बनाई योजनाएं पूरी हों, न

हों । इससे तो बेहतर है कुछ बनाओ ही नहीं । बस, निरूद्देश्य जीते चलो और जो कुछ भी सामने आ जाए उसे स्वीकार करते चलो । ऐसा करने से मन के बहुत से क्लेश बहुत-सी निराशाओं और असफलताओं का बोझ तो यों ही हट जाता है।"63 निरूद्देश्य जीवन जीना और समय के साथ समझौतावादी दृष्टिकोण निराश मन का सूचक भी है और दूसरी ओर संघर्ष की अक्षमता को भी दर्शाता है । असफलता और निराशा का बोझ न सम्हाल पाना इस बात को स्पष्ट करता है कि पहले से ही इस प्रकार का बहुत-सा बोझ सहा गया है । वर्तमान के साथ स्वीकार की बात कहकर अगला समय के साथ समझौता करने की सलाह देती है । वह स्वयं ऐसा ही करती है और समय के अनुकूल अपने को ढालती है ।

वर्तमान की परिस्थितियों में जब व्यक्ति स्वयं को डुबोने लगता है तब विगत के दुःख उस पर हावी नहीं होते या फिर उनका प्रभाव कम हो जाता है । अजनबीपन के समाप्त होने के साथ-साथ संबंधों में एक विश्वास जन्म लेने लगता है । "वे दिन" उपन्यास में रायना और नायक "मैं" का संबंध समय और परिस्थितियों की देन है । पूरा एक दिन घूमने-फिरने के बाद नायक एक अदृश्य, अनजाने सुख का अनुभव करता है । नायक के विचार हैं, "कितने अनजाने में सुख आ जाता है, मैंने सोचा, जब हमें उसकी कोई आशा नहीं रहती। वह सुख नहीं होता, बल्कि आदमी खुद अपने दुःख को छोटा करके देखने लगता है ।"64 रायना के केवल साथ मात्र से ही नायक के मन में स्फूर्ति और उत्साह का भाव जगाता है । इससे यह स्पष्ट होता है कि नायक अपने मनोनुकूल साथी की इच्छा रखता है । अनुकूल साथी ही उसके सुख का स्त्रोत होता है। "देहगाथा" उपन्यास का नायक अपना जीवन सुखपूर्वक गुज़ारने के लिये उन लेखकों से प्रेरणा प्राप्त करता है जो अमीर औरतों से संबंध बनाकर सुगमता से जीवन व्यतीत करते थे । नायक का कहना है -- "पूरे तौर से हिडोनिस्ट न भी रहूं, इतना तो है ही कि आराम से कट जाए, ऐसी जिन्दगी मुझे प्यारी है और इसे अच्छी और अमीर औरतों के बगैर हासिल नहीं किया जा सकता है, गोयटे, दान्ते, शेक्सपियर, बायरन से लेकर हमारे आज के भारतीय कवियों तक की जीवन कथा यही उपदेश देती है । आज के ही कवि क्यों इस कतार में

कालिदास, माघ, बाणभट्ट, जयदेव और विद्यापति सबको खड़ा किया जा सकता है ।"[65] अधिकांश लेखकों में यह प्रवृत्ति देखने को मिलती है जहाँ वे किसी धनी औरत को अपनी आर्थिक सामाजिक एवं सृजनात्मक अनुकूलता का माध्यम बनाते हैं । साथ ही लेखक के लेखन एवं सामाजिक व्यक्तित्व के प्रभाव से आकर्षित होकर अधिकतर अमीर स्त्रियाँ उनके साथ अपना संबंध बनाती हैं ।

प्रतिकूलता वैवाहिक जीवन में कलह का कारण बनती है । "अँधेरे बंद कमरे" की नीलिमा अपनी रुचि के विरुद्ध जाकर पेंटिंग करती है क्योंकि उसके पति हरबंस की यह इच्छा होती है कि वह पेंटिंग करे । अपने पति को खुश करने तथा अपने जीवन के खालीपन को भरने के लिये वह पेंटिंग का सहारा लेने लगती है । वह कहती है, "मैं जो चाहती हूं, वह हरबंस करने नहीं देता, इसीलिये मैं पेन्ट करके ही मन बहलाने की कोशिश करती हूं । हम लोग कितना ही नये रंग से रंग जाएं, हमारे संस्कार तो आज तक वही हैं ।"[66] पत्नी पर पति द्वारा इच्छाओं के आरोपण का दबाव जब छूने लगता है तो अस्तित्व की निरर्थकता और अहं का प्रश्न खड़ा होने लगता है । जिसके परिणामस्वरूप आपसी संबंधों में एक दूरी जन्म लेने लगती है ।

प्रेम-संबंधों में परस्पर अनुकूलता एवं मैत्री का भाव मिलता है । जहाँ मानसिक अनुकूलता होती है वहाँ व्यक्ति अपने मन की बातें खोलता है । "मुक्तिबोध" उपन्यास का सहाय नीलिमा से प्रेम करता है और कहता है, "नीलिमा, तुम हो कि जहाँ मैं अपने पर कोई आवरण नहीं रख सकता, न आवरण ले सकता हूं । आदर्श का, न सिद्धान्त का, न धर्म का । इसीलिये मेरी निपट निजता में से आने दो जो आये । अच्छा-बुरा, स्वार्थ-निस्वार्थ, जो भी हो वही ठीक होगा। वही मुझे और तुम्हें मंजूर होना चाहिए । कर्तृत्व जिसमें न मेरा हो न तुम्हारा हो, बस एक ऐसी अनिवार्यता हो जिसमें मैं तु कुछ रहें ही नहीं ।"[67] निजता एवं अपनत्व के इन्हीं क्षणों में अनुकूलता व्याप्त होती है। व्यक्तिगत निजी अनुकूलता पर आदर्श, सिद्धान्त और धर्म का लेप नहीं होता वह स्वतः स्फूर्त होती है ।

अनुकूलता से मानसिक संतुष्टि मिलती है । व्यक्ति के अनेक दुःख प्रतिकूलता से ही जन्म लेते हैं । व्यक्ति के मन को यदि अनुकूल वातावरण न मिले तो मानसिक परेशानियाँ एवं अव्यवस्था जन्म लेने लगती है । व्यक्ति यदि

विषमता से समझौता करता है तो उसके अहं तथा अस्मिता को चोट पहुंचती है जिसका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव उसके जीवन पर पड़ता है । अनुकूलता से उत्साह, स्फूर्ति एवं अपनेपन का सुख मिलता है ।

लक्ष्य :

किसी भी निर्धारित लक्ष्य का व्यावहारिक पक्ष यदि संघर्ष हैतो मानसिक पक्ष केवल एक दिवा-स्वप्न । लक्ष्य जीवन को दिशा देते हैं । लक्ष्य-हीन जीवन में व्यवस्था का अभाव होता है । व्यक्ति का साम्प्रतिक जीवन तब सुखद होता है जब उसके द्वारा निर्धारित लक्ष्य उसके जीवन को और अधिक स्थिर, समृद्ध एवं अनुकूल बनाता है । लक्ष्य-निर्धारण भी वस्तुतः जीवन की एक कला है । व्यक्ति अपने समकालीन जीवन से और अधिक ऊपर या आगे जाकर एक नये सुखद लक्ष्य को निर्धारित करता है और फिर उसको पाने के लिये सतत् प्रयत्नशील रहता है ।

लक्ष्य की मज़बूती में प्रेम एक सहायक तत्व की भूमिका निभाता है । प्राप्त विश्वास से प्रेम की प्रगाढ़ता में मजबूती आती है । अनेक विरोधों के बाद भी लक्ष्य की ओर बढ़ता है और तब तक बढ़ता है जब तक उसे वह लक्ष्य प्राप्त नहीं हो जाता । पारिवारिक विरोध के बावजूद "रेखा" उपन्यास की रेखा प्रो० प्रभाशंकर के पक्ष में ही अपना निर्णय लेती है.। लक्ष्य-प्राप्ति के विश्वास में वह कहती है कि, "जहाँ संकल्प हो वहाँ कोई भी मज़बूरी बाधक नहीं होती ।"[68] प्रो० प्रभाशंकर, जिनके पास रेखा अध्ययन हेतु जाती है, उनसे विश्वास पाती है और यही विश्वास उसे लक्ष्य-निर्धारण में सहायक सिद्ध होता है । अन्ततः वह विवाह कर सफलता प्राप्त करती है ।

"दूसरी बार" उपन्यास में नायक का लक्ष्य बिन्दो है । न चाहते हुए भी वह बार-बार उसी के बारे में सोचता है और अंधे व्यक्ति की तरह टकराता जाता है । इतना होने पर भी वह उसका उद्देश्य नहीं होती । बिंदो को पाने के बाद भी वह उसे सहेज कर नहीं रख पाता । बिंदो अपनी मर्जी से उसे छोड़कर चली जाती है जिसे नायक रोक भी नहीं पाता । अपनी कमज़ोरी,

विवशता, अस्तित्वहीनता के कारण दूसरी बार बिंदो के आगे स्वयं को अपमानित महसूस करता है। वह समझता है कि "जैसे अंधा आदमी सीधा जाकर एक जगह टकरा जाता है और वही उसका गंतव्य होता है -- वैसे ही बिंदो मेरा गंतव्य थी।"[69] बिन्दो के प्रति उसके मन में न सुख के भाव हैं न ही दु:ख के। लेकिन वह उसके घर जाता है यही सोचकर कि वह बिंदो का अपमान कर सके, उसे कमज़ोर और गिड़गिड़ाते देख सके, परन्तु स्थितियाँ विपरीत हो जाने के कारण वह स्वयं को फँसा हुआ पाता है। वस्तुत: "दूसरी बार" के नायक में एक अंधत्व है। अपनी खुली आँखों से यथार्थ को स्वीकारने की क्षमता उसमें नहीं होती वह सही दिशा की तलाश में दिशाहीन होकर विक्षोभ से भर जाता है। होता यह है कि "किसी भी स्थिति या मन:स्थिति के आगे असमर्थ में पड़कर भागते चले जानेवाले की नियति अंतत: थककर वहाँ बैठ जाने के अलावा और फिर कुछ नहीं हो सकती, जहाँ से वह उस स्थिति या मन:स्थिति में लौट सकने में भी असमर्थ हो जाए, जहाँ से भागा था।"[70] यह स्थिति लक्ष्य-निर्धारण में असफलता की है। यदि लक्ष्य हो भी तो अपनी असफलता ही दु:ख का कारण बनती है।

"भागे हुए लोग" का नरोत्तम अपनी पत्नी पार्वती को अपने प्रति अपूर्ण समझता है और पूर्णता की खोज में कभी अन्य स्त्रियों के प्रति आकर्षित होता है तो कभी उसका मन संन्यास की ओर भागता है। नारी में पूर्णता खोजने के प्रयास में वह यह भूल जाता है कि वह स्वयं में कितना अपूर्ण है। अपनी असमर्थताओं को दूसरे में खोजता हुआ वह गलत दिशाओं की ओर भटक जाता है। भागने की यही स्थिति अंत में उसे थका देती है। "सीधी-सी बात यह कि पार्वती जैसी औरत का पति होने पर भी जो पुरुष सुखी न हो सके, फिर उसको और कोई सुखी नहीं बना सकता। क्योंकि सुखी हो सकने की स्थिति में भी जो संतुष्ट नहीं रह सकता, वह फिर घर की राजकुमारी को छोड़कर गलबकावली की खोज में भटककर मर जानेवाले पुरुषों की गति को प्राप्त होता है।"[71] आसक्ति की अति में पुरुष नारी के सौंदर्य को समझ नहीं पाता और मानवीय दृष्टि खो बैठता है तथा लक्ष्य से हट जाता है। स्वयं को समझने की असमर्थता में पुरुष नारी से विमुख हो जाता है और विमुख व्यक्ति की निर्धारित दिशाएं स्वयं उसे ही दिशाहीन कर देती है। वह

अपनी जड़ें स्वयं ही काटकर उखड़ जाता है । "दूसरी बार" और "भागे हुए लोग" के नायक इसी नियति के शिकार हैं ।

सातवें दशक की नियति यह रही है कि व्यक्ति जिस वस्तु को पाना चाहता है या पाता है । उसी से भागना भी चाहता है । इसी द्वन्द्वात्मक स्थिति में वह विक्षिप्त होता जाता है । आधुनिक व्यक्ति की दृष्टि वस्तु-परक हो गई है । इसी संदर्भ में वह स्वयं को देखना या समझना उचित नहीं समझता या आवश्यक नहीं समझता । यह आवश्यकता व्यक्ति के जीवन को असफल बनाती है । "अँधेरे बंद कमरे" उपन्यास में हरबंस अपने मित्र रमेश खन्ना के संदर्भ में कहता है कि, "रमेश खन्ना कईसाल एक लड़की को पाने के लिये बेचैन था, और अब जब उसकी उस लड़की के साथ शादी हो गई थी, तो वह उससे दूर भागने के लिये बेचैन था ।"[72] लक्ष्यप्राप्ति के बाद आपसी समझदारी के अभाव में ऐसी परिस्थितियाँ जन्म लेने लगती हैं जिसमें निर्धारित दिशा में आकर भी व्यक्ति दिशाहीन होने लगता है । शायद यह मेरे ही व्यक्तित्व का अकेलापन और खालीपन है जो तुम्हें भी मेरे साथ बाँटना पड़ रहा है । मगर तुम इसे मजबूरी में न बाँटकर उत्साह के साथ बाँट सको तो सब कुछ बदल सकता है । मैं किसी की ऐसी ही तो मित्रता चाहता हूँ जो मेरी सब आशाओं और निराशाओं को, इच्छाओं और आशंकाओं, उत्साह और चाह के साथ बाँट ले । मैं यही तो चाहता हूँ कि मेरे व्यक्तित्व के साथ किसी का अस्तित्व मिलकर दो परमाणुओं की तरह एकाकार हो जाए ।"[73] यह लक्ष्य का इच्छा-सुख है । हरबंस के लिये पत्र ही एक ऐसा माध्यम है जो खालीपन भर सकता है । पत्नी को लिखे इस पत्र में वह स्वीकारता है कि वह जिन्दगी से थक-हार चुका है । उसे जीवन की नई इमारत तैयार करने के लिये धैर्य व उत्साह की आवश्यकता है । हरबंस के पास पत्नी को देने के लिए सिर्फ खालीपन ही रहा है जिसके बदले में वह उत्साह चाहता है । निराशा देकर सुख व खुशी पाने की आकांक्षा में हरबंस का व्यक्तित्व और अधिक संकुचित हो जाता है ।

"मुक्तिबोध" उपन्यास के सहाय का लक्ष्य मुक्ति पाना है । वह सामाजिक बंधनों की जकड़ बरदाश्त नहीं कर पाता, आज़ाद रहना चाहता है।

मुक्ति की तलाश में वह पाता है कि, "घर-गिरस्ती की जिन्दगी बंधी जैसी होती है । आज़ादी के आंदोलन में पड़कर लगा कि मैं बंधा नहीं हूं, खोल रहा हूं और खुल रहा हूं । वहीं से क्या-कैसे मोड़ खाता हुआ मेरा जीवन अब यहां तक आया है, इसकी बात आगे हो सकेगी । लेकिन क्या अब भी अनुभव हो सका है मुझे उसका कि जिसे मुक्ति कहते हैं ? मैं जानना चाहता हूं कि मुक्ति का वह बोध क्या है । वह परिस्थितिक है ? या नहीं आत्मिक है ?"[74] सहाय की मुक्तता की आकांक्षा राजनीति में पूरी होती है । लेकिन वस्तुत: मुक्ति क्या है, यह हमेशा उसके लिये उलझन का विषय रहा है । सहाय का लक्ष्य मुक्ति है, "दूसरी बार" के नायक का लक्ष्य बिंदी है । "भागे हुए लोग" का नायक क्या चाहता है यह वह अंत तक समझ नहीं पाता । लक्ष्य निर्धारण के बाद व्यक्ति अनेक परिस्थितियों का शिकार हो जाता है और कुंठित होता है । यही असफलता लक्ष्य का दु:ख है । दूसरी ओर व्यक्ति निर्द्वन्द्व होकर परिस्थितियों की चिन्ता किये बिना लक्ष्य की पूर्ति में लग जाता है तो उसे अवश्य ही सफलता प्राप्त होती है । लक्ष्य की प्राप्ति के लिये किये जानेवाले संघर्ष से यदि थकान भी होती है तो इसकी सफलता में उत्साह और खुशी होती है जो कि लक्ष्य पर विजय का सुख होता है ।

विविधता :

व्यक्ति द्वारा समाज से सहज संबंध बनाना उसके सुखद जीवन के लिये आवश्यक है । आसपास फैला समाज अपने आप में इतने विविध रूपों में व्याप्त है कि एकरसी व्यक्ति उससे अपने को जोड़ नहीं पाता । साथ ही समाज से कटा हुआ पारिवारिक व्यक्ति अपने को सुखी नहीं रख पाता । विविधता में फैले समाज से सुख निवेचित करने के लिये व्यक्ति को भी अपने गुणों, रुचियों, जीवन-यापन के ढंग आदि में समाजोन्मुख व समाजोनुकूल विविधता लाना आवश्यक होता है । चूंकि समाज किसी एक विशेष इकाई के संयोग से बना नहीं होता है उसमें विकासशीलता के भिन्न-भिन्न आयाम होते हैं, अत: व्यक्ति को उसमें समायोजित होने के लिये अपने स्तर में विविधता रखना व लाना

आवश्यक होता है। किसी एक आयाम या स्थिति पर टिक रहनेवाला व्यक्ति समाज में मुख्यत: दु:ख पाता है। विविधता व्यक्ति के मन को उलझा कर रमा देती है। जहाँ मन रम जाता है, उन्हीं क्षणों का सुखद सौंदर्य होता है। एकरसता जीवन को उबा देती है जिससे व्यक्ति ऊबकर परिवर्तन की आकांक्षा करता है या फिर वस्तु का विभिन्न स्तरों पर उपभोग करता है। विभिन्न स्तरों पर उपभोग की क्षमता व्यक्ति की मानसिकता पर निर्भर करती है।

"उसका शहर" उपन्यास के प्रो० दशानन घर में अकेले रहते हैं, साथ ही स्वावलंबी जीवन बीते हुए वे अपने लिये बहुत सी इच्छाएं-रुचियाँ बनाये रखते हैं। वे अधिक लोगों से मिलने-जुलने से घबराने के कारण अपने जन्म दिन पर केवल एक ही व्यक्ति को आमंत्रित करते हैं। अकेले और खुश रहने का सबसे बड़ा राज़ बताते हुए वे कहते हैं कि, "शादी न करने से स्वावलंबी बनने की ढेर सारी आदतें पड़ जाती हैं और मैंने इस आदत को हॉबी के रूप में कल्टिवेट किया है।"75 विभिन्न प्रकार की आदतों के कारण प्रो० दशानन को जीवन में उकताहट नहीं होती। ऊब और अकेलापन खलता नहीं। वे स्वयं को कभी अकेला महसूस नहीं होने देते। लूपिका के साथ भोजन करते हुए वे कहते हैं, "इतना व्यस्त रहना पड़ता है कि मुझे खुद अपनेपन का ही अहसास नहीं होता।"76 इस तरह एकाकी जीवन की उकताहट से वे काफी दूर होते हैं। परिवर्तन के लिये अपने हर जन्म दिन पर एक तेज़ लड़की को वे आमंत्रित करते हैं और उसी के चयन हेतु सारा वर्ष गुज़ारते हैं।

दूसरी ओर "राग दरबारी" के रूप्पन बाबू का चरित्र बड़ा ही विचित्र है। उनसे शिवपालगंज का ऐसा कोई क्षेत्र नहीं बचा हुआ है जहाँ उनकी धाक या रौब न चलता हो। वे एक प्रकार से हरफनमौला कहे जा सकते हैं। रूप्पन बाबू "छंगामल इन्टर कॉलेज के मैनेजर वैद्यजी के सुपुत्र हैं। शिवपाल गंज के थानेदार के मित्र हैं। कॉलेज की यूनियन के वर्षों से चुने जाते रहे अध्यक्ष है और कस्बेनुमा गाँव के गुंडों के एकमात्र नेता हैं। रूप्पनबाबू भ्रष्ट, पतित अनैतिक और अमानवीय नई पीढ़ी के प्रतीक हैं जो सैकड़ों की संख्या में छंगामल कॉलेज से निकल कर पूरे देश में फैल रही है।"77 ऐसे ही अवसरवादी विविधता

में घिरे रुप्पन बाबू अपने रोब में नित्य विभिन्न प्रकार के सुखों का संधान करते रहते हैं। जैसे "रुप्पन बाबू के शान्ति-दूत वाले स्वरूप का असली विकास छंगामल विद्यालय इन्टर कॉलेज के गृह युद्धों में हुआ था, वैसे ही जैसे भारत का शान्ति दूत कोरिया, स्वेज और अफ्रिका के झगड़ों में विकसित हुआथा। पर रुप्पन बाबू अपने इस रूप में भारत से भी ज्यादा तेज़ चाल के आदी हो गये थे और कई बार दुलत्ती की जगह सरपट दौड़ने लगे थे। ज्यादा रफ्तार खींच देने से कभी-कभी मैदान तो चुक जाता था पर उनकी रफ्तार नहीं चुकती थी जिससे वे कई अवसरों पर शून्य में कबूतर की तरह उल्टे हुए नज़र आते थे।"[78] समाज में रोब के लिए चरित्र में विविधताओं का होना आवश्यक होता है। बिना विविधता के समाज के हर आयाम से जुड़ पाना असंभव ही होता है और समाज से जुड़ा रहना अस्मिता बनाए रखना ही व्यक्ति का सुख होता है।

"मुक्तिबोध" उपन्यास की नीलिमा के स्वभाव में भी विविधता मिलती है। उसमें उन्मुक्त होकर जीने का भाव मिलता है क्योंकि उसे खुश रहने की कला आती है। वह अपने स्वभाव में बुढ़ापे को नहीं आने देना चाहती। नीलिमा उच्च परिवार की महिला हैजो नारी समाज की रूढ़ परंपराओं से स्वयं को मुक्त रखना चाहती है और आज़ाद जीवन जीने में विश्वास रखती है। वह अपने घर में सहाय की उपस्थिति में सहाय के पुत्र विश्वेश्वर के आने की बात जानकर साधार स्त्रियों की तरह सकुचाती नहीं बल्कि इस बात पर प्रसन्न होती है कि विश्वेश्वर के पिता यानि सहाय अभी तक जवान हैं। नीला के संबंध में सहाय के विचार हैं -- "मैं उस हँसती हुई नीला की तरफ देखता रह गया। कितनी वह उत्तीर्ण और निश्चिंत रहती है। देखा जाए तो हमारे समाज में इज्जत-आबरू की रक्षा का प्रश्न पुरुष से अधिक स्त्री के लिये ही है। लेकिन जैसे वह सब व्यर्थ प्रश्न हो और नीलिमा को छूता ही न हो। नीलिमा अत्यन्त संभ्रांत स्तर की महिला है। लेकिन इतनी विश्वस्त कि जैसे उसके सामने स्तर आदि का प्रश्न कभी उपस्थित ही नहीं होता है।"[79] उन्मुक्त विचारोंवाली नीलिमा जीवन को विविध स्तरों में देखती और जीती है। ऐसे स्वच्छंद जीवन से दुःख नाम की चीज़ उसके पास फटकती तक नहीं।

"मछली मरी हुई" का एक पात्र प्रभासचन्द्र नियोगी अपनी छोटी बच्ची की देखभाल के लिये विधवा सपना सरकार को घर पर नर्स के रूप में नियुक्त करते

करते हैं । नियोगी की पत्नी का स्वर्गवास हो चुका है । अपने एकाकी जीवन से वे घबराते हैं । अपने मरते हुए जीवन में परिवर्तन के लिये नियोगी सपना सरकार के करीब होने लगते हैं । उनका ऐसा करने के पीछे "औरत की देह नहीं, अकेलेपन की दीवारें तोड़ने के लिये कोई बहाना । नियोगी को अपनी छोटी लड़की की होशियार और सजी-संवरी रहनेवाली नर्स से प्यार नहीं हुआ था । लेकिन वे अकेले थे । अकेले रहते हैं । धीरे-धीरे सपना सरकार उनके लिये कभी गर्म कॉफी का प्याला, कभी नींद की दवाएं लाने लगती है। अच्छा लगता है । यह सब अच्छा लगता है ।"[80] सपना सरकार की सेवा-भावना परिवार के सदस्य की भाँति होती है । इन्हीं छोटे-छोटे सुखों को पाकर नियोगी अपने जीवन में एक विविधता को जीवित रखते हैं । आदमी जब अकेला हो जाता है तो वह जड़वत् और दु:खी होने लगता है । इस एकरसता भरे अकेलेपन के जीवन में विविधताएं लाकर जीवन में परिवर्तन लाने का प्रयत्न करता है ।

समाज की भिन्नताओं को अकेला व्यक्ति समझ नहीं पाता । अपनी व्यक्तिगतता को ध्यान में रखकर वह जो सुख-सापेक्ष प्रयास करता है, उसको वह सामाजिक स्तर पर ला नहीं पाता । इसीलिये समाज के हर पहलू में सुख के रोपण के लिये व्यक्ति भिन्न-भिन्न रूप के समाज-मान्य कर्मों को अपनाता है । "धर्म के नाम पर" उपन्यास में बीसवीं सदी के समाज में जीने वाले व्यक्ति की विविधता निम्न प्रकार प्रस्तुत की गई है "बीसवीं सदी में बहुत कुछ ऐसा करना पड़ता है जो दूसरों के लिये हो, अपने लिये नहीं । × × × बीसवीं सदी में सामाजिकता का सिक्का हो गया है यह सिगरेट । घर पर जाओ किसी के, तो घर की सामाजिकता का सिक्का है चाय । ये सिक्के खोटे हों तो भी चल सकते हैं । पर सभ्यता के इस युग में आदत की जेब में इन सिक्कों को खनखनाये बिना घर से बाहर पैर निकालने के कोई मानी ही नहीं है । इसीलिये ज़रूरत पड़ते पर चाय भी पीता हूं और सिगरेट भी, पर आदत किसी की नहीं है ।"[81] यनि व्यक्ति अपने सुख के वैविध्य के लिये तथा समाज में अपनी अस्मिता के लिये अपने जीवन में समाजोन्मुख विविधता लाता है, चाहे वह उसे प्रिय हो भी या नहीं । व्यक्तिगत स्तर पर यही विविधता अनेक तरह की रूचियों और दिलचस्पियों

के कारण व्यक्ति विशेष व्यक्तिगत स्तर पर अकेलेपन का शिकार होने से बचता है तो दूसरी ओर समाज में भी आकर्षण का विषय बन सकता है । जीवन में विविधता होने पर व्यक्ति जीवन को विविध स्तरों में देख पाता हैऔर उतनी ही मात्रा में उसे सुख भी प्राप्त होता है । विविध स्तरों पर प्राप्त होनेवाले विविध अनुभव ही सुख के स्त्रोत बनते हैं ।

प्रेरणा :

व्यक्ति के जीवन में ऐसा बहुत ही कम होता है कि वह अपनी योग्यता तथा शक्तिको स्वयं ही जान सके । वह स्वयं ही अपने में वह खोज नहीं पाता कि उसके पास कार्य-विशेष की प्रगति, प्रस्तुति की कोई ऊर्जा शक्ति भी है । ऐसी परिस्थिति में व्यक्ति को अन्य साधनों या किसी विशेष व्यक्ति से प्रोत्साहन तथा प्रेरणा प्राप्त हो जाती है तो उसे अपनी विशिष्टता व योग्यता का पता भी चल जाता है और कार्य के प्रति उत्साह भी पैदा हो जाता है । अपने दवारा किये गये कार्य के प्रति वह प्रसन्न तो होता ही है, साथ ही उक्त प्रेरणा के प्रति भी आनंद की अनुभूति महसूस करता है जो उसकी जागृति का मूल आधार रहे थे ।

जैनेन्द्र के उपन्यासों में पत्नी एक बंधन है जिसमें पुरुष बंधता है तथा प्रेमिका एक खुली हवा है जिसमें वह खुली साँस लेना चाहता है । स्वच्छंद प्रेम की प्रवृत्ति नारी पात्रों में भी मिलती है । सामाजिक बंधन को मानकर नारी विवाह करती है और स्वच्छंद प्रेम प्रवृत्ति के कारण वह प्रेमी भी चाहती है । "मुक्तिबोध" की नीला सहाय की प्रेमिका व प्रेरणा है । नीला की दृष्टि में जीवन एक लहराता तत्व है जिसके बहाव में कोई भी निषेध उसे स्वीकार नहीं है । नीला किसी के दबाव में विश्वास नहीं करती, वर्तमान में जो है उसे ही स्वीकार कर लेती है । नीला की सहजता का यही भाव सहाय को जीवन के प्रति उत्साहित करता है। "मैं समझ नहीं पाता हूं कि नीला की शक्ति क्या है। पर शक्ति का अनुभव करता हूं । साथ होता हूं तो लगता है वातावरण उससे बनता है मुझसे नहीं । परिस्थितियों में जो मोड़ आता है उससे आता है ।

विस्मय यह है कि यह अनुभव उस समय मुझे अप्रिय भी नहीं होता । बाद में सोचना पड़ता है कि अप्रिय होना चाहिए था । अपने पुरुषोचित सम्मान-अभिमान का उसकी उपस्थिति में मुझे ध्यान नहीं रहता है रहना तो चाहिए।"[82]

नीला निडर है, पाप उसे नहीं छूता । सहाय को परिस्थिति, समय, सम्मान आदि का बोध हमेशा ही नीला द्वारा होता है । नीला के व्यक्तित्व का खुलापन एवं सहजता सहाय को आकर्षित करता है । नीला के आखों में उभरता लगाव सहाय को मन ही मन कृतज्ञ ज़रूर करता है लेकिन अहम् के कारण उसकी रुखाई नहीं छूटती । मन की गाँठें खोलने के लिये नीला सहाय को शराब प्रस्तुत करती है ताकि उसका खुला रूप स्वयं उसके सामने आ जाए । वह सहाय से कहती है -- "मैं तुम्हारी कोई नहीं होती हूं लेकिन मेरे हाथ पर तुम्हारा हाथ है ..... कहती हूं तुम पीछे मुड़कर नहीं देखोगे, आगे ही बढ़ोगे । बोलो, दिया वचन ?"[83] नीला के अनुसार जीवन एक संघर्ष है और जब व्यक्ति पीछे मुड़कर देखना चाहता है तो क्या वह शान्ति के लिये ऐसा करता है या फिर संघर्ष के बचाव के लिये । शान्ति चाहना संघर्ष से एक बचाव, एक हार है । सहाय के लिये इन्हीं संदर्भों में नीला प्रेरणा बनती है ।

सफलता की राह में पुरुष अधिकांशत: नारी का प्रार्थी होता है क्योंकि वही प्रेरणा का माध्यम बनकर उसे प्रकाश में लाती है । नारी की सहयोगी भावना से पुरुष को प्रेरणा मिलती है । यही सहयोगी उत्साह उसे रणक्षेत्र में विजय दिलाता है । इसके बावजूद स्त्री पुरुष की पाशविकता को समझने में नितान्त असमर्थ होती है । स्त्री यह समझ नहीं पाती कि "वह क्यों लड़ता है, मरता - मारता है, शिकार में और युद्ध में मजा लेता है - यह समझ में कैसे आ सकता है ? फिर भी स्त्री है कि पुरुष के उस शौक में मदद करती है । इसलिये नहीं कि शौक को समझती है, बल्कि इसलिये कि पुरुष है वह और अपनी सफलता की राह पर स्त्री का प्रार्थी है ।"[84] लेकिन सहाय का अहंवादी मन प्रार्थी बनने को तैयार नहीं होता । नीला वस्तुत: पति के साथ सामाजिक धर्म निभाती है लेकिन प्रेम सहाय से करती है । उपन्यास के अंत में सहाय नीला के प्रति आभार व्यक्त करता है, "देखो, नीला, कभी तुमने मुझे कुछ नहीं कहा है । जैसा हूं, स्वीकार किया है । यही बल है जो तुम से [illegible] मिला है । दूसरे सुधार चाह सकते हैं, मुझमें संशोधन चाह सकते हैं, मुझे अच्छा देखना चाह सकते हैं । पर प्रेम चाहता नहीं है, बस स्वीकार

लेता है।"[85] नीला के प्रेम में यही स्वीकार भावना थी जिसके कारण सहाय बार-बार उसकी ओर आकर्षित होता है। नारी का समर्पित प्रेम पुरुष के जीवन की प्रेरणा बनता है। सहाय के जीवन का रोष उसका भीतरी असंतोष होता है जिसे उसकी पत्नी राज नहीं सुलझा पाई और वह उसे नीला के पास भेजती है। सहाय क्या चाहता है, यह वह स्वयं भी समझ नहीं पाता। नीला सहाय के इन्हीं दबे अंशों को खोज निकालने का निरन्तर प्रयास करती है।

प्रेरणा द्वारा व्यक्ति के भीतर मन में छिपी योग्यता का प्रस्फुटन होता है। व्यक्तित्व में निखार आने से एक आत्मिक सुख की अनुभूति होती है। प्रेरणा प्राप्त व्यक्ति अपने लक्ष्य, अपने उद्देश्य की ओर बढ़ता है और अन्ततः सुख का अनुभव करता है।

कलात्मक सृजन :

सर्जक या कलाकार का मन जब उद्वेलित होता है तो उसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप वह मन की भावना को सृजनात्मक इकाई में ढालता है। सृजन की प्रक्रिया में उठनेवाले द्वन्द्वात्मक विचार जब किसी कृति में लगभग पूर्णतः संप्रेषित हो जाते हैं तब कलाकार के मन में उठनेवाली अनुभूति उसके सृजनात्मक सुख की पराकाष्ठा होती है। "मनुष्य अपने शोक पर रोता है, क्रोध में चीखता है और संतोष के क्षणों में उसमें यह रुचि होती है कि अपनी भावनाओं को शब्दों के आवरण में प्रस्तुत करे।"[86] कलाकार के लिये कला का उद्देश्य अपनी समाजोन्मुख वैचारिकता को ग्राह्य ढंग से संप्रेषित करना होता है। कलाकार की अनुभूति जितनी प्रगाढ़ तथा गहरी होगी, उसी परिणाम में उसे सृजनात्मक सुख की भी अनुभूति होगी। चूंकि कलाकार में अनुभूति की क्षमता अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक होती है, वह अपने आस-पास के समाज में घटनेवाली क्रियाओं, प्रतिक्रियाओं की सापेक्षता में अपने उद्गारों को सफल ढंग से अभिव्यक्त करता है।

सुखी जीवन का एक आवश्यक तत्व संवेदनशीलता भी है लेकिन यह आवश्यक नहीं कि जो व्यक्ति जितना संवेदनशील होता है वह उतना ही सुखी

होता है । केवल सृजन ही नहीं अपितु सृजन के साथ अन्य आयामों को भी यदि जीवन में शामिल कर लिया जाए तो व्यक्ति सुखी हो सकता है । "अजय की डायरी" में अजय कहता है, "मेरा विचार है कि मित्रता तथा सोहार्द से, और कला व चिन्तन से सर्वभौम जीवन में शरीक होकर, कोई भी व्यक्ति बहुत सुखी हो सकता है ।"[87] मित्रता, कला व चिन्तन जीवन को समझने के आवश्यक तत्व हैं । जीवन के आवश्यक तत्वों को समझकर उसकी पूर्ति करना ही सुख है । लेकिन अक्सर देखा यही जाता है कि कलाकारों को अच्छे मित्र नहीं मिलते । उनके जीवन में मित्रों का सर्वथा अभाव ही मिलता है । "सुखी वही व्यक्ति हो सकता है जिसका जीवन सृजनशील है, जो सिर्फ उपयोगिता के धरातल पर नहीं जीता ।"[88] जिस व्यक्ति में अलौकिक सृजनशीलता होती है वह सुखी हो सकता है । जो व्यक्ति केवल ज़रूरतों के धरातल पर जीता है वह सुखी नहीं होता ऐसी बात नहीं है लेकिन जो ज़रूरतों के धरातल से ऊपर उठ जाता है वह ज्यादा सुखी होता है । व्यक्ति के अपने जीवन के आस-पास बहुत-सी वस्तुएं बिखरी होती हैं । एक कलाकार उन्हीं में से अपने अपनी अभिव्यक्ति के औज़ार ढूंढ लेता है । रचनाकार जब सृजन में डूब जाता है तो वह पूर्णत: अपने सृजन से सम्पृक्त हो जाता है । "संघर्ष का सत्य" उपन्यास का जगमोहन कहता है कि "जिस प्रकार आदमी चिंताओं से मुक्त होने के लिये नशा करता है, मैं कविता लेकर बैठता हूं । मन एकाग्र होकर चिंतामुक्त हो जाता है ।"[89] कविता की सृजन-प्रक्रिया भी अपने आप में एक नशा होती है ।

कलाकार के पास जीवन जीने की एक सुंदर दृष्टि होती है । उसकी मानसिकता साधारण लोगों की अपेक्षा ऊंची होती है । वस्तु के साथ उसका संबंध केवल वस्तुगत ही नहीं बल्कि आत्मिक हो जाता है । इससे वस्तु का वैशिष्ट्य बढ़ जाता है । जो वस्तु किसी साधारण जन के लिये मुसीबत का विषय बनती है वही वस्तु जब कला का विषय बनती है तब कलाकार का प्रस्तुतीकरण उसे अलग रूप देता है । "कलाकार जब इन सब चीजों के चित्र बनाता है, तो वह उन्हें उनके आकार और रंगों के अलावा और भी कुछ दे देता है और वह है उसका अपना व्यक्तित्व, उसकी अपनी आत्मा ।"[90] "अंधेरे बंद कमरे" उपन्यास में शिवमोहन का यह वक्तव्य कला के लिये बहुत ही सार्थक प्रतीत होता है । रंगों-लकीरों के माध्यम से यथार्थ या सच्चाई की गहरी समझ का अनुभव कलाकार के पास होता

है । कोई भी कलाकार व्यक्तिगत अनुभूति को अपने अंदर बंद करके रखना नहीं चाहता । उसकी अनुभूति अभिव्यक्ति चाहती है जिसके सम्प्रेषण के लिये वह कला का सहयोग लेता है ।

व्यक्ति में अधिक ज्ञान हो और वह सम्प्रेषित न कर पाये तो वह ज्ञान केवल जानकारी ही बनकर रह जाता है । "विपात्र" का जगत् बुद्धिमान है लेकिन उस ज्ञान के कारण ही वह असामाजिक हो कर अकेला होता जाता है । जगत् न केवल भारतीय साहित्य बल्कि यूरोपीय साहित्य का भी अच्छा ज्ञान रखता है । "जगत् विद्वान था, लेकिन लेखक नहीं था । सिर्फ सच्चाई आदमी को कुछ नहीं दे पाती, सच्चाई को सामने लाने के लिये भी ज़ोर और ताकत की ज़रूरत होती है । ऐसी सच्चाई जो आदमी में ज़ोर पैदा नहीं कर पाती वह सिर्फ जानकारी बन कर रह जाती है । जगत् को सच्चाई सिर्फ सपना दे जाती थी और लेखक न होने के कारण तथा कार्यकर्ता न होने के कारणया क्रियाशक्ति न होने के कारण, वह उन सपनों में डूबकर निःसंग अन्तर्मुख जीवन व्यतीत करता था ।"[91] विदेशी विश्वविद्यालय से डाक्टरेट लेकर लौटने के बाद भारतीय वातावरण में जगत् स्वयं को बैठा नहीं पाता। अपने ज्ञान के सम्प्रेषण के अभाव में उसका जीवन एकांतिक हो जाता हैऔर उसी के समाज के लोग उसे नापसंद करने लगते हैं । अधिक विदेशी ज्ञान रखनेवाले एवं एकांत-प्रिय व्यक्ति अधिकतर भारतीय समाज में उपेक्षणीय ही होते हैं । इसी नाते समाज की नज़रों में जगत् एक बेवकूफ आदमी माना जाता है । लोग समझते थे कि वह "ऐसे निरर्थक ज्ञान में व्यर्थ डूबा रहता था जिससे फिज़ूल ही वक्त बरबाद होता, ऊंचा ओहदा न मिल पाता और उनके लेखे जिन्दगी अकारथ होकर बरबाद हो जाती ।"[92] जगत् का मानसिक विकास विदेशी वातावरण में अधिक होने के कारण वह भारतीय मानस और भारतीय समाज को समझने में असमर्थ होता है ।

साहित्य या कला में केवल नये प्रयोग करना ही सृजन नहीं होता । "अंधेरे बंद कमरे" के शिवमोहन के कला संबंधी विचार निम्न हैं, "अगर रंगों और लकीरों की व्यवस्था का नाम ही प्रयोग है, तो ऐसे प्रयोग का मेरे लिये कोई अर्थ नहीं है । ऐसी व्यवस्था तो कई बार अनायास और अचानक भी हो जाती है और हम उस पर गर्व कर सकते हैं कि हमने एक नया प्रयोग किया है । वास्तविक कला तो वह है जो कलाकार की आत्मा की भूमि से जन्म लेती है । हमें अपनी आत्मा की सच्चाई को कला में अभिव्यक्त करने का प्रयत्न करना चाहिए, न कि रंगों और

लकीरों से एक चमत्कार पैदा करने का ? जिस कला में कलाकार की आत्मा नहीं है, वह कला मेरी नज़र में कला नहीं, एक तरह का दिखावा है या मनोरंजन का एक प्रयत्न है। वास्तविक कला जीवन के यथार्थ के साथ हमारी आत्मा के संबंध को ही व्यक्त करती है। जहाँ वह संबंध नहीं है, वहाँ कला, चाहे वह कितनी भी आकर्षक क्यों न हो, बिल्कुल बेकार है।"[93] यह सच है कि कला केवल रंगों का मेल नहीं। जो कला आत्मा से प्रस्फुटित होती है वही आत्मिक सुख का स्त्रोत बनती है।

कला या सृजन मन और आत्मा के विषय हैं। जहाँ मन और आत्मा का संबंध हो वही सुख की स्थिति है। "मुक्तिबोध" की नीलिमा बुद्धि की अपेक्षा भावना में विश्वास करती है। वह सहायक से कहती है, "बात यह है कि इसे "स्पिरिट" कहते हैं। तुम स्पिरिट नहीं अक्ल चाहते हो। ठीक है, रखो अक्ल अपने पास। लेकिन सुख तुम्हारे बराबर से अगर निकलता चला जाए तो देखकर उसे कुदना मत।"[94] नीलिमा अक्ल ही नहीं बल्कि स्पिरिट की भाषा भी बोलती है। वह स्पिरिट में विश्वास करती है। वह निषेध में नहीं बल्कि स्पिरिट में जीना चाहती है।

लेखक या कलाकार का मन काल या स्थान से बंधा नहीं रह सकता। "एक इंच मुस्कान" का अमर रंजना से प्रेम करता है लेकिन विवाह के बंधन में बंधने से घबराता है। अमर कहता है, "विवाह अपने आप में एक समझौता है। सोचो, विवाह के लिये नौकरी करनी होगी, बंधी हुई निश्चित जिंदगी बितानी होगी। ..... और जैसे-जैसे उत्तरदायित्व बढ़ता जाएगा, सीमाएं और संकीर्ण होती जाएंगी ... इतनी संकीर्ण ... नहीं, नहीं रंजना, यह सब करने का मतलब होगा अपनी हत्या करना, तुम्हारी हत्या करना, यह सब मैं नहीं कर सकूंगा। x x x जानती हो रंजना, हर प्रकार का समझौता कला को पथभ्रष्ट करता है।"[95] बंधन या विवाह (अमर के विचार में) कलात्मक सृजन में बाधक माने जाते हैं लेकिन दूसरी और सृजन की प्रेरणा के लिये वह प्रेम करता है। वैसे कलाकार की पत्नी भी एक कला ही होती है। "रंजना ईर्ष्यालु पत्नी हो सकती है लेकिन कला ज्यादा ईर्ष्यालु पत्नी है और जो एक बार इस पत्नी से गठबंधन कर लेता है, उसके सामने सिर्फ एक ही विकल्प होता है या तो इस पत्नी के साथ रहे या एकदम इसे छोड़ दे। यह आंशिक अधिकार किसी कीमत

पर बरदाश्त नहीं करती ••• बल्कि जीवन का एक-एक अनुभव एक-एक साँस माँगती है ।"[96] वस्तुतः कलाकार अनुभव की साँसों में ताज़गी का अनुभव करता है । कलाकार, यदि वास्तव में उसके मन में कला के प्रति प्रतिबद्धता है तो वह कला को ही अपना जीवन मान लेता है । "जिस घड़ी कोई आदमी सृजनशील व्यक्ति बन जाता है, उसका जीवन मार्ग निर्धारित हो जाता है । उसका सृजन उसे जिधर ले जाता है उधर ही वह जाता है, उसको अपने सृजन-कार्य के लिये जो कुछ चाहिए, वही वह देखता है ।"[97] सृजनात्मकता में डूबे हुए कलाकार का सुखद क्षण वही होता है जहाँ वह अपने विचारों को या अपनी वैचारिक इच्छाओं को एक सफल रूप प्रदान करता है । सृजन की वस्तु से उसका संबंध इतना गहरा होता है कि वह उसके सृजन-क्षण से स्वयं को मुक्त नहीं कर पाता ।

व्यक्ति अपने जीवन और परिवेशगत अनुभवों को अभिव्यक्ति प्रदान करना चाहता है जिसके लिये वह सृजन का सहारा प्राप्त करता है । जिन व्यक्तियों में सृजन-क्षमता नहीं होती उनका ज्ञान और अनुभव घुमड़कर भीतर ही रह जाता है या फिर एक सतही दिवास्वप्न का सहारा लेता है । सृजन या अभिव्यक्ति के अभाव में व्यक्ति कुण्ठित हो जाता है । ये कुण्ठाएं दुःख का कारण बनती हैं । इस को कवि काव्य द्वारा, चित्रकार चित्र द्वारा अभिव्यक्त करते हैं और इससे मुक्ति का सुख पाते हैं ।

प्रेम :

प्रेम मनुष्य की आधार भावना है । प्रेम की न्यूनाधिक मात्रा हर मनुष्य तथा प्राणी में पायी जाती है । यह एक ऐसा सहज तत्व है जो मानवीय सभ्यता के विकास के साथ-साथ किसी न किसी विषय के साथ हमेशा ही जुड़ा रहा । शायद इसी कारण सातवें दशक के लगभग सभी उपन्यासों का यह एक आवश्यक अंश रहा । प्रेम का अंकुरण मन में होता है जिसके मूल में आकर्षण निहित होता है । इसी मूल में व्यक्ति की छिपी कामेच्छा क्षणमात्र के लिये जागृत होती है जिसका बाद में समय के साथ एक खिंचाव, लगाव व प्रेम में परिवर्तन हो सकता है । यही स्थिति आगे चलकर निकटता या समीपता की स्थितियों में पुनः काम-भावना को विकसित करती है ।

प्रेम और सौंदर्य का गहरा अन्त:संबंध होता है । प्रेम एक कोमल भावना है जो सौंदर्य चाहती है । जहाँ प्रेम होता है वहाँ सौंदर्य भी होता है। प्रेम में सौन्दर्य की परिभाषा वस्तुगत होती है । अत: जहाँ प्रेम होता है वहाँ वस्तु स्वत: ही सौन्दर्य हो जाती है । चेतना और जीवन्तता के अभाव में प्रेम मुर्दा हो जाता है । प्रेम में व्यक्ति स्वयं को अपने धरातल से ऊँचा उठा महसूस करता है । प्रेम वह तत्व है जिसमें मन और आत्मा का विकास होता है । व्यक्ति जब प्रेम करता है तो प्रकृति की ओर जाता है क्योंकि प्रेम प्रकृति है । जीवन की महत्वपूर्ण शर्तों में प्रेम का भी महत्वपूर्ण स्थान है । जिन्दगी प्रेम की माँग करती है और प्रकृति में प्रेम पनपता है । प्रकृति प्रेम में उद्दीपन का काम करती है । खुले वातावरण में व्यक्ति अपना स्व सहजता से खोलता है । इसके बदले में प्रकृति की शब्दहीनता अकेले व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति के पास ले जाती है । "यह पूरी प्रकृति मुझे अच्छी लगती है, पर इसे मैं प्यार नहीं कर पाती ... कोई उस चीज को कैसे चाह सकता है, जो बदले में कुछ न बोले । मैं सोच नहीं पाती उस प्रेम को, जो गूँगा हो । जो कुछ दे न सके । देने को फिर चाहे भौतिक और शारीरिक सुख हो या आत्मिक वैभव । उसका चाहे जो कुछ अर्थ हो ... पर हो ..... निरर्थक प्यार विलास लगता है मुझे । और मेरी जिन्दगी की त्रासदी सिर्फ यही है कि मुझे निरर्थक प्यार ही मिला ..... जो भी मेरी जिन्दगी में आया । उसने यही विलास किया मेरे साथ -- क्यों कोई भी मुझसे खुलकर नहीं कह पाया कि जिन्दगी की शर्तें प्यार से बड़ी होती हैं ... सब यही कहते हैं कि प्यार जिन्दगी से बड़ा होता है ... लेकिन प्यार को जिन्दगी के मुताबिक काटते, सिलते और उधेड़ते रहे ।"98 "डाक-बंगला" उपन्यास की इरा का यह दर्शन इस बात को दर्शाता है कि प्रेम में व्यक्ति की शब्दहीनता जीवन को कोई सार्थ स्वरूप प्रदान नहीं करती जो प्रेम की निरर्थकता को दर्शाती है । ऐसा प्रेम जीवन को सुख नहीं दे पाता । वह मात्र विलास का विषय हो जाता है । इरा के जीवन में जो भी व्यक्ति जीवन तथा प्रेम के द्वन्द्व को लेकर प्रस्तुत हुए वे एक ओर भावना के बहाव में जीवन में प्रेम को प्रमुखता देते हैं लेकिन अपने व्यक्तिगत सुख के लिये उसी प्रेम को अपने जीवन के अनुरूप काँटते-छाँटते हैं ।

बौद्धिक पक्ष का प्रतिनिधित्व करती हुई आधुनिक नारी संपूर्ण प्रेम चाहती है । वह ऐसे किसी प्रेम को स्वीकारना नहीं चाहती जहाँ प्रेम का धरातल सिर्फ शारीरिक ही रहे । "एक इंच मुस्कान" की अमला कहती है, "कोई मुझे प्यार करे ... मेरे व्यक्तित्व को, मेरे अस्तित्व को, मेरी हर बुरी-अच्छी चीज को ।"[99] अमला चाहती है कि उसकी अपनी अस्मिता की काट-छाँट प्रेम के लिये न की जाए बल्कि उसकी कमज़ोरियाँ सहित उसे स्वीकारा जाए । वस्तुतः पाश्चात्यी विचारों तथा संस्कृति के प्रभाव से भारतीय बुद्धिजीवी वर्ग अछूता न रहा । शरीर से हटकर प्रेम की आकांक्षा "अँधेरे बंद कमरे" की नीलिमा में भी मिलती है । उसके विचार हैं -- "विवाहित जीवन में दो व्यक्तियों का शारीरिक संबंध ही सब कुछ नहीं होता और मैं जानती हूं कि उसके लिये एक शारीरिक साधन से ज्यादा कुछ नहीं हूं । इस अभाव के कारण मुझे अपना आप कितना व्यर्थ और खाली-खाली लगता है, यह मैं कभी किसी को ठीक बता ही नहीं सकती ।"[100] नीलिमा की सोच में बौद्धिकता होने के कारण वह संबंधों को इसी दृष्टि से देखती है । वह संबंधों में रूढ़ परम्पराएं लाना नहीं चाहती । वैवाहित जीवन में प्रेम के अभाव में नारी को अपना जीवन निरर्थक लगता है ।

सातवें दशक में सामाजिक विघटन की स्थिति में प्रेम भावना का जो स्वरूप प्राप्त होता है वह यह है कि व्यक्ति को "प्रेम" की श्रेणी में रखकर कोई नहीं देखता, सिर्फ उसकी व्यक्तिगत व सामाजिक उपयोगिता के बारे में ही उसका मूल्यांकन किया जाता है । व्यक्ति को एवं उसके प्रेम को समग्रता में कोई स्वीकार नहीं करता । वास्तविकता में प्रेम स्वीकार चाहता है । "मुक्तिबोध" का सहाय कहता है, "नीला, कभी तुमने मुझे कुछ नहीं कहा है । जैसा हूं स्वीकार किया है । यही बल है जो तुमसे मुझे मिला है । दूसरे सुधार चाह सकते हैं, मुझमें संशोधन चाह सकते हैं, मुझे अच्छा देखना चाह सकते हैं । पर प्रेम चाहता नहीं है, बस स्वीकार लेता है ।"[101] "नीला तो प्रेयसी ही है और जो पति को पत्नी में नहीं मिला, वह सहाय को नीला में मिला -- रस, सौन्दर्य, समान स्तर पर स्थिति उत्कट बंधन-रहित प्रेम । यहाँ भी उन दोनों के संबंधों का आधार काम, वासना, शरीर मात्र नहीं है । वह है परंतु उतना ही जिससे स्त्री-पुरुष के संबंध मांसल और रसवान बनते हैं । अधिकतर दोनों में वह उच्च

मानसिकता का आत्मिक संबंध है जो शरीर के माध्यम से ही सही परंतु ऊपर चढ़कर विलक्षण चैतन्य प्रदान करनेवाले हो जाते हैं और जिन्हें स्थूल प्रचलित शब्दों से परिभाषित नहीं किया जा सकता -- "काम" "प्रेम" बन जाता है ।"[102] प्रेम की पूर्णता स्वीकार में ही निहित है । प्रेम का चश्मा पहनने पर कमज़ोरी भी भली नज़र आती है । सहाय की कमज़ोरियों के प्रति नीला की दृष्टि नहीं जाती । यदि जाती भी है तो इससे उसके प्रेम में कोई कमी नहीं आती ।

इकतरफा प्रेम-भावना व्यक्ति के अस्तित्व की सार्थकता पर प्रश्न-चिह्न लगाती है । प्रेम की प्रबलता मानसिक दबाव नहीं अपितु स्फुरण चाहती है । "रेखा" उपन्यास के प्रभाशंकर कहते हैं -- "रेखा, मुझे क्षमा करना - पर मैं तुमसे कहना चाहता हूं कि मैं तुमसे प्रेम करता हूं ।"[103] इस बात की प्रतिक्रिया में रेखा कहती है कि, "आप मेरे देवता हैं । मैं आपसे प्रेम करती हूं, केवल आपसे, आपको छोड़कर मैं किसी से प्रेम कर ही नहीं सकती ।"[104] प्रेम के भावनात्मक धरातल पर रेखा पूर्णत: प्रभाशंकर को समर्पित होती है । नारी स्वयं को उस व्यक्ति के आगे समर्पित करती है, जिससे मन:स्तर पर लगाव होता है । इसी उपन्यास की देवकी भी प्रभाशंकर के प्रति आकर्षित है, वह कहती है, "तुम्हारे हाथों अपने को सौंप देने में कितना सुख मिलता है मुझे ।"[105] प्रेम का पूर्ण व परिपक्व रूप समर्पण है । यही समर्पित प्रेम काम में बदलता है । परन्तु समाज, परिस्थिति, परिवेश आदि को ध्यान में रखते हुए हर पूर्ण प्रेम समर्पण का रूप नहीं लेता । समर्पण के स्थान पर प्रेम विकसित होने की अपेक्षा संयम की ओर अग्रसर होता है । विवाह-पूर्व प्रेम की ऐसी परिणति अधिकांशत: दिखाई पड़ती है ।

दूसरी ओर एक परम्परागत परिवार में पति-पत्नी अपने संबंधों में मुख्यत: प्रेम की अपेक्षा करते हैं क्योंकि उनका मानना यह है कि प्रेम द्वारा उनके जीवन का हर आयाम जुड़ा रह सकता है । "प्यार गया तो हमारे पास कुछ नहीं रह जाएगा, राजी ! बाकी सब थोथा है, बिरला है । इस उमर में आकर हम तुम यह नहीं समझेंगे, माया की ममता में आकर पड़े रहेंगे, तो सोचो हमारी क्या गति होगी ।"[106] जीवन के उत्तरार्द्ध में भी प्रेम की उतनी ही आवश्यकता होती है जितनी कि जीवन के प्रारंभ में होती है ।

व्यक्ति प्रेम करते समय किसी भी प्रकार के संबंधों को ध्यान में नहीं रखता । शायद इसीलिये ही उसे अंधे का विशेषण दिया जाता है। "रेखा" उपन्यास में ऐसा ही प्रेम प्रोफेसर व विद्यार्थी के संबंधों में होता है । पहले तो यह आकर्षण आदर्श के स्तर पर होता है लेकिन प्रगाढ़ता के कारण इसकी नियति बदल जाती है । विद्यार्थी रेखा और प्रोफेसर प्रभाशंकर का संबंध यही प्रेम है । "अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति का एक महान् और पूज्य व्यक्तित्व था उसके सामने, जो उसके अतिसमीप आ गया था, एक देवता था जिसका डर उससे जाता रहा था,

बल्कि जिसकी ममता उसने

प्राप्त कर ली थी । एक असीम श्रद्धा और भक्ति ।"[107] लेकिन धीरे-धीरे बढ़ते संबंधों में प्रभाशंकर अपने प्रेम को प्रस्तुत कर देते हैं । उन्हें रेखा द्वारा "सर" कहना अच्छा नहीं लगता क्योंकि इस शब्द में उन्हें एक दूरी महसूस होती है । "मुझे सर न कहो, रेखा, इस शब्द में एक दूरी है जो मेरे मन को कचोटने लगती है । यह मेरा सौभाग्य है कि तुम अनायास ही मेरे इतने निकट आ गई हो, और मैं चाहता हूं कि जिन्दगी भर यह निकटता कायम रहे । मैं तुमसे प्रार्थना करता हूं कि तुम मुझे "सर" न कहो ।"[108] प्रेम में निकटता सुख हैऔर दूरी दुःख को जन्म देती है ।

विवाह से पूर्व किया गया प्रेम विवाह के पश्चात् उत्तरदायित्व और कर्म के तले दब जाता है। जहाँ उत्तरदायित्व की स्थितियाँ अधिक बढ़ जाती हैं वहाँ प्रेम बोझ बन जाता है और संबंधों में दुःखउपजने लगता है । "भटियाली" उपन्यास की चित्रा राजशेखर से प्रेम करती है लेकिन विवाह के प्रस्ताव को नकारती है -- "हाँ जानती हूं क्योंकि आपके स्थान पर अपने को रखकर देख रही हूं । जो मेरे जीवन का सबसे बड़ा सुख है वह आपको ऊपर से थोपा गया एक दायित्व जान पड़े तो मैं आपको दोषन दे सकूंगी । पर वह स्थिति क्लेश की है। उस क्लेश की छाया हमारे बीच उठेगी ... बैठेगी ... सोयेगी, और कभी कुछ बोल देगी ... छोड़िये उस बात को । हम मित्र बने रहें यही क्या कम है ।"[109] प्रेम एक ऐसी अनुभूति है जिसका सूक्ष्म तथा स्थायी प्रभाव मन पर गहराई से पड़ता है । इसके अतिरिक्त यह भी देखा जा सकता है कि प्रेम में संबंधों की जो प्रगाढ़ता होती है वह विवाह के बाद उतनी शक्ति के साथ उपस्थित नहीं होती क्योंकि विवाहोपरान्त जीवन कर्म और कर्तव्यपरक हो जाता है ।

परम्परावादी व्यक्ति की प्रेम और विवाह की धारणा में संकुचित मन:स्थिति मिलती है। आधुनिक होते हुए भी ऐसे पात्र परम्परा के बोझ से लदे होते हैं। "रूकोगी नहीं राधिका" का अक्षय राधिका से प्रेम करता है लेकिन विवाह की बात पर कहता है कि, "देखो राधिका, मुझे तुमसे बहुत लगाव है, पत्नी के रूप में तुम्हारी कामना भी आरम्भ में मेरे मन में दबी रही है, पर तुम्हें पूरी तरह स्वीकार नहीं कर पाता। तुम्हारे अतीत को लेकर मेरे मन को कुछ निरंतर काटता रहा है। सच कहो राधिका, क्या मनीश भी तुम्हारा प्रेमी?"[1] व्यक्ति जहाँ पूर्वाग्रही हो जाता है वहाँ वह अतीतजीवी हो जाता है। विवाह के लिये अक्षय राधिका को उसकी वर्तमान स्थिति में स्वीकार नहीं कर पाता। अत: यहाँ प्रेम के सुख का स्वरूप केवल वायवीय ही है। यह परंपरागत मानसिकता में जकड़े हुए आधुनिक व्यक्ति की स्थिति है जो उसके मानसिक रूप से पिछड़े होने का द्योतक है।

प्रेम में यदि सच्चाई हो तो पूर्वाग्रह जैसे दकियानूसी विचारों की लपट में नहीं फँसता। आर्थिक सम्पन्नता व विपन्नता का भी प्रभाव प्रेम पर दिखाई देता है, जो अस्थायी हो सकता है। "एक करोड़ की बोतल" उपन्यास में बोमन सभी कोशिशों के बाद भी इन्दु को रंजीत से अलग नहीं कर पाता। इस बीच इन्दु का सम्पर्क कई रईसों से होता है तथा रंजीत का संबंध रानीबाला से होता है लेकिन अंतत: दोनों का मिलन होता है। रंजीत इन्दु से कहता है, "हम दोनों का यों सोचना गलत था, खुशी बोतल में बंद होकर सागर की लहरों पर उछलती हुई किसी को नहीं मिलती है। खुशी को अपने हाथों से जीतना पड़ता है, इन दोनों हाथों से।"[1] एक करोड़ रुपये की जो खुशी उन्हें प्राप्त हुई थी वह आगे चलकर बेकार साबित होती है। तात्पर्य यह कि खुशी धन से प्राप्त नहीं की जा सकती। मूल्यवान खुशी वही है जिसे व्यक्ति प्रेम करता है।

संबंधों में भावना के धरातल पर स्त्री हमेशा ही पुरुष से सर्वश्रेष्ठ रही है। चूंकि प्रेम स्त्री-पुरुष का स्वाभाविक गुण है अत: स्त्री के पास पुरुष को रिझाने और उसी आधार पर अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने का अवसर मिलता है। पुरुष की पाशविकता के विरोध में स्त्री इसी अस्त्र से उसे हराना चाहती है। "धर्म के नाम पर" की एक पात्रा पुरुष की इसी प्रभुत्व-प्रवृत्ति को तोड़ने की इच्छा रखती है। "मैं मर्दों से उलझती रही, उनके

साथ केवल खिलवाड़ करती रही । सदियों से वे नारी का शोषण करते चले आ रहे हैं, उनका प्रतिशोध अकेली नारी नहीं ले सकती, यह मैं जानती हूं, परंतु मेरा संतोष इसी में है । पतंगा बनकर पुरूष उससे कहीं ज्यादा चालाक है, वह जलता नहीं, वह दीपशिखा को ही बुझा देना चाहता है, और तत्काल दूसरे दीपक पर लपकने को तैयार हो उठता है । मैं चाहती हूं कि वह जले, उसके विष का दांत उखड़ जाए, बस पुरूष में मेरी आसक्ति इतनी ही रह गई है ।"[112] पुरूष के जीवन का विष नारी की जीवन ज्योति को बुझा देता है । नारी इसी विष को समाप्त करने का एक निरर्थक प्रयास करती है ।

स्त्री अपनी ओर से खुला तथा साफ प्रेम चाहती है लेकिन उसको सहयोग देनेवाला कोई नहीं मिलता । इससे नारी की सहयोग भावना को ठेस पहुंचती है । "डाक-बंगला" की इरा कहती है, "मैंने हमेशा सब कुछ बता डालने की कोशिश की और यह समझा कि वह मेरी सारी खमियों के साथ जीवन भर साथ देगा । पर ऐसा कभी नहीं हुआ ... मैं बार-बार अकेली रह गई ।"[113] इरा के जीवन में आनेवाला हर व्यक्ति खिलवाड ही करता रहा । किसी ने भी उसे सम्पूर्ण प्रेम नहीं दिया । इस प्रकार का भटकाव इरा के जीवन में निरंतर होता रहता है । वह जितना भी सुख की अपेक्षा करता रहा, उसे प्रेम में उतना ही दु:ख मिलता रहा ।

सम्प्रेषण के दौरान व्यक्ति की वासना शारीरिक धरातल से उठकर मानसिक स्तर पर चली जाती है । व्यक्ति में विश्वास पाने की प्यास और अपनत्व पाने की भूख भी होती है । "डाक बंगला" का तिलक इरा के साथ निकटतम स्थितियों में यह सोचता है कि, निकटता और खुलकर बातें कर सकने की सुविधा बहुत हद तक वासना को मार देती है, क्योंकि आदमी में केवल शारीरिक लिप्सा ही नहीं होती, बल्कि यह वासनात्मक लिप्सा मानसिक द्वन्द्व से चालित होती है ... और मानस की भूख विश्वास और मात्र अपनेपन से भी मिटती है, ममता और सुंदरता की अनुभूति मन को रस देती है । आज इरा मेरे साथ थी ... बिल्कुल मेरी थी । पर स्वीकारोक्तियों की इस रात में वह कुछ भी नहीं हुआ जो मुझे त्रस्त किये था । बल्कि मन धुला हुआ बहुत ही निर्मल था।"[114] प्रेम में व्यक्ति विश्वास चाहता है, वही उसका सुख है ।

यह सच है कि बाहरी स्त्रोतों से सिर्फ भौतिक सुख की प्राप्ति की जा सकती है लेकिन मानसिक संतुष्टि तथा मन से जुड़ी भावनाओं के परिष्करण के लिये आत्मिक रूचि तथा विवेक आवश्यक तत्व होते हैं । "बाहरी संघर्ष से हम धन-दौलत तथा पद पा सकते हैं, शायद औरत या मर्द को भी पा सकते हैं, किन्तु उस सुरूचि और विवेक को नहीं पा सकते जो ऊँचे जीवन के लिये ज़रूरी है । इतिहास में जिन्होंने औरतों के लिये युद्ध किये हैं उनका लक्ष्य सेक्स रहा है, प्रेम नहीं ।"[115] सादा जीवन उच्च विचारवाली मानसिकता इस उपन्यास के बुद्धिवादी पात्रों में मिलती है । सुरूचि और विवेक व्यक्ति की एक बौद्धिक प्यास होती है । "जिसे लव या प्रेम कहते हैं वह आत्मा की गहरी जरूरत भी हो सकती है । उसकी गिनती दुनियावी चीजों में नहीं होनी चाहिए ।"[116] आत्मा की इस गहरी जरूरत को "अँधेरे बंद कमरे" का हरबंस भी महसूस करता है। स्वयं के ओछेपन को वह अपनी पत्नी द्वारा दूर करना चाहता है । अकेलेपन में वह स्वयं के साक्षात्कार में यह पाता है कि -- "मैं इतना ही जानता हूँ कि मुझे आज अपनी आँखों में एक भेंगापन दिखाई देता है जिसे मैं चाहता हूँ कि तुम मिटा सको, तुम मेरी चाह के साँचे में ढलकर मेरे लिये वह दृष्टि पैदा कर सको जो मुझे एक सीधे और प्रशस्त मार्ग पर ले जाए ।"[117] हरबंस प्रेम के माध्यम से ही तनाव से मुक्ति पाना चाहता है । आदमी में छिपा देवत्व नारी के प्रेम से ही अनावृत हो पाता है । "आदमी में देवता होता है और पत्नी नहीं, प्रेमिका उसे जगाती है ।"[118] सामाजिक बंधनों में आदमी की मानसिकता भी बंध जाती है, इसीलिये आदमी को प्रेमिका जितनी सजगता से खोल सकती है, उतना पत्नी नहीं कर सकती ।

महानगरीय सभ्यता की गति के प्रभाव में संबंध अस्थायी होने लगते हैं, "अजय की डायरी" में अजय का मित्र यह अनुभवकरता है कि "एक लगाव ज्यादा से ज्यादा साल भर चलता है, और कभी-कभी सिर्फ कुछ महिने, उसके बाद आकर्षण धुंधला पड़ जाता है और सारा मामला क्रमशः फीका और नीरस जान पड़ने लगता है । इंटिमेसी ... जी हाँ, उसका असली विषय यही है । गॉड हाऊ रॉटेन लव इज़" । एक स्टेज में हर प्रेमी को -- मेरा मतलब है आधुनिक प्रेमी को ऐसा अनुभव होता है ।"[119] अतः यही कि आधुनिकता के प्रभाव में आत्मीयता के गुण मनुष्य की प्रकृति से दूर होते जा रहे हैं ।

प्रेम मनुष्य का स्वाभाविक गुण है । प्रेम का सुख मन:स्तर की आत्मीय अनुभूति में है । अनुभूति का स्तर जितना सूक्ष्म होगा, उसके सुख में भी उतनी ही गहराई होगी और संबंधों में उतनी ही प्रगाढ़ता आएगी ।

विवाह :

विवाह एक सामाजिक व्यवस्था है जिसमें स्त्री-पुरुष में साथ रहने का समझौता होता है । मानव की कामेच्छा की आदिम प्रवृत्ति को मर्यादित रखने, परिवारों-कुटुंबों के अंत:संबंधों में घनिष्ठता को स्थायी रखने एवं मानव-जाति की वृद्धि करने के लिये विवाह जैसी संस्था का आयोजन किया गया ।

वैवाहिक जीवन का सुख इस बात में निहित है जहाँ दो व्यक्तियों के बीच एक पारदर्शी दीवार होने के बावजूद सहजता से मिलकर जीवन बिताया जाता हो । व्यक्ति के परस्पर प्रेम, लगाव व आकर्षण वैवाहिक संबंध को सुदृढ़ करता है । वैवाहिक सुख का मूल यही है कि इसमें दो व्यक्ति अपनी योग्यताओं की साझेदारी से एक पूरे परिवार को सुखीऔर संपन्न रखते हैं । भारतीय समाज के परंपरागत विवाह खण्ड-क्षेत्र में ही सम्पन्न होते रहे हैं । कालान्तर में व्यक्ति के बहुमुखी विकास एवं स्थानांतरण के प्रभाव से विवाह के मानदण्डों में अप्रत्याशित बदलाव आये हैं । समाज की स्थितियों एवं आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर रूढ़ि-परंपरागत विवाहों के स्थान पर अन्तर्जातीय विवाहों को मान्यता प्राप्त होने लगी है । अन्तर्जातीय विवाह मुख्यत: शहरी जीवन व बौद्धिक वर्ग में ही देखा जा सकता है, जहाँ विवाह से पूर्व दो व्यक्ति एक-दूसरे को समझने का प्रयत्न करते हैं । विवाह के बाद का प्रारंभिक समय लगभग सभी के लिये सुखकर होता है । बाद में इसकी राह या तो विभाजित हो जाती है या वही रह जाती है जो कि संबंधों की परिधि में निश्चित होती है। भारतीय समाज में अभी अन्तर्जातीय विवाह अनुपातत: सफल नहीं माने जाते हैं क्योंकि "यह अंतर्जातीय प्रेम विवाह से पहले रूढ़ियों के प्रति बगावत करके मनुष्य को

संकोर्णता से व्यापकता के दायरे में ले जाता है लेकिन विवाह के बाद यही संकीर्ण जातिगत चेतना पति-पत्नी के बीच कभी-कभी बेतुकी और कुंठन भरी स्थितियाँ ला देती हैं। प्रेम का नशा उतरते ही ये लोग एक दूसरे को अपनी जाति जत-लाने लगते हैं। आर्य समाजी और सिविल मैरेज कानून से किये गये विवाह कर्म का बंधन उनके मन में बच्चों के खेल के समान ही फुसफुसा और बेबुनियाद हो जाता है। हाँ, जो युवक या युवतियाँ छोटे शहरों में बंगलेवाले समाज से या बड़ी शहरों में फ्लैटोंवाले समाज से जुड़े हुए हैं, उनमें यह जातिगत बबबबब=बे भावनाएँ किसी भी स्तर पर नहीं सताती।"[120] "अमृत और विष" के इस उपन्यास-खण्ड में विवाह की पूरी स्थिति का अवलोकन किया जा सकता है लेकिन आलोच्य दशक के अधिकांश उपन्यासों में विजातीय विवाह सुख का स्त्रोत बनते नहीं दिखाई देते।

विवाह एक आदर्श मिलन है जिसे समाज मान्यता देता है। वैवाहिक संबंध में स्त्री-पुरुष का शारीरिक-संबंध नैतिक माना जाता है।[121] वैवाहिक जीवन का सुख दो व्यक्तियों की परस्पर समझदारी और सहयोग पर निर्भर करता है क्योंकि प्रेम जैसी वस्तु अधिकतर वैवाहिक जीवन में अधिक दिनों तक टिक नहीं पाती। विवाह के पूर्व का प्रेम व परिस्थितियाँ विवाह के बाद की परिस्थितियें व व्यक्ति की मन:स्थिति का सहयोग वैवाहिक जीवन के सुख से जुड़ता है। "डाक बंगला" की नायिका इरा का वैवाहिक अनुभव कहता है कि, "केवल भावनाओं के बुलबुले शारीरिक सम्पर्क के लिये काफी होते हैं और एक साथ दोहरी जिंदगी चल सकती है। किसी को न चाहते हुए भी दुनियावी बातें ठीक-ठीक चलती रह सकती हैं और शादी करने से कोई बड़ा फर्क नहीं आता क्योंकि शादी से आत्मा का कोई संबंध नहीं है। अगर आत्मिक मिलन की ही बात होती तो शादियाँ करने की उम्र पचास के बाद होती। यह महज़ एक शारीरिक आवश्यकता है, जिसे आदर्श का ताज पहनाकर गरिमा प्रदान की गई है।"[122] वैवाहिक जीवन की असफलता से इरा का यह यथार्थवादी दृष्टिकोण बनता है कि विवाह से आत्मा का कोई संबंध नहीं होता। भौतिक स्तर पर वह केवल शारीरिक ही होता है। विवाह का रूढ़ यथार्थ जब कटु बनता है तो दु:ख का कारण बनता है।

विवाहोपरान्त जीवन की असफलता से बचने के लिये स्वयं ही मनोनुकूल साथी का चयन करने का निर्णय लेता है । "युवती के लिये पहले से यह जान लेना मुश्किल होता है कि वह व्यक्ति जिससे वह विवाह करेगी, अपना अर्थार्जन करेगा और अपने बच्चों के लिये आदर्श बनेगा । यही बात युवकों के साथ भी होती है कि उक्त स्त्री अपने घर का प्रबंध कैसे करेगी तथा बच्चों को कैसा मातृत्व देगी ।"[123] अधिकतर ऐसे पात्र व्यक्तिवादी विचारधारा का प्रतिनिधित्व करते हैं । जीवन को स्वाभाविक बनाए रखने तथा कुण्ठा व विकृतियों से बचने के लिए "एक इंच मुस्कान" का नायक अपनी इच्छा से विवाह करता है । विवाह के विषय में वह कहता है, "इतना अवश्य है कि साथ मन लायक होना चाहिए । घरवालों की ओर से तय किये हुए विवाहों में मुझे विश्वास नहीं है ।"[124] अमर अपनी इच्छा से रंजना से विवाह करता है लेकिन मानसिक एकाग्रता के अभाव में वह इस संबंध को मधुर बनाये रखने में असमर्थ होता है ।

आकर्षण प्रेम में बदलता है और प्रेम की परिणति विवाह चाहती है । पहली ही नज़र में "एक करोड़ की बोतल" उपन्यास के करसटजी इंदु से विवाह करना चाहते हैं । "पहले दिन जिस रोज तुम्हें देखा था, मेरे दिल में यह विचार आया था कि तुमसे शादी करूं, मुझे अपनी जिन्दगी में इससे बड़ा इनाम नहीं मिल सकता ।"[125] "रुकोगी नहीं राधिका" के अक्षय के लिये भी परस्पर आकर्षण की परिणति विवाह है ।"[126] समाज में संबंध के स्थायित्व के लिये आकर्षण और प्रेम के विकास में व्यक्ति विवाह चाहता है । विवाह-पूर्व प्रेम केवल तैयारी की भूमिका निभाता है ।

शराब और नारी पुरुष के लिये केवल सुख का साधन रहे हैं । "कड़ियाँ" उपन्यास के नाटा का दाम्पत्य संबंध शराब पर आधारित है। स्त्री से उसका रिश्ता केवल भोग का ही है । उसके ही शब्दों में "वह केवल औरत के शरीर का पुजारी है ।"[127] दाम्पत्य जीवन के अधिकांश प्रेम में वासना छिपी होती है । वह खुलकर इसलिये प्रकट नहीं हो पाती क्योंकि उस पर प्रेम का आवरण होता है । प्रेम से वासना का या वासना से प्रेम का जन्म होता है, निश्चित रूप से कहा नहीं जा सकता । दिनकर के अनुसार "प्रेम का जन्म काम में होता है किन्तु उसकी परिणति काम के अतिक्रमण में होनी चाहिए ।"[128] वैसे अधिकतर व्यक्ति प्रेम के ब माध्यम से काम या वासना को प्रधानता देता है । उसके लिये

शारीरिक स्तर का स्थूल सुख ही महत्वपूर्ण हो जाता है। भीष्म साहनी का कथन ठीक ही है कि, "वासना के साथ प्रेम के छोटे-छोटे झूठ बोले जाते हैं ताकि वासना निपट वासना न लगे। प्रेम में भीगी-भीगी वासना। वासना के साथ-साथ प्रेम की बातें फबती हैं, इनसे वासना की नग्नता छिपी रहती है।"[1] वासना पूर्ति के लिये लोग प्रेम का सहारा लेते हैं। प्रेम और वासना ये दोनों भाव व्यक्ति के मन और शरीर के दो मुख्य आधार हैं। किन्हीं भी दो व्यक्तियों में इनका सुसमायोजन उनको एकल पहचान निश्चित करता है। "वैवाहि "सुख" विवाह करनेवाले व्यक्ति की विवाह के प्रति विषयोन्मुखता पर निर्भर करत है। यानि व मानसिक रूप से इस संस्कार से जुड़ता है। इसके बावजूद व्यक्ति शारीरिक रूप से उस समय समानुकूल हो सकता है जब बाह्य ऊर्जा तथा आंतरिक आनंद दोनों की मात्रा कम हो, जबकि तथ्य यह है कि संभावित सुख के लिये यह आवश्यक होता है कि कम से कम कुछ उच्च स्तर का आनंद हो।"[130] ऐसी स्थिति प्रेम और वासना के समान अनुपात से प्राप्त होती है। बाह्य ऊर्जा की कमी से न तो व्यक्ति में पाशविकता पनपेगी न ही आंतरिक आनंद की अधिकता से अतृप्ति की अनुभूति होगी।

नारी तथा पुरुष दोनों अपनी सम्पूर्णता के लिये एक दूसरे का अभाव महसूस करते हैं। बकौल जेन ऑस्टिन के कि अकेला व्यक्ति यदि अच्छे भाग्य की कामना रखता है तो उसे एक अदद पत्नी अवश्य खोज लेनी चाहिए।"[131] यही स्थिति नारी के प्रति भी मानी जानी चाहिए बल्कि पुरुष प्रधान भारतीय समाज में तो यह नारी के लिये विवशताभरी आवश्यकता ही है कि वह किसी पुरुष के साथ जीवनयापन करे। "एक इंच मुस्कान" का अमर अमला को जीवन में एकाकीपन हटाने के लिये विवाह का सुझाव देता है। "तुम विवाह कर लो अमला तुमने अभी स्वयं स्वीकार किया है कि तुम्हारे दुःख का सबसे बड़ा कारण है -- पुरुष का अभाव। तब तो इसका एकमात्र निवारण है विवाह। क्यों व्यर्थ ही इसे टालती आ रही हो? कटु चाहे कितना ही हो, यह सत्य ही है कि सब कुछ पाकर भी पुरुष के अभाव में नारी अपूर्ण ही है।"[132] नारी को इसका बोध होता अवश्य है किन्तु जब पहले विवाह की परिणति अनपेक्षित तलाक में होने पर अधिकांश नारियाँ दूसरा विवाह नहीं करतीं क्योंकि उन्हें हर पुरुष में अपने भूतपूर्व पति की ही छवि दीखती है।

विवाह के माध्यम से जब दो अजनबी परस्पर मिलते हैं तो दोनों को जानने-समझने की इच्छा एक नई चेतना जगाती है। किसी को पूर्ण रूप से जान लेने पर उसके प्रति जिज्ञासा समाप्त हो जाती है। "प्रेम स्वतः स्फूर्त भावना है और विवाह एक निश्चय, एक कठोर कर्तव्य। इसीलिये प्रेमी भी पति बन जाने के बाद प्रेमी का-सा बर्ताव नहीं करता न प्रेमिका पत्नी बन जाने पर प्रेमिका रह जाती है।"[133] "एक करोड़ की बोतल" का कमल मिश्रनी इन्दु का परिचित है। वह इन्दु को ठीक से जानने से पूर्व ही विवाह कर लेना चाहता है। "जिस समय हम एक-दूसरे को जान गये, उस वक्त हम एक-दूसरे से नफरत करेंगे। मोहब्बत के लिये अजनबीपन बेहद अच्छा है। इसीलिये शुरू के कुछ महिने मियाँ-बीवी बहुत अच्छे गुज़ारते हैं फिर जब वह सुहाने अजनबी दिन रोजमर्रा की गहरी जानकारी में बदल जाते हैं तो घृणा शुरू होती है, क्योंकि गहरी पहचान में खूबियाँ ही नहीं जानी जातीं, बल्कि त्रुटियाँ भी पहचान ली जाती हैं, जिनकी गिनती इन्सानी स्वभाव में खूबियों के मुकाबले में दस गुना अधिक होती है, इसीलिये अच्छा यही है कि इस अजनबीपन के मौसम में जबकि हम दोनों एक दूसरे को जानते नहीं हैं, शादी कर लें।"[134] मनुष्य की मानसिकता यह रही है कि वह प्रारंभिक भेंट में अगले व्यक्ति की मुख्यतः खूबियाँ ही देखता है। उसकी नज़र उसकी त्रुटियों पर नहीं जाती। काल की गति के साथ ही व्यक्ति अन्य की त्रुटियाँ ढूंढ लेता है। अतः अजनबीपन में जो सुख की अनुभूति होती है उसमें यदि सहजता न रहे तो वह एक अनुभव-काल बाद दुःख देती है।

पाश्चात्यीकरण के प्रभाव में पारंपरिक भारतीय विवाह पद्धति में बदलाव आने लगे हैं जिसके लिये युवा वर्ग का प्रयास अधिक होता है। स्त्री-पुरुष को समानाधिकार होने के बावजूद अनेक जगहों पर पुरुषों की एकाधिकारिता कारण स्त्रियाँ अपने अधिकारों से वंचित रह जाती हैं। "परम्परागत ढाँचे में स्त्री किसी की माँ, पत्नी, प्रेयसी, बहन या बेटी रही है। पर वह व्यक्ति रूप में कुछ भी नहीं है।"[135] लड़की की इच्छा के विरुद्ध विवाह होने से उसे भावनात्मक ठेस पहुँचती है। "चौदह फेरे" का रेक्सी जो एक विदेशी है, अहल्या से कहता है -- "पहाड़ का ही लड़का है, फारेन सर्विस में है। बाप कोटि के राजनीतिज्ञ हैं, तुमसे पूछने की उन्होंने कोई ज़रूरत नहीं समझी। हमारे यहाँ की

लड़की होती तो बाप को इसी बात पर झाड़कर रख देती, पर तुम्हारे भारत में शायद लड़की की भावनाओं को अभी भी कोई मान्यता नहीं दी जाती । सोच रहा हूं, तुम्हारा एक पोर्टेट बनाऊंगा इस बार, जंजीरों से जकड़ी एक सुंदरी गुलामों के बाज़ार में बेची जा रही है ।"[136] भारतीय नारी के पिछड़ेपन का कारण उसका अपने अधिकारों के प्रति सचेत न होना है । दूसरी ओर पुरूष की नारी के प्रति संकुचित मानसिकता के कारण नारी को समान अधिकार से वंचित रखा जाता है । "पाश्चात्य प्रभाव एवं समाज सुधार के आन्दोलनों से शिक्षित नारी का अबला, सतीत्व एवं देवीत्व की संज्ञाओं से विश्वास उठता गया है जिसके फलस्वरूप रूढ़ियों की श्रृंखला को तोड़कर वह पुरूष की समकक्षता प्राप्त करने लगी है । आर्थिक रूप से स्वतंत्र शिक्षित नारी अब अधिकाधिक व्यक्ति रूप में प्रतिष्ठित होते हुए पुरूष के स्वेच्छाचारी रूप को चुनौती देने लगी है । समाज की स्थिति पति-पत्नी संबंधों के परम्परागत स्वरूप में परिवर्तन की स्थिति स्त्री-पुरूष संबंधों में उद्घाटित नवीन चेतनाओं से संभव हुआ है ।"[137] नवीन चेतना दवारा ही आज समाज में स्त्री-पुरूष समान स्तर पर पहुंच रहे हैं जहाँ वे एक दूसरे को भली प्रकार से जाँच-परख लेते हैं । इस मायने में स्त्री का परम्परागत स्वरूप अब परिवर्तन की ओर है ।

व्यवस्थित विवाह में यदि दोनों पक्षों का स्वभाव अनुकूल रहा तो विषमता की स्थिति उत्पन्न नहीं हो पाती । व्यक्ति शिक्षा की असमानता को भी समझदारी से अपने पूरक बना लेता है लेकिन जब वह समाज की शिक्षिताओं के सम्पर्क में आता है तो उसमें स्वभावत: हीन भावना जागृत होती है, जिसका असर उसके साथी पर पड़ता है । असफल होने पर वैवाहिक जीवन में दरार आ जाती है । "वैवाहिक कठिनाइयों की भीषणता, असल में, वहाँ सबसे अधिक है, जहाँ शिक्षा, संस्कृति, चिंतन और एक हद तक, धन का प्राचुर्य है । जिन देवियों को भाग्य ने इस ऊँचे धरातल पर आसीन किया है, वैवाहिक व्यथा का दु:खदायी अंश सबसे अधिक वे ही जानती हैं ।"[138] "कड़ियाँ" उपन्यास के महेन्द्र का वैवाहिक जीवन यूँ तो सुखी है लेकिन उसकी भेंट जब उसके ऑफिस की सुषमा से होती है तो उसका संबंध प्रेमी का हो जाता है । वह अपने कृत्य के प्रति जागरूक रह कर भी स्वयं को रोक नहीं पाता । वह झुंझलाहट में कहता है, "मैंने कुछ भी बुरा नहीं किया है । ये मेरे संस्कार हैं जो मुझे परेशान कर रहे हैं । जवानी

पाँच-सात साल बाकी रह गये हैं, और जिन बातों में मेरा विश्वास नहीं है, उनसे मैं चिपटा नहीं रहूँगा, जहाँ से प्रेम मिलेगा, लूँगा ।"[139] अधिकतर अशिक्षित नारियाँ घरेलू स्वभाव की होती हैं । घरेलू कार्य में सफलता उनके जीवन का उद्देश्य होता है । "चौदह फेरे" के कर्नल के जीवन की भी यही स्थितियाँ हैं । "वर्ष में एक बार कर्नल घर आता, पर नन्दी को अपने नाना कार्य निबटाते अबेर हो जाती । जब वह पति के कमरे में पहुँचती, तो कर्नल उसे झिड़कियों से चीरकर रख देता । हद है, लगता है तुम्हें घर के खूसट बूढ़े और बूढ़ियों से मुहब्बत है, रात भी वहीं बिता आती ।"[140] इस स्थिति में नंदी असमर्थ ही रहती ।

व्यक्ति जब सुख-प्राप्ति के लिये किसी औरत का सहयोग लेता है तो उसमें पूर्ण सुख को ही तलाश करता है । यदि उसे सुख मिल जाता है तो यह स्थिति उसके प्रेम की स्थिति होती है जो उसे सुख प्रदान करती है। "यानि, जो औरत पुरुष के जीवन में एक सरहद अपने अस्तित्व के समग्र फैलाव के किनारों को समेटती हुई सरहद की तरह अपने को छा लेती है, उसी से पूर्ण सुख का बोध होता है ।"[141] चाहे उसका संबंध कुछ भी रहे । समग्रता जब व्यक्ति में समा जाती है तो एक एहसास जन्म लेने लगता है । इससे व्यक्ति के मन का भटकाव खत्म होने लगता है । मन जहाँ निर्द्वन्द्व होकर केन्द्रित हो जाता है वही स्थिति सुखद होती है ।

विवाह दो परस्पर व्यक्तियों का एक ऐसा समझौता है जिसमें दोनों का सहज विकास हो सके । विवाह का सुख इसी में निहित है कि इससे मानसिक स्थिरता आ जाती हैऔर व्यक्ति की जिम्मेदारी, कर्तव्य और प्रेम की भावना के आवरण में उसकी पाशविकता दब जाती है । सहयोग और विश्वास भाव से वैवाहिक जीवन के सुख की स्थिरता बनी रहती है । व्यक्ति अपने जीवन के सुख व दुःख भोगने के लिये एक साथ चाहता है और इस चाहत के लिये विवाह ही एक सर्वोत्तम बंधन है ।

काम :

भौतिक भूख-प्यास की तुष्टि की तरह व्यक्ति के लिये काम की तुष्टि भी उसके जैविक तंत्र का एक अपरिहार्य अंग है । सामान्यतः जब व्यक्ति में काम-भावना जागृत होती है तब वह विपरीत लिंग की ओर आकर्षित होता है। काम प्रेम का दूसरा पहलू तथा जीवन का एक पुरूषार्थ है । यह मूलतः इन्द्रीय सुख है जिसकी आनंद की परिणति सूक्ष्मता में होती है । भौतिक जीवन में सुख के साधनों में काम को विशेष स्थान मिलता गया है । व्यक्ति के मन में छिपे अन्जान तनाव भी काम द्वारा शांत होते हैं । स्त्री-पुरूष के बीच के अहं का इस प्रक्रिया में विलय होता है । काम के प्रति यदि मानसिक लगाव न हो तो वह सिर्फ पाशविकता से अधिक कुछ नहीं होता जिसकी अनुभूति सुख की अपेक्षा दुःख देती है ।

काम वह भोग है जिसमें व्यक्ति समाधिके सुख की की अनुभूति प्राप्त कर सकता है जिसके लिये मानसिक शारीरिक अनुकूलता, ध्यान और मन की एकाग्रता आवश्यक तत्व होते हैं । अन्यथा इसकी परिणति विक्षिप्तता में होती है । आधुनिक युग में काम संबंधी परम्परागत धारणा में परिवर्तन होता गया है । "रेखा" उपन्यास की रेखा में ऐसी ही विचारधारा प्राप्त होती है । "भूख-भूख है वह दबाने के लिये नहीं होती, वह शान्त करने के लिये होती है । भूख प्रकृति है, उसे दबाना प्रकृति के साथ अन्याय करना होता है । बुद्धि इतना जानती है । उपवास करना, अपने को प्रताड़ित करना, यह सब अंधविश्वास की परम्परा है, वैज्ञानिक और स्वस्थ्य बुद्धि से अलग की चीज़ ।"[142] इसी उपन्यास का योगेन्द्रनाथ मानना है कि, "नहीं, इस भूख पर किसी का कोई वश नहीं, भूख शरीर का गुण है, वह तो लगेगी ही ।"[143] आधुनिक विचार-धारा का प्रतिनिधित्व करते ये पात्र काम की भावना को दबाने के पक्ष में नहीं हैं । व्यक्ति के मन पर जब वैज्ञानिकता एवं तर्क-शक्ति का आरोपण होने लगता है तब उसकी समझ में यह आया कि उपवास करने से शरीर को केवल कष्ट ही होता है । भोजन शरीर का आवश्यक धर्म है । उसकी आवश्यक मात्रा की पूर्ति ही लाभ एवं सुख प्रदान करती है ।

संतुलित भोजन की भांति संयमित जीवन भी सुखी होता है । काम की अतिशयता से जीवन का संतुलन डगमगाता है । संतुलित जीवन की विचार-धारा को मानते हुए "रेखा" उपन्यास के प्रभाशंकर कहते हैं -- "हां, मैं जीवन में संयम की महत्ता को स्वीकार करता हूं । भूख स्वयं में विकृति नहीं है, उसकी उग्रता और भूख को वहन करनेवाले व्यक्ति का असंयम -- ये दोनों मिल कर विकृतियों को जन्म देते हैं । इसीलिये जीवन में संयम की नितांत आवश्यकता है कि हम विकृतियों से बचे रह सकें ।"[144] उग्रता से असंयम जन्म लेता है जिससे व्यक्ति असामाजिक कार्य करने लगता है । व्यक्ति यदि विकृतियों को त्याग कर संयम एवं अनुपातिक मात्रा में काम की ओर अग्रसर होता है तो उसका जीवन सुखी रह सकता है ।

संयमित जीवन में बंधकर व्यक्ति सुखी जीवन बिताता है । समाज के विभिन्न प्रकार के प्राणियों के सम्पर्क में आने से उसका संयम डगमगा जाता है । ऐसे में व्यक्ति अपने वैवाहिक जीवन से टूट कर पत्नी के अतिरिक्त प्रेमिका रखता है । "मुक्तिबोध का सहाय स्वयं के संयम को दूर नहीं कर पाता । अपने मानसिक द्वन्द्व की शान्ति के लिये वह अपनी प्रेमिका नीला के पास जाता है । सहाय के लिय नीला काम पूर्ति का माध्यम न होकर मानसिक स्फूर्ति का स्त्रोत बनती है । सहाय सामाजिकता की आड़ में व्यक्तिगत सुख चाहता है लेकिन नीला समाज की उपेक्षा करके सहाय से संबंध बनाती है । समाज के व्यवस्थापकों के विरोध में रोष प्रकट करते हुए वह अपना यह वक्तव्य देती है -- "तुम व्यवस्थापकों की बिरादरी से जरूर नाराज़ हूं । तुम लोग आदि शक्ति में अविश्वास करते हो और अपने नियम कानूनों में विश्वास करने लग जाते हो । कभी तो अपने को उस शक्ति के हाथों में छोड़ा करो जो आदिम और सनातन है और जिसके अलावा कोई दूसरा सच नहीं है । क्यों तुम लोग ढंकाव पसंद करते हो । क्यों प्रकृति के स्पर्श से बचते हो और संस्कृति का बेठन उस पर लपेटते हो ।"[145] नीला सहाय के तनाव को तोड़कर सहजता की ओर ले जाती है । वह सहाय को प्रेरित करने के लिये मानव की आदिम व सनातन प्रवृत्ति की याद दिलाती है और उसकी कुंठित मानसिकता को खोलने में सफल होती है। नीला की इस भावना के मूल में प्रेम भी होता है परंतु "रेखा" उपन्यास की रेखा की काम भावना केवल शारीरिक तृप्ति का ही द्योतक है । सातवें दशक के

आलोच्य उपन्यासों में अधिकांश स्त्रियों को यह मानसिकता चित्रित की गई है कि वे अपने पति के अतिरिक्त अन्य पुरूषों के साथ भी संबंध रखती हैं । ऐसे संबंध अधिकतर उच्च वर्ग में मान्य होते हैं ।

सौन्दर्योपासकों में प्रेम व काम को लेकर कुछ अलग ही धारणा मिलती है । वे अपनी प्रेम-प्रतिमा को काम के सहारे तोड़ना नहीं चाहते । "रेखा" का शिवेन्द्र रेखा को बाहुपाश से छुड़ाकर कहता है -- "नहीं रेखा जी, आपको यह सब नहीं करना चाहिए । आप विवाहित हैं । x x x मैं सौन्दर्य का उपासक हूं, सौन्दर्य को नष्ट करना मैं पाप समझता हूं । मेरा क्षेत्र भावना है ।"[146] भावनात्मक लगाव के कारण शिवेन्द्र सौन्दर्य को काम की प्रक्रिया द्वारा नष्ट करना नहीं चाहता ।

प्रेम काम का एक सहयोगी पक्ष है । जहां काम केवल शारीरिक ज़रूरत बन जाता है वहां प्रेम ढोंग में रूपान्तरित हो जाता है । इसकी आवश्यकता हेतु बनाये गये संबंधों में स्थायित्व नहीं होता "डाक बंगला" उपन्यास की नायिका धन के अभाव में बतरा से संबंध बनाती है तथा उसके सम्पर्क में यह अनुभव करती है कि, "विमल से जो विश्वास मिलता था, वह यहां नहीं था, यह मैंने बाद में महसूस किया । यह केवल एक ज़रूरत थी और ऐसी ज़रूरत तो बहुत बड़ी न होते हुए भी एक क्षण विशेष पर विकराल बन जाती है, सारी मान्यताएं धरी रह जाती हैं ।"[147] जहां काम प्रमुख हो जाता है वहां प्रेम गौण हो जाता है, कभी-कभी तो प्रेम का अंश मात्र भी नहीं होता । इस नायिका को जो प्रेम व विश्वास अपने पति विमल से प्राप्त होता था, वह उसे किसी अन्य पुरूष से प्राप्त नहीं कर पाती । विमल से छूटने के बाद इरा की यही भटकान पूरे उपन्यास में मिलती है ।

काम और प्रेम दोनों की भावना में व्यक्ति के तन एवं मन दोनों का समान योगदान होता है । मानसिक भावनाओं की कमी के कारण शारीरिक भावना केवल बलात्कार का विकराल रूप धारण करती है । जब तक व्यक्ति का मानसिक लगाव न हो, उसमें शारीरिक समर्पण एवं सहयोग की भावना उत्पन्न नहीं होती । इच्छा के अभाव में काम-भावना में जड़ता आ जाती है । "एक करोड़ की बोतल" में यह स्थिति प्राप्त होती है । "इन्दु आंखें झुकाए खड़ी रही, आगे बढ़कर करसटजी ने इन्दु का हाथ थामा जिसकी

उँगलियाँ बर्फ से ज्यादा ठंडी थीं, फिर उसने उँगली दबाकर अपना हाथ उसकी कमर में डाल दिया, जो पत्थर की बनी थी । फिर उसने इन्दु को अपने सीने से लगा के उसके होठों का चुम्बन लिया, जो बिल्कुल राख था ।"[148] इन्दु विवशता में वृद्ध करसटजी से विवाह करती है । करसटजी का कोई भी प्रयत्न इन्दु के मन में प्रेम या काम भावना को जागृत नहीं कर पाता । भावना के अभाव में यह संबंध सुख के बदले दुःख देता है ।

व्यक्ति के मन में कामेच्छा इतनी प्रबल होती है कि उसे अपने वातावरण व परिवेश को भी सुध नहीं होती । "भागे हुए लोग" के एक पात्र नरोत्तम में यह भावना अपने मित्र की माँ की मृत्यु पर अचानक जागृत होती है । मित्र की पत्नी को रोता देखकर उसके मन में कथित भावना आती है । जलती चिता को देखकर यह आवेग और तीव्र हो जाता है । तब वह यह सोचता है कि, "एक औरत की शव-यात्रा से लौटे हुए पुरुष में भी वासना का इतना प्रबल आवेग होता है कि वह अपने जीवन के इतने सारे संदर्भों में सिर्फ उसी धुरी पर घूमता रह जाए ।"[149]

व्यक्ति अपने भौतिक संसार का त्याग कर ही सन्यासी बनता है लेकिन आधुनिक युग में ऐसे भी सन्यासी मिलते हैं जो अपने त्याग के बावजूद काम भावना का दमन नहीं कर पाते । अपने सन्यासी जीवन की आड़ में सभी सुखों का भोग बेहिचककरते दिखाई देते हैं । "किशनेश्वर बाबा को लग रहा है, इधर कुछ दिनों से उनकी आत्मा और उनके जीवन की जोड़ी अलग-अलग होती चली जा रही है । भोग की वृत्ति मन को चलायमान करती है । उठकर, अंदर की कोठरी में भगवती के पास ही चटाई पर लेट जाने की इच्छा उमड़ती है ।"[150] इस "भागे हुए लोग" उपन्यास में सन्यासी जीवन को अनावृत्त किया गया है । दूसरी ओर इस बात का भी पता चलता है कि व्यक्ति अपनी काम-भावना को किसी भी प्रकार संयमित नहीं कर पाता ।

आधुनिक रोजमर्रा की कुछ स्थितियाँ ऐसी आ जाती हैं जहाँ आदमी अपना संबंध सहज नहीं रख पाता । उससे जुड़ी हुई हर स्थिति तथा घटना उसके विरोध में जाती है जिससे उसके मन में कुंठा उपजती है । कामभावना में असहजता आ जाती है । "दूसरी बार" का नायक सोचता है कि "अपने सबसे नीचे क्यों

में आदमी को तबियत गाली देने की होती है । किसी और को गाली देकर वह अपने को तुष्ट कर लेता है । स्त्री के साथ जुड़े होने पर वह बहुत सी अनर्गल बातें कह जाता है, जिस में गाली भी होती है और अटपटी अर्थहीन ध्वनियाँ भी । स्त्री इन बातों को प्यार के रूप में स्वीकार करती है ।"[151] इस प्रकार तनाव के क्षणों में यदि पत्नी का उचित सहयोग मिल जाए तो जीवन सदा सुखी बना रहता है । यह आपसी समझ के परिणामस्वरूप सम्पन्न हो पाता है ।

इस प्रकार सातवें दशक के उपन्यास काम-भावना के परिप्रेक्ष्य में एक संक्रमणकाल से गुज़रते दीखते हैं जहाँ काम में कहीं प्रेम का अंश दिखाई देता है तो कहीं इसके माध्यम से पाशविकता भी दृष्टिगोचर होती है ।

सफलता :

सुख का महत्व समय सापेक्ष होता है । सफलता का उत्साह कुछ समय के लिये होता है जिसके बाद व्यक्ति उस सुख को विकसित कर विस्तार देने की अपेक्षा रखता है । वस्तुत: इस प्रक्रिया में सुख का विस्तार न होकर अगले नये सुख की इच्छा का जन्म भर ही होता है । इस प्रक्रिया में एक नैरन्तर्य बना रहता है जो व्यक्ति को जीवन के प्रति उत्साही बनाये रखता है । सफलता उत्साह को बनाये रखने का साधन है जिससे क्षण सुखद होते जाते हैं । सफलता जीवन की एक स्फूर्तिदायक चेतना है ।

"अजय की डायरी" के अजय की पत्नी शीला व्यावसायिक घराने से होती है । वह जीवन में धन का महत्वपूर्ण स्थान मानती है । उसके विचार में जिन्दगी की सफलता का रहस्य "अर्थ" है ।"[152] धन को जीवन की सफलता का मूल मानते हुए भी इससे उसके संबंधों के प्रति आसक्ति और लगाव में कोई कमी नहीं आती । मध्यवर्गीय नारी धन की प्रमुखता को समझते हुए उसके संचयन पर स्वयं को केन्द्रित करती है लेकिन उच्चवर्गीय नारी के सफल जीवन के लिये कुछ भिन्न आवश्यकताएं होती हैं । वह धन का उपयोग खुलकर करती है । "एक करोड़ की बोतल" के रईस बोमन का मानना है कि "एक खूबसूरत लड़की के लिये

स्कालर होना ज़रूरी नहीं है । लेकिन खाने के ढंग, लेकिन महफिल के आदाब, लेकिन बात करने के ढंग, लेकिन व्यंग्य करने के ढंग, लेकिन कपड़े पहनने के और उसमें अपनी उपज पैदा करने के ढंग, लेकिन हां को न, न को हां में बदल देने के ढंग, हंसने-मुस्कुराने-दिल लेने, दिल तोड़ने, सिगरेट पीने, शराब आफर करने, हंसकर घायल करने और घायल करके नरम-नरक बातों से मरहम रखने के ढंग और मर्दों की दुनियो में रहने के लिये खूबसूरत खुश पोशाक कामयाब सुंदर औरतों का बहुत से रेशमी हथियारों से लैस होना पड़ता है ।"[153] उच्चवर्गीय समाज में ये सभी आदर्श नारी जीवन की सफलता के द्योतक हैं । जीवन में सफलता के लिये इन सब बातों को ध्यान में रखती हुई स्त्री एक "शो पीस" बन कर ही रह जाती है । निम्न वर्ग से उच्च वर्ग में आनेवाली इन्द्र चकाचौंध के प्रभाव में कुछ दिन ऐसा जीवन व्यतीत करती है लेकिन ये उसके मन को संतुष्टि नहीं प्रदान कर पाते । वह पुनः अपनी प्रकृति एवं सहज जीवन की ओर लौट जाती है ।

"विपात्र" के राव साहब सदैव अपने उद्देश्यों का खयाल रखते हैं । यही उनके जीवन की सफलता के उपादान होते हैं । इसके अतिरिक्त धैर्य, अनुशासन एवं श्रम उनके अतिरिक्त गुण होते हैं । वे ज्ञान का सदुपयोग करते हैं । ऐसी ही होशियारियों से वे सदा सफलता की ओर बढ़ते हैं । "आज राव साहब इस वक्त जिस सीढ़ी पर हैं उसकी अगली सीढ़ी का नक्शा बराबर ध्यान में रखते थे । उस अगली सीढ़ी पर बढ़ने की तरकीबें भी जानते थे और फिर अपना मुंह हमेशा उसी तरफ रखते ।"[154] राव साहब व्यावहारिक जीवन में विश्वास रखते हैं जो कुछ भी जीवन के लिये उपयोगी हो, वे उसी को अपने जीवन के लिये चुनते तथा उसे पाने का प्रयत्न भी करते ।

सफलता जीवन का एक आवश्यक तत्व है । जीवन में सफलता न केवल उत्साहवर्धक होती है बल्कि उससे जीने की इच्छा भी बलवती होती है । व्यक्ति केवल जीना ही नहीं अपितु सार्थक जीवन जीने की आकांक्षा रखता है । इसके लिये कोई धन को प्रमुखता देता हैतो कोई सहज, मनोनुकूल प्राकृतिक जीवन को । प्रत्येक व्यक्ति के साथ उसके जीवन के कुछ लक्ष्य तथा उद्देश्य होते हैं जिनको प्राप्त करने की सफलता सुख का स्त्रोत बनती है ।

नशा :

नशे की अर्ध-चेतनावस्था ही सुख मानी जा सकती है क्योंकि इस स्थिति में मनुष्य अपनी चेतना तथा वर्तमान के चेतन संसार से कट जाता है । वर्तमान जीवन में व्यक्ति के मन में उपजनेवाले दुःखों से छुटकारा पाने के कारण वह नशे का सहारा लेता है । नशीली अवस्था में व्यक्ति ऐसे कार्य करता है जो वह अपनी चेतना अवस्था में नहीं कर पाता । इस समय व्यक्ति का छिपा हुआ रूप सामने आता है । नशे के सामान्य सेवन से अतिरिक्त शक्ति, स्फूर्ति और आनंद की प्राप्ति होती है जो सुख के प्रेरक तत्व होते हैं । नशे की अधिकता में व्यक्ति देश-काल की सीमा से परे हो जाता है ।

सामान्य रूप से सुखी व्यक्ति भी और अधिक सुखी होने का प्रयास करता है । सुख की मात्रा बढ़ाने के लिये वह नशे का सेवन करता है । व्यक्ति दुःख न होने पर भी वह स्वयं को या अपने अतीत या वर्तमान को भुलाने के लिये भी नशे का सेवन करता है । जीवन में आनेवाले गतिरोध जीवन की सामान्यता में गतिरोध उत्पन्न करते हैं जिससे जीवन का आनंद समाप्त हो जाता है । इस आनंद की पुनर्प्राप्ति के लिये व्यक्ति नशे का सहयोग प्राप्त करता है । "रेखा" उपन्यास की रेखा कहती है, "बड़ी खुशी की बात है ज्ञान, देखने दो उन्हें । मैं आपे में नहीं रहना चाहती -- हंसना-खेलना ही तो जिन्दगी है । तुम भी थोड़ी सी पियो ज्ञान तब तुम्हें मालूम होगा कि उल्लास किसे कहते हैं ।"[155] रेखा बिना किसी की परवाह किये उल्लासमय जीवन बिताना चाहती है । दुःख में जीना उसे स्वीकार नहीं । नशे के बाद व्यक्ति के रक्तचाप में वृद्धि होती है जिससे उसका अवचेतन जागृत हो कर तीव्र हो जाता है । "प्रभाशंकर ने एक घूंट शराब का पिया और उनके अन्दर की उदासीनता में कुछ कमी हुई - ऐसा उन्हें अनुभव हुआ । धीरे-धीरे उनकी आँखों में चमक बढ़ने लगी । उल्लास की एक लहर-सी उनके शरीर में दौड़ने लगी । कुछ देर पहले जो देवकी उन्हें कुरूप-सी दिख रही थी, वह अब उन्हें अत्यंत सुंदर दिखने लगी -- उसका दस सालवाला रूप जैसे लौट आया हो । वासना का उद्दाम नशा उन पर छाने लगा और प्रभाशंकर उस नशे में डूबते गये, डूबते गये ।"[156] जैसे-जैसे उन पर नशा चढ़ने लगता है, वैसे-वैसे ही वे अनैतिकता की दीवारें लांघने लगते हैं । नशे की

आग में वे भूल जाते हैं कि देवकी उनकी पत्नी नहीं है । नशा उनकी वासना को उकसाता है ।

जीवन के बोझ से व्यक्ति जब थकने लगता है तो वह राहत के माध्यम ढूंढता है । "दूसरी बार" की बिन्दी शराब का सेवन ताज़गी के लिये करती है । दुःख में शराब लोगों को तसल्ली देती है लेकिन उसका कहना है कि "तसल्ली के लिये मैंने कभी नहीं पी । वह नसों में गर्मी पहुंचाती है । धड़कन में एक नई धड़कन पैदा करती है ।"[157] शराब के नशे में प्रक्रिया सामान्य से हटकर होती है जिससे जीवन के ठंडेपन में गर्मी आती है ।

शराब के नशे में व्यक्ति अपने आप को खोलना चाहता है । चेतनावस्था में जो बातें कहने से व्यक्ति हिचकिचाता है तथा असमर्थ महसूसता है उसे शराब के नशे में कह देता है । "अंधेरे बंद कमरे" का हरबंस अपने मन को उधेड़ने के लिये शराब पीता है । "मैं अपने मन की सारी खीज और झुंझलाहट आज व्हिस्की में डुबो आया हूं । मैं इस समय लिखने बैठा हूं, तो मुझे लगता है कि मैं आज तुम्हें एक बहुत लंबा पत्र लिखूंगा और अपने मन की सारी परतें खोलकर तुम्हारे सामने रख दूंगा ।"[158] अपनी ही जिन असावधानियों के कारण वह सावित्री से दूर होता है, उसमें स्वयं को खाली महसूसता है । अपने इसी खोखलेपन को संप्रेषित करने के लिये वह शराब पीता है ।

नशे के प्रभाव में स्नायुतंत्र खिंच जाता है । अवचेतन की अनर्गल बातें इस अवस्था में उभर आती हैं । "पीने की एक सीमा के बाद आदमी कितनी ढेर-सी बातें कहने के लिये आतुर हो जाता है -- हालांकि न कि उनका कोई अर्थ होता है, न अतीत -- वे सिर्फ उस क्षण के अकेलेपन से छुटकारा पाने के लिये होता है -- लेकिन सिर्फ इसके लिये तुम दूसरों को सोचने से रोक नहीं सकते।"[159] "वे दिन" का नायक प्राग में अकेलेपन की सीमाओं में सिकुड़ जाता है जिसमें उसके जीवन के बहुत से अंश दब जाते हैं जो नशे की अवस्था में प्रकट होने लगते हैं ।

शराब पीने के बाद व्यक्ति के न केवल दमित अंश उभरते हैं बल्कि उसके साथ उसकी विकृतियां भी उभर आती हैं । "दूसरी बार" का नायक शराब के नशे में अपने प्रेम के साथ-साथ वासना को भी पोक्ष रूप में प्रस्तुत करता है ।

सामान्य स्थिति में वह बिंदो को प्रताड़ित करता है लेकिन नशे में होने पर उसके पैरों पर गिर कर माफी माँगता है। "तुमने मेरे प्यार को कभी नहीं समझा और अभी भी नहीं समझ रहे हो । x x x मुझे माफ करो ।"[160] ऐसा ही विरोधाभास "डाक बंगला" के बतरा में भी मिलता है । "जब वह शराब पिये हुए नहीं होता था, तब कुछ कुछ उज्जड़ और भयानक भी दिखाई पड़ता था । गिलास खाली करते ही उसके चेहरे पर करुणा आने लगती थी और आँखों की कोरें नम होकर बड़ी हो जाती थीं । ओठों की मुस्कुराहट से शालीनता बिखरने लगती थी । बतरा की सज्जनता और निकपटता शराब पी चुकने के बाद ही उभरती थी ।"[161] यानि कि शराब के गुण अपनी-अपनी सापेक्षता में विभिन्न प्रकार के गुण तथा सुखों को प्रस्तुत करते हैं ।

जब व्यक्ति जीवन से बहुत अधिक उकता जाता है और मरना भी नहीं चाहता तब उसको जिन्दगी मौत से भी अधिक बदतर होने लगती है । ऐसा व्यक्ति बिना कुछ अधिक सोचे स्वयं को शराब में डुबो देने का प्रयत्न करता है। "मछली मरी हुई" की शीरीं ऐसे ही दु:खद परिस्थितियों से घिरी होती है । "शीरीं पद्मावत के जीवन का कोई अर्थ नहीं रह गया । वह अपने कमरे में लेटी रहती । वारमुथ, शरी, पोर्ट, रम के गिलास गले में डालती रहती है । राजबर्गर की लाल शराब । पीला कीयनियेक । सफेद गिलास में सफेद बोर्दा, शिकान्ती, भरी दोपहरी में जिन । शाम को अरमेम्ना । अकेली रात और बर्गन्डी का नशा । किसी भी शराब का नशा । किसी भी ख्याल का नशा कोई भी प्यार, कोई भी भुलावा ...... ।"[162] इन सभी शराबों से सिर्फ सुख प्राप्त करना ही उसका उद्देश्य रहा एवं नशे में स्वयं को भुलाकर सारी जिंदगी नशे में रहना ही उसको अपने जीवन का सुख लगता जो न तो सुख कहा जा सकता है न ही दु:ख, केवल अपने को बहकाये रखना तथा वर्तमान से कटे रहना ही उसका सुख होता है । शीरीं अपने को चेतनावस्था में रखने की इच्छा ही न रखती । "शीरीं अपने पलंग पर सोई पड़ी थी, नींद में बेसुध, नशे में बेहोश। इन तीन हफ्तों में उसने शराब पीने और सोसाइटी की सस्ती औरतों के साथ शोरगुल मचाने के सिवा कुछ भी नहीं किया है । निर्मल की याद आई तो शराब पीकर भुलाती रही है । पागल होती रही है । अपना ही शरीर

नोचती रहती है ।"[163] यह नशे की अति ही मानी जाएगी जहाँ वह एक दुःख को भुलाने के लिये लगातार नशे में रहती है । यानि कि वर्तमान को पूरी तरह मिटाने का प्रयत्न करना ही उसका एकमात्र सुख का उद्देश्य होता है ।

व्यक्ति का आध्यात्मिक सुख और उस सुख का नशा उसे एक विचित्र सी आत्मिक शान्ति प्रदान करता है । साधु-संत भौतिक संसार से पृथक रहकर भी उसे भोग लेते हैं लेकिन उनके भोगने की दृष्टि भौतिकवादी नहीं होती । "भागे हुए लोग" के किशनेश्वर बाबा के अनुसार "संसार में जीना अलग चीज है और संसार को भोगना अलग चीज । हम लोग सन्यास किसलिये लेते हैं ? सांसारिकता से घबराकर ? नहीं, भगत, नहीं -- सांसारिकता को भोगने के लिये ही आदमी को सन्यासी बनना पड़ता है -- साधारण संसारी लोग देह से भोगते हैं, हम साधु लोग दृष्टि से भोगते हैं -- और, प्रकृति का भोग बहुत प्रचंड है, उसके लिये स्थिर-दृष्टा होना पड़ता है, भगत । -- और साधु लोग जो यह चरस पीते हैं, सिर्फ स्थिर दृष्टा बनने के लिये ही पीते हैं, बेटा । इससे आँखों की सदा अस्थिर और चलायमान रहनेवाली पुतलियाँ एक जगह पर स्थिर हो जाती हैं और भवसागर पूरा दिखाई देने लगता है -- और भवसागर में डूबी हुई सारी दुनिया जिसे दिखाई दे गई, वह ब्रह्म में विलीन हो जाता है।"[1] साधु सन्यासियों द्वारा जड़ी-बूटियों का नशा करने की प्रवृत्ति के पीछे उनकी यही मानसिकता होती है कि वे नशे के माध्यम से अपनी अवचेतना को उबारे तथा अपने आप को ब्रह्म तक पहुंचने तक की स्थिति में ले जाएं । भारतीय परम्परागत समाज में यह धारणा है कि समाज में पाये जानेवाले धार्मिक गुरु, साधु, संत आदि में एक विशेष प्रकार की सिद्धी पायी जाती है जिसके चमत्कार से वे व्यक्ति के दुःखों को दूर कर सकते हैं । अधिकांशतः ऐसा नहीं होता । समाज में फरेब, पाखण्ड तथा थोथे आडंबरों को ओढ़ कर कई व्यक्ति धार्मिक रूप अपना लेते हैं । इसी सच्चाई को "भागे हुए लोग" का एक साधु पात्र प्रकट करता है । " ..... तू ही सोच, राधा डाक्टरनी, कि जो हम जोगी - जट्टे अपने अन्दर की प्रताड़नाओं और आत्म-निषेधों से बचने के लिये चरस-गाँजा और अफीम-शराब के नशे का सहारा लेते हैं, हम स्साले किसी दूसरे के दुःखों को दूर करने का उपाय क्या बताएंगे ।"[165]

गाँवों में मुख्यत: जड़ी-बूटियों का ही नशा किया जाता है । हिन्दू मिथक के भगवान शंकर इसके आदि स्त्रोत माने जाते हैं । परमात्मा को आधार बनाकर नशे के सेवन की जो स्थिति शिवपालगंज गाँव के व्यक्तियों में देखने को मिलती है उसे व्यंग्यात्मक ढंग से "रागदरबारी" में प्रस्तुत किया गया है । " यह "हरि" क्या चीज़ है, इसे भी लोगों ने उसी दिन शाम से ही समझना शुरू कर दिया । एक चिलम में गाँजे की काली रखी गई जिस पर सुलगती हुई आग ठूँस दी गई । उसे गाल पिचका कर और उतनी ही बार फुलाकर सुलगाया गया और दम खींची गई एक साँस और दूसरी साँस के इन्टरवल के दौरान शंकर जी का नाम कई ढंग से कई अर्थों के साथ लिया गया । वह चिलम भक्तों में इधर से उधर और उधर से इधर घूमती रही । भक्त समझते रहे कि यही हरि है ।"[166] गंवई समाज में मान्य गाँजे का यह नशा है । जड़ी-बूटी का संबंध शिव से माना जाता है और यह भी माना जाता है कि इनके सेवन से शिव या हरि की सन्निकटता की अनुभूति होगी ।

व्यक्ति के जीवन में जब सुख अपने ऐच्छिक रूप में नहीं मिलता तो वह दु:ख को कमतर करके जीना चाहता है । इसके लिये वह नशे का सहारा लेता है । इससे वह कुछ समय के लिय तनावमुक्त होकर राहत की साँस लेता है जिसमें उसे सुख की अनुभूति होती है । आलोच्य उपन्यासों के पात्र अधिकतर अपने तनावग्रस्त क्षणों में नशे का सहारा लेते हैं जो कि एक प्रकार की आधुनिकता या फैशन का भी पर्याय हो गया है । नशे द्वारा प्राप्त तथाकथित सुख इनके मन में, जीवन में कुछ ही समय के लिये होता है । अन्तत: वे पुन: अपने वर्तमान में आ जाने को बाध्य होते हैं ।

रीति-रिवाज़ :

प्रत्येक समाज और जाति में रीति-रिवाज़ भिन्न-भिन्न होते हैं । प्रत्येक धर्म और समाज की कुछ परम्पराएं होती हैं जो रीति के रूप में उस समाज में चल पड़ती हैं । रीति का उद्देश्य समाज-विशेष के व्यक्तियों में खान-पान, वेशभूषा, रहन-सहन आदि में एकरूपता लाना होता है । यही प्रथाएं आगे

चलकर संस्कृति का रूप लेने लगती हैं । रीतियों से एक सामाजिक व्यवस्था बनी रहती है । रीति-रिवाज़ का उद्देश्य कहीं धार्मिक होता है तो कहीं मनोरंजक एवं परम्परा का निर्वहन भी । सदियों से चली आ रही रूढ़ परम्पराएँ काल-निरपेक्ष होकर अपना अस्तित्व बनाये रखती हैं । समय-समय पर होनेवाले सामाजिक बदलावों का भी इन पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ता । इस प्रभावहीनता का कारण कहीं न कहीं दैवी या धार्मिक भय सामाजिक व्यक्ति पर छाया होना है । सामाजिक सुख धर्म ~~व्यक्ति~~ का भी यही निष्कर्ष होता है कि व्यक्ति अपने समाज-कल्याण हेतु परंपरागत रीति-रिवाजों का चलन बनाये रखे ।

विज्ञान और तकनीकी के प्रभाव के कारण रीति-रिवाज़, रूढ़ि परंपराएं काल-सापेक्ष होती जाती हैं । आधुनिक युग के आते-आते व्यक्ति जीवन के जंजाल में इतना उलझ गया कि वह समय और प्रतिष्ठा के अनुरूप अपने सुख के लिये रीतिय रूढ़ियों व परम्पराओं को काट-छाँट करने लगा है । आधुनिकता एवं पाश्चात्यीकरण के प्रभाव के बावजूद भारतीय मानस अपने समाज तथा स्वयं के सुख के लिये अपने रीति-रिवाज़ों का काल-सापेक्ष स्वरूप बनाये रखे हैं ।

रीति-रिवाज़ बौद्धिक व्यक्ति के लिये कई बार तर्क और तनाव के कारण बनते हैं । "विपात्र" का जगत् रूढ़िवादी घराने में विवाह करने के कारण अनेक झमेलों में पड़कर जीवन का रस समाप्त करने की स्थिति में आ जाता है । इसके परिणामस्वरूप वह काल्पनिक मानसिक सुख में डूबा रहता है । वह स्वयं को विदेश में होने की कल्पना करता है जहाँ वह इरोना नामक विदेशी युवती से विवाह करता है । भारत पहुँचकर जब माता-पिता के चरण छूने की स्थिति पर आता है तब उसका दिवास्वप्न इस बात पर टूटता है कि "क्या इरोना उसके माता-पिता के पैर छुएगी कि नहीं ।"[167] पूज्य व्यक्तियों के सम्मान स्वरूप पैर छूना हिन्दू समाज का सनातन धर्म माना जाता है । जिन रीतियों से परेशान होकर जगत् कल्पनाजीवी होता है, उस कल्पना में भी उसे रीति-रिवाज़ भय प्रदान करते हैं ।

आज तक भारतीय पुरुष अपने सुख के लिये नारी को घर की चौहद्दी से बाहर नहीं आने देता था । नारी को केवल सीता, सावित्री के रूप में ही देखने की प्रथा समाज में व्याप्त थी । स्वातंत्र्योत्तर समाज में नारी सर्वांग

विकास के प्रभाव में पारंपरिक स्वरूप में आये परिवर्तन से स्त्री अपने सुख के लिए रीति-रिवाजों में बदलाव चाहने लगी है । व्यक्ति अपने जीवन में जिन संघर्षों से जूझने लगता है, तब उन्हीं संघर्षों का सत्य उसके लिये प्रमुख हो जाता है और रीति-रिवाज़ गौण हो जाते हैं । "संघर्ष का सत्य" उपन्यास के कवि चातक जैसे महानुभाव संस्कृति-समाज की बातें करते हैं । लेकिन दूसरी ओर उनके व्यक्तिगत जीवन की ओर देखने से लगता है कि, "लगभग सभी की पत्नियाँ घर की चक्की में पिसी जा रही हैं और वह उन दिनों के स्वप्न देख रही थी, जब जीवन के हर क्षेत्र में नारी पुरुष के कंधे से कंधा और पग से पग मिलाकर चलेगी और पुरुष उसे सीता-सावित्री के आदर्श से बहकाएंगे नहीं, सचमुच जीवन-संगिनी सहचरी और मंत्रिणी बनाएंगे ।"[168] रीति-रिवाज़ समय के साथ या तो अपनी उपयोगिता गँवा बैठते हैं या अपना स्वरूप बदल देते हैं । समाज में जो पुरुष नारी-स्वातंत्र्य की बात करते हैं, उनके घर की नारियाँ स्वयं शोषित होती हैं । एक ओर तो संस्कृति के निर्माता पुरुष स्त्री-जाति के विकास की बातें करते हैं किन्तु अपने व्यक्तिगत जीवन में अपने ही नियमों का उल्लंघन करते दिखाई देते हैं । उनके घर की नारियाँ स्वयं रूढ़-नियमों से बंधी रह कर सीता-सावित्री के नाम पर सताई जाती हैं । यह उनके मानसिक पिछड़ेपन की निशानी है ।

हिन्दू-धर्म में ईश्वर उपासना के लिये विभिन्न अवतारों की कल्पना की गई है । अशिक्षित समाज में भगवान के नाम का धार्मिक भय इतनी गहराई से बैठाया गया है कि वे अपनी पूजा का माध्यम किसी भी स्वरूप को मान लेते हैं भारतीय समाज में रीति-रिवाजों में धर्म का विशेष व प्रमुख स्थान है । पेड़-पत्थर आदि किसी भी रूप में भगवान के दर्शन मुख्यत: गाँवों में हो ही जाते हैं । इस स्थिति का आडंबरीय स्वरूप "राग दरबारी" में मिलता है जहाँ गाँव के बाहर खेतों में पौधों में गाँठ बाँधने के रिवाज़ को हनुमानजी की अनुकम्पा से जोड़ा गया। "रंगनाथ ने सामने बंधी हुई दर्जनों गाँठों की ओर देखा, पूछा "ये कैसी पूजा है ?" क्या पता कैसी है ? सुनते हैं, हनुमान जी ने वहाँ किसी को सपना दिया था । उन्हीं के हुकुम से लोग वहाँ गाँठ बाँधने लगे हैं ।"[169] हिन्दू धर्म की यह रीति है कि हनुमानजी की पूजा प्रमुख रूप से पुरुष ही करते हैं । स्त्रियों के लिये इनकी पूजा वर्जित मानी जाती है । "भगवान के दरबार में तो सब एक हैं — क्या

मर्दाना, क्या जनाना । ककोल के बाप ने आत्मविश्वास से कहा, जैसे इस वक्त वह सीधे भगवान का दरबार देखकर लौटरहा हो । औरत ने अपने दोनों हाथ कौस के एक झाड़ में खोंस दिये और श्रद्धापूर्वक बोली, "जय बजरंग बली की ।"170 इस प्रकार की धार्मिक रीतियाँ आज भी लगभग पूरी समाज में बुरी तरह व्याप्त हैं । धर्म वैसे स्वयं में सुख का स्त्रोत है लेकिन उसके अनावश्यक उपादान आधुनिक जीवन में अर्थ नहीं रखते ।

हिन्दू समाज में सजातीय विवाह की रीति ही प्रमुख रही है । आज भी ऐसे ही विवाहों को सामाजिक मान्यता मिलती है । जीवन की आवश्यकताओं के विकास में इस रीति में परिवर्तन होने लगा है । इस परंपरागत रीति में परिवर्तन ही समकालीन जीवन का सुख माना जाने लगा है । "राग दरबारी" में इस सामाजिक कर्म में शिवपाल गंज के मुखिया होने के कारण वैद्य जी पहल करते हैं । वे कहते हैं, "जाति-पाँति के कारण ही हमारे देश की यह दुर्दशा हुई है । इसीलिये मैं अपने पुत्रों का अन्तर्जातीय विवाह करना चाहता हूँ । किसी न किसी को इस दिशा में आगे तो आना ही पड़ेगा ।"171 विवाह की खुशी चाहे वह सजातीय हो या विजातीय, उसका अपना विशेष सुख होता है । रीति-रिवाज का सुख यहाँ विवाह का सुख ही है । "भले ही अन्तर्जातीय सही पर आखिर बेटे का ब्याह था । भले ही गुरू को ब्याह संबंधी अनेक आपत्तियाँ हों, पर वे मन की खुशी को नहीं दबा सकते । भाँग का लोटा लेकर वे स्वभावानुसार भगवान को भोग लगाने गये । एकाएक यह भाव आया कि रघुकुल मणि रामजी तो आज से हमारे समधी हो गये हैं, अब हमारा भोग आदि कैसे स्वीकार करेंगे ? फिर आप ही मगन मन भगवान:लेव, आज पावो प्रेम से । आज भाँग छान के दानों समधी भगत और भगवान तरंग में अपने बाल-बच्चों को आशीर्वाद देंगे ।"172 यह उत्साह व खुशी विवाह के रिवाज़ को आयोजित करने का सुख है ।

रूढ़ रीति-रिवाज़ों का व्यक्ति के जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ता है । यह प्रभाव उन पर अधिक होता है जिनके मन में धर्म और समाज का भय अधिक होता है । इनका सुख इसी बात में निहित होता है कि रूढ़ परंपराएं

निर्बाध गति से चलती रहें। ऐसे व्यक्ति विजातीय विवाह को मान्यता नहीं देते। "अमृत और विष" की नई अम्मा ऐसा ही चरित्र है जो अपनी रीतियों में बदलाव नहीं चाहती "तुम्हारी नई अम्मा ने तो जैसे जनम भर ही के लिये बैर साध लिया है। उसे समझाओं न। तुम्हारे ब्याह की खातिर ही उससे हमारी कहा-सुनी हुई थी। अब तो ब्याह भी हो गया और देखो, हम राजी भी हो गये। अपने बाल-बच्चों से भला किसी का बैर हो सकता है? मगर तुम्हारी नई अम्मा हमसे आज भी न बोली उसके इस्कूल जाने को भी हम अब मना नहीं करेंगे, हमने कल रात ही में खुशी-खुशी उससे यह कह दिया था तो भी उसने बात न की। कतरा के चली गई।"[173] रूढ़ियों में जकड़ा आदमी वस्तुतः उन्ही में प्रसन्न रहता है, हालांकि उनका समकालीन जीवन में कोई मूल्य रहे भी या नहीं।

स्वातंत्र्योत्तर भारत की नई पीढ़ी में क्रांतिकारी बदलाव प्राप्त होते हैं। सातवें दशक के उपन्यासों में यह बदलाव रीति-रिवाज के परिप्रेक्ष्य में विजातीय विवाह के रूप में मिलता है। जीवन में व्यावहारिक उद्देश्यों की सफलता के लिये रीतियों में अनुकूल परिवर्तन आवश्यक होता है। "अमृत और विष" के पात्र डॉक्टर साहब इन विचारों को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि, "इस देश में शादियाँ इस तरीके से होनी चाहिए कि उन्हें देखकर कोई यह न कह सके कि यह हिन्दू की शादी है या मुसलमान की या क्रिश्चियन की हो रही है। समाज के सामने नव-दम्पत्ति एक दूसरे को स्वीकार करें तभी साम्प्रदायिक भेद-भावनाएं मिटेंगी।"[174] आज के जीवन में धर्म व रीतियाँ मानव जवन की सापेक्षता में ही अपना अर्थ देती हैं। उन्हीं रीतियों व रिवाजों में व्यक्ति सुख पाता है जो उसके समकालीन जीवन की आवश्यकता हो।

रीति-रिवाजों का सुख व्यक्ति अकेले प्राप्त नहीं कर पाता, क्योंकि इनकी पूर्तिसमाज में समाज के सहयोग से ही पूरी की जा सकती है। आयोजन में समाज के अन्य सदस्य संबंधी इकट्ठे होकर एक दूसरे का सहयोग करते हैं जिससे उत्साह व खुशी का वातावरण बनता है। विकास व आधुनिकता से आबद्ध समाज में रीतियों का अपना रूढ़ स्वरूप अधिक समय तक नहीं बना रहता अपितु

उसमें समयानुसार बदलाव किया जाता रहता है । आधुनिक समाज को अपनी व्यस्तताओं के कारण भी रीति-रिवाज़ों में आवश्यक बदलाव होता रहता है जिससे वे सुख का एक प्रमुख स्त्रोत बने रहें ।

धर्म :

धारण किया जानेवाला कर्म ही धर्म है । धर्म जो मुख्यत: सम्प्रदाय से जुड़ता है विवेच्यकाल के उपन्यासों में प्राप्त होता है, धर्म से आस्थावादी विश्वा का सुख मिलता है । प्रगति और विकास के बावजूद भारतीय समाज की साँप्रतिक पीढ़ी अभी भी रूढ़िवादी, परम्परावादी धर्म के प्रति आस्था ही नहीं अन्ध-विश्वास बनाये हुए मिलती है । भारतीय समाज में आधुनिकीकरण और पश्चिमीकरण के परिप्रेक्ष्य में जिस नयी पीढ़ी का आविर्भाव हो रहा है, उसमें धर्म को लेकर बदलाव दिखाई देता है ।

जीवन में निरंतर आगे बढ़ते रहने का प्रयास व्यक्ति का स्वाभाविक गुण है । इसी हेतु संघर्षरत व्यक्ति को असफलताएं उसे भाग्यवादी बना देती हैं । वह अपने से अधिक अलौकिक शक्ति में विश्वास करने लगता है । "अजय की डायरी में अजय मार्क्सवादी विचारों की सहमति में कहता है कि "मुझे इससे इंकार नहीं है कि मनुष्य अस्तित्व रक्षा के लिये एक दूसरे से लड़ते-झगड़ते हैं । मनुष्य पशु भी है लेकिन वह सिर्फ पशु नहीं है । उसका संघर्ष भी सिर्फ अस्तित्व रक्षा के लिये और सिर्फ एक ही तरह का नहीं होता । मनुष्य तरह-तरह के संघर्ष करता है, वह कभी-कभी दूसरों के बदले खुद अपनी घटिया प्रवृत्तियों के विरूद्ध भी संघर्ष करता है । उसमें सिर्फ जीवित रहने की ही नहीं जिन्दगी को सुंदर और ऊंची यानी अर्थ पूर्ण बनाने की प्रवृत्ति और कामना भी होती है । शायद यही कहीं उस चीज़ का आरंभ होता है जिसे हम रिलिज़न यानि आध्यात्मिक मनोवृत्ति कहते हैं ।"[175] मनुष्य अपनी शक्ति के संघर्ष से हार कर पराशक्ति या धर्म की शरण में जाकर शान्ति पाना चाहता है लेकिन धर्म का स्वरूप केवल बाहरी क्रियाओं

में ही नहीं होता, व्यक्ति के मन में छिपी एक ममता की भावना भी होती है । मंदिर, मूर्ति या अन्य कल्पनातीत अवतार मनुष्य में छिपे देवत्व को जागृत करने के माध्यम व साधन मात्र होते हैं । "भागे हुए लोग" का एक जोगी कहता है, "धर्म और ईश्वर कहीं होते हैं तो सिर्फ, उस मनुष्य के अंदर, जिसमें ममता होती है -- मंदिरों में भी ईश्वर ऐसे ही लोगों के साथ आता है और उन्हीं के साथ लौट जाता है ।"[176] मानवता, उच्चतम भावना व मन की शुद्धता ही मानव का धर्म होता है ।

मनुष्य एक सुखी तथा सुरक्षित जीवन बिताना चाहता है । सुरक्षा के लिये धर्म एक अदृश्य आकर्षण है जिसकी ओर मनुष्य खिंचता है । "लोग पूजा-उपासना करते हैं, जिंदगी को घेरनेवाले तरह-तरह के संकटों, आशंकाओं और भय से छुटकारा या त्राण पाने के लिये यानि सुरक्षित महसूस करने के लिये । अस्तित्व और अस्तित्व की सुरक्षा अस्तित्व के लिये संघर्ष लेकिन यह अस्तित्व किसलिये ? यदि जिन्दगी का कोई ऊंचा ध्येय और अर्थ नहीं है तो उसके लिये, पूजा और प्रार्थना द्वारा, देवी-देवताओं को और उससे भी आगे बढ़कर भगवान को पुकारना और कष्ट देना कहाँ तक उचित हो सकता है ?"[177] अस्तित्ववादी विचारक पहले अपने अस्तित्व एवं कर्म को प्रमुखता देते हैं । बिना स्वयं के कर्म के ईश्वर पर भरोसा करना व्यर्थ होता है। ऐसे विचारों के अंतर्गत स्वयं को निष्क्रीय बनाकर ईश्वर पर विश्वास करना या भाग्यवादी बना देना दुःख को उपजाता है ।

धर्म का पारंपरिक व रूढ़िगत स्वरूप आज भी भारत में विशेषकर गाँवों में अधिक मिलता है । गंवाई व्यक्ति अपने दुःख या कष्टों के निवारण के लिये धर्म के माध्यम से भगवान की उपासना करते हैं । "राग दरबारी" का पात्र इस अंधविश्वास को इस प्रकार प्रस्तुत करता है -- "हजारों स्त्रोतों की जड़ी-बूटियों को कूट पीस कर उसकी प्रार्थना का जो कपड़छान चूरन निकला, वह इस प्रकार था, "हे शंकर, शत्रुओं को मारो । तुम रूद्र हो, मन्युमय हो, अखिल में संहारक भाव से सन्निविष्ट हो, गाँव में रामाधीन भीखम खेड़वी की कालेज की मैनेजरी का चुनाव हार चुका है । उसने डिप्टी डायरेक्टर ऑफ एजुकेशन के यहाँ प्रार्थना पत्र भेजा है कि चुनाव तमंचे के ज़ोर पर हुआ है । पुलिस कप्तान के यहाँ भी

उसने शिकायत की है । तुम भंग और धतूरा खाते हो । हे शंकर ! इन हाकिमों की भ्रष्ट बुद्धि में तुम अपना भंग और धतूरा डालकर कुछ और भ्रष्ट कर दो । उन्हें हमारे पक्ष में लिखने को प्रेरित करो । हे भूतनाथ ! रामनाथ भी उमखेड़वी को मारो ।"[178] ऐसी प्रार्थनाओं का अपना जो भी परिणाम होता होगा, उसका कोई प्रामाणिक यथार्थ नहीं होता है लेकिन इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि ऐसी प्रार्थनाएं ईश्वरभक्त में अवश्य एक सुखद अनुभूति का संचार करती हैं । धार्मिक व्यक्ति यही समझता है कि जो भी होता है वह परमेश्वर ही करता है ।

धर्म का भय आदिकाल से ही अनपढ़ आदमी के मन में गहराई से बैठाया जा चुका है । इसी अंधविश्वास का सहारा लेकर छद्‌म साधु-संन्यासी लोगों को छला भी करते हैं । धर्म के सही स्वरूप को समझे बिना व्यक्ति अंधश्रद्धा में सदैव अपने को हीन-दीन रूप में ही रखता है । "भागे हुए लोग" का एक शिष्य इस बात की पुष्टि करता है । "कैसे इस साधु-समाज में जीने की शर्त यही है कि आदमी असाधु बने । अरे, पहले-पहले जब मैं मठों-मंदिरों में रहने लगा तो एक मंदिर को मुझे तभी सौंपा गया, जब मैंने वहां से अपने गुरू महन्त को लौंडियाँ और चरस भेजने में सिद्धि प्राप्त कर ली ।"[179] अधिकांशत: छद्‌म साधु जो कार्य समाज में खुलकर नहीं कर पाते, ऐसे साधु का वेष धारण करके धर्म की आड़ में अनैतिक कार्य करते हैं । समाज से भागे हुए ये लोग मुख्यत: इन्द्रिय सुख ही लूटते हैं ।

सामाजिक प्राणी के लिये गृहस्थ एक संघर्षी जीवन होता है । गृहस्थी में जब व्यक्ति की सार्थकता निरर्थक लगती है तो वह ऊबकर व हारकर सन्यास की ओर जाता है लेकिन जो व्यक्ति अपनी सूझ-बूझ से अपना गृहस्थ जीवन सुखी बनाये रखता है, उसके विचार में "गृहस्थ से बड़ा कोई धर्म नहीं, और न उससे कठोर कोई साधना है, वैराग्य तो उसकी तुलना में फूलों की सेज है ।"[180] जब तक संबंधों में सहजता बनी होती है और व्यक्ति अपने संघर्ष से टूटता नहीं है तब तक गृहस्थ जीवन अच्छा लगता है । यदि इसके विपरीत स्थिति हुई तो व्यक्ति पलायनवादी बन जाता है । वह समाज में रह कर भी समाज से पृथक निर्वाह करता है ।

विज्ञान द्वारा नित नये यथार्थ की खोजों के परिणाम में अलौकिक धारणा का एवं अंधविश्वासों का पर्दाफाश होते जाने के कारण मनुष्य की आस्था धर्म के किसी भी तत्व पर कमतर होने लगी है । धर्म के प्रति बढ़ती अनास्था का अन्य कारण यह भी है कि धर्म-गुरु अब भी धर्म को उसी रूढ़ लीक पर लेकर चल रहे हैं जहाँ उसका समकालीन जीवन के साथ कोई संबंध ही नहीं होता । " ...... हालत यह है कि अगर जवान भाई-बहन भी निकलते हैं तो उन्हें पहले शक की निगाह से ही देखते हैं और ऐसा करनेवाले लोग अपने आप को श्रेष्ठ, कुलीन और परम पवित्र हिन्दू-मुसलमान धर्मों का मूर्तिमान प्रतीक मानते हैं । अपने हिन्दू-मुसलमानों की इन करनियों से ही यदि हम अपने सामाजिक आदर्शों को नापें तो यह लगता है ये दोनों धर्म निहायत ही गंदी मनोवृत्तियों से अपने अनुयायियों की आत्माओं का हनन करने में ही अधिक महत्व देते हैं ।"[181] धर्म का यह रूप व्यक्ति को सुख प्रदान करने की अपेक्षा उनके विकास में बाधा उत्पन्न करता है । धर्म की इस रूढ़ चाल द्वारा ही उसका अस्तित्व संकट में चला जा रहा है ।

धर्म का विध्वंसक स्वरूप व सुख वहाँ अधिक पाया जाता है जहाँ धर्म साम्प्रदायिकता में रूपांतरित हो जाता है । भारत-विभाजन के समय फैली साम्प्रदायिकता धर्म के आड़ में अमानवीयता को प्रस्तुत करती है । इस समय अनेकों का धर्म भ्रष्ट किया गया था, चाहे वह किसी का भी अनुयायी रहा हो "धर्म के नाम पर" उपन्यास में इस तथ्य का सफल चित्रण मिलता है । हिन्दू धर्म की एक स्त्री अन्य धर्म के लोगों में फंस जाने के कारण उसका तिरस्कार इसलिए किया जाता है कि उसका धर्म भ्रष्ट हो गया है । "जह है उन्हीं की कुलवधू" उनके छोटे बेटे की पत्नी पोस्ता, जिसे गुंडे उठा ले गये थे । वे हिन्दू हैं । उनकी नाक कट गई । दो रात तक उनकी बहू बाहर गुंडों के कब्जे में रही । वह हिन्दू नहीं रही वह भ्रष्ट हो चुकी है -- क्या अब पुनः उसे आश्रय दिया जा सकता है ? क्या इससे उनके धर्म की हानि नहीं होगी ? जिस धर्म के लिये उन्होंने इतना सब कुछ सहा, क्या वह सब प्रवंचना ही है ?"[182] इतना ही नहीं धर्म की आड़ में लूटा गया पाशविक सुख का भी इस उपन्यास में चित्रण मिलता है, जहाँ एक दोस्त दूसरे दोस्त की हत्या सिर्फ इसीलिये करता है कि

वह दूसरे धर्म का था । हत्यारे दोस्त के लिये उसका धर्म ही उसके जीवन का सुख होता है । "बशीर पहले छुरा चलाता है फिर कहता है, "मैं तुम्हारा अजीज़ दोस्त हूं पुरुषोत्तम, यह गवारा मैं कैसे कर सकता था कि मेरे काफिर दोस्त को हलाक करने का सवाब कोई दूसरा ले जाए । तुम्हें भी फक्र होना चाहिए कि एक दोस्त के काम आये हो - रहा तुम्हारा खून, सो दोस्त, मैं मुसलमान पहले हूं, दोस्त बाद में ।"[183] धर्म जब राजनीति में आने लगता है और कट्टरता का रूप लेने लगता है तो धर्म का सुख गौण हो जाता है और राजनीति व दंगे-फसाद का माध्यम प्रमुख ।

मानव के विकास की कहानी का अवलोकन किया जाए तो उसमें अब भी पशुत्व विद्यमान है । इसी पशुत्व को नियंत्रित कर मानव से देवत्व की ओर जाने का मार्ग बताने के लिये धर्म का निर्माण हुआ था । अधिकतर लोग पाप करके उसका प्रायश्चित करते हैं जिसका माध्यम सामान्यतः धर्म ही होता है, जहां उन्हें अपराध बोध के बाद एक आत्मिक सुख का अनुभव होता है । यह आनंद और शान्ति ही धर्म का सुख होता है ।

स्वप्न व दिवास्वप्न :

अतृप्त इच्छाएं व आकांक्षाएं स्वप्न या दिवास्वप्न का रूप लेती हैं । अधिकांशतः स्वप्न वास्तविकता से परे होते हैं और आशा व उम्मीद की निराधार भूमि पर विचरते हैं । चूंकि स्वप्न का कोई वास्तविक जीवनपरक आधार तथा यथार्थ नहीं होता बल्कि उनका निर्माण यथार्थ के अल्पांश पर होता है इसलिए चेतनावस्था में स्वप्न के बुनने की प्रक्रिया में व्यक्ति अक्सर टूटता ही है । स्वप्न बुनने की प्रक्रिया मूलतः भविष्योन्मुखी ही होती है । स्वप्न बुनते समय व्यक्ति की आकांक्षाएं आरोही होती हैं तथा उनमें वह स्वयं अकेला नहीं होता बल्कि अन्य का अप्रत्यक्ष सहयोग भी महसूसता है । स्वप्न बुनना एक प्रकार की स्फूर्तिदायक चेतना ही है जो जीवन को जीवन एक अप्रत्यक्ष गति ही देती है ।

"कई आधुनिक शोधों से यह सिद्धान्त प्रतिपादित हुआ है कि हम केवल स्वप्न देखने के लिए ही सोते हैं यानि हमारी आरामदेह नींद बिना स्वप्न के अधूरी रहती है । फिर भी व्यक्ति {नींद से} जागने के बाद अक्सर स्वप्नों को भूल जाता है ।"[184] स्वप्न देखने की प्रक्रिया में व्यक्ति अनुभाविक स्तर पर चेतनाशील नहीं होता । इसीलिये उसका उक्त घटना या स्वप्न के साथ सीधा शारीरिक जुड़ाव नहीं होता ।

वस्तुत: स्वप्न कुछ नहीं बल्कि जीवन के आत्मिक स्वरूप का स्नायु स्तर पर फिल्मीकरण है । मानस की प्रक्रिया में जो भी क्षणया भावना क्रियात्मक रूप से जीवित रहती है, वही अपने परिष्कृत फल या प्रक्रिया के रूप में स्वप्न में उपस्थित होती है । इस प्रकार जो भी सोचा जा रहा होता है उसी को क्रियात्मक/फिल्मात्मक पुनरावृत्ति स्वप्न करते हैं । दूसरी ओर व्यक्ति में जब रचनात्मकता का नाश होने लगता है या उसकी कर्मशील प्रवृत्ति में क्षीणता आने लगती है तब वह यथार्थ केधरातल से उठकर स्वप्नलोक में विचारने लगता है । दिवास्वप्न की स्थिति गल्प गढ़ने के समान होती है । "जब व्यक्ति सृजनात्मक कार्य में लगा होता है तब दिवास्वप्न, फंतासी आदि नहीं आते । इनका होना तभी संभव होता है जब व्यक्ति का मस्तिष्क "आदर्श" अवस्था में होता है अर्थात् मस्तिष्क की तरंगें निद्रावस्था की अपेक्षा कुछ अधिक तीव्र गति की होती हैं । दूसरे शब्दों में दिवास्वप्न तथा रात्रि स्वप्न एक ही प्रकार की मानसिकता के उत्पादन हो सकते हैं ।"[185] यानि इन्द्रियगत चेतना का ही फर्क होता है । जागरण अवस्था की चेतनता में व्यक्ति यदि अपने कार्य के प्रति निष्क्रिय या निरुत्साही होता है तो वह दिवास्वप्न की स्थिति में चला जाता है । व्यक्ति दिवास्वप्न को यथार्थ में रूपान्तरित करने का प्रयत्न करता है ।

"मछली मरी हुई" के निर्मल को एक सपना तीर की भाँति चुभा हुआ है । निर्मल का सपना था कल्याणी । दिवास्वप्न की भाँति बार-बार शीरीं की बातों के साथ-साथ कल्याणी की कही बातें याद आने लगती हैं । शीरीं जब निर्मल की कमज़ोरी को चुनौती देती है तो उसे कल्याणी के वाक्यों का स्मरण होता है -- "तुम संग्रीला होटल के मेरे कमरे से भाग खड़े हुए, निर्मल ।

दोबारा आये नहीं । तुम डरपोक थे । तुम कमज़ोर थे, बिना साहस किये किसी को प्यार नहीं मिलता ।"[186] अतीत का यह अंश निर्मल के आगे दिवा स्वप्न बनता है जो उसे दु:खी करता है ।

स्वप्न के विषय में "भागे हुए लोग" के नरोत्तम के विचार हैं -- "पुरुष चाहे किसी भी औरत से विवाह करे या सिर्फ प्रेम करे -- जीता वह प्रत्येक स्थिति में सिर्फ उसी औरत के साथ है जो हमेशा उसकी कल्पना में रहती है और जिसे वह अपनी पत्नी या प्रेमिका में प्रक्षिप्त करता रहता है । औरत का एक ऐसा काल्पनिक ढांचा, शायद, हर पुरुष के पास होता है, जो किसी भी औरत को पुरुष की चिरपरिचित सी बना देता है, जिसके बारे में वह सोचने लगे । जिसको वह अपनी कल्पना में जीने लगे ।"[187] पुरुष के जीवन का यह एक सुखद स्वप्न होता है जिसमें वह अपने लिये अधिकाधिक प्रेम पाने की कल्पना में एक ऐच्छिक स्त्री को देखता रहता है । "एक करोड़ की बोतल"का रंजीत यह मानता है कि, "मुहब्बत एक सुंदर बेवकूफी का दूसरा नाम है । मेरा बाप मुझसे कहा करता है । मगर इस बेवकूफी में कैसा अजीब आनंद है । पाँव धरती से उठ जाते हैं, इंदु के साथ उड़ता हुआ प्रतीत होता है मुझे । वरन् पाँव हर समय ज़मीन में धंसते मालूम होते हैं और जिन्दगी में चलना मुश्किल लगता है । इन्दु कहीं ऊपर मुझे हवाओं में ले जाती है । लगता है जैसा मेरा कोई वज़न ही नहीं है । लगता है जैसे मैं चाँद को छू सकता हूं ।"[188] रंजीत के इस दिवा स्वप्न में एक अद्भुत साहस और रोमानीपन है । वह भी अपनी कल्पना में इन्दु का सान्निध्य ढूंढता है । अपने इस रोमानीपन में वह कुछ क्षणों के लिये जीवन के कटु यथार्थ से कट जाता है और स्वयं को सुखी महसूसता है ।

दिवास्वप्न की इससे भिन्न स्थिति अप्राप्त प्रेम में मिलती है, जिसमें पुरुष नारी को तोड़ना, उसे प्रताड़ित करना चाहता है । इसके लिये उसके मन में योजनाएं बनती रहती है और वह उनके क्रियात्मक स्वरूप व परिणामों का दिवास्वप्न देखता रहता है । "दूसरी बार" का नायक अपनी पत्नी से बदला लेने का प्रयास करता है । वह उसे आँख उठाकर देखता है तो लगता है -- "वह मेरे सामने मेरी तकदीर की तरह खड़ी थी ।"[189] इन परिस्थितियों में

शराब उक्त भावना को और अधिक बढ़ावा देती है । "यही मौका है फिर अवसर नहीं आयेगा । नशे में मैं अपनी समरनीति तय करने लगा । इस वक्त मैं बिन्दो को अपमानित कर दूं; कुचल दूं तो वह पूरी तरह टूट जाएगी । उसके टूट जाने के ख्याल से मुझे खुशी हुई ।"[190]

प्रतीक्षारत व्यक्ति भी अधिकतर दिवास्वप्न देखता है । आगे घटनेवाली घटनाओं को वह अपने मानसपटल पर घटता हुआ देखता है । "उसका शहर" उपन्यास का आमुल "अपनी कमज़ोरियों से बहुत अच्छी तरह परिचित था, फिर भी प्रतीक्षा की अवधि में वह इस कदर भावुक बन जाता कि कभी-कभी दिवास्वप्न भी देखने लगता ।"[191] नीरा के आत्मीय पत्रों का उत्तर वह शीघ्र ही दे देता था और दूसरे ही दिन से उनके उत्तर की प्रतीक्षा करने लगता, यह जानते हुए भी कि डाक से पत्र मिलने में तीन दिन लगते हैं । दिवास्वप्न की स्थिति में विचरण के लिये भावनाओं का महत्वपूर्ण योगदान होता है । भावनाओं का काल्पनिक क्रियान्वयन ही सुख है ।

यदि व्यक्ति के चारों ओर का वातावरण विरोधों व कष्टों का हो तो व्यक्ति उस परिवेश से कटकर दिवास्वप्न के माध्यम से एक अन्य अनुकूल परिवेश में विचरने लगता है । "अँधेरे बंद कमरे" का हरबंस अपनी पत्नी नीलिमा को पत्र में लिखता है, "मैं मन में जो थोड़ी-बहुत आशा पालता हूं, वह गुज़रे हुए दिनों को याद करते ही टूटने लगती है । वर्तमान का मेरी आत्मा के साथ संबंध इतना बिगड़ा हुआ है कि मैं भविष्य की बात सोच ही नहीं पाता । सबसे बुरी बात तो यह है कि मेरे मन पर एक ऐसी सुस्ती आजकल छायी रहती है जैसे दिल्ली में भी कभी नहीं थी ।"[192] जहाँ भविष्य में संबंध के विकास की गुंजाइश न हो और वर्तमान के संबंध में कटुता आ जाए तो व्यक्ति अतीत की स्मृतियों का एक स्वप्न देखता है । साथ ही वह अंधविश्वास में भी फंसता है। अपनी दु:खद स्थितियों में हरबंस यह भी सोचता है कि उसका जन्म ही ठीक नक्षत्र में नहीं हुआ है, या फिर उसे किसी मनोविश्लेषक से परामर्श लेना चाहिए।

दिवास्वप्न का सुख क्षणिक होता है । इसमें व्यक्ति अपनी कल्पनाओं को मूर्त रूप में होता देखता है । लेकिन यही सुख वास्तविकता में पहुंचने पर

दु:ख का कारण बनता है । इससे बचने के लिये व्यक्ति पुन: कल्पनाओं व दिवास्वप्नों में खोने लगता है । आलोच्य उपन्यासों में स्वप्न की स्थितियाँ लगभग नहीं ही हैं । जो भी स्थितियाँ प्राप्त होती हैं उन्हें एक दिवास्वप्न की स्थिति ही कहा जाएगा । वहाँ व्यक्ति अपने यथार्थ से कट कर भविष्य की ओर जाता है या फिर अतीत की ओर लौटता है । वह एक कल्पनाजीवी पात्र ही अधिक प्रतीत होता है ।

निष्कर्ष :

इस अध्याय में सुख के जिन प्रमुख निर्णायक तत्वों या कारकों के माध्यम से सातवें दशक के जिन उपन्यासों के चरित्र में सुख के जो भावनात्मक व अनुभूतिपरक रूप मिलते हैं, उनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि विवेच्यकाल की परिवेशिक विवशता यह थी कि व्यक्ति हर प्रकार के उच्चतम सुख अपने सापेक्ष माध्यमों द्वारा भी प्राप्त करने में असमर्थ रहा। व्यक्ति का व्यक्तिगत भटकाव तथा समाज से उसकी असंगतता बंजारे की नियति प्रदान करती है । व्यक्ति को जीवन में कभी पूर्णता का अहसास न होना तथा कम से कम अपेक्षित, अनुकूल जीवन की लालसा में उसका हर परिस्थिति में सुखी होने की कोशिश में लगे रहना ही नियति रही । विवेचित उपन्यासों में सुख का संभवत: प्राथमिक तत्व उत्साह कम ही दिखाई देता है । "एक इंच मुस्कान" के लेखक पात्र अमर को अमला द्वारा बार-बार उत्साहित करना सफल होता है । उसी प्रकार "राग दरबारी" का सनीचर वैद्यजी के प्रभाव में आकर स्वयं को उत्साही बनाता है और ग्राम-प्रधान बनता है । उत्साह ही के कारण वह एक साधारण व्यक्ति होने के बावजूद प्रधानता की सभी शक्तियाँ आ जाती हैं । व्यक्ति की मानसिक स्थिरता में विश्वास का महत्वपूर्ण योगदान है जिससे व्यक्ति के मन में एक आस्था का भाव जागृत होता है । "कड़ियाँ" का महेन्द्र अपनी पत्नी का विश्वास

पाता है । "मुक्तिबोध" का सहाय अपनी प्रेमिका नीलिमा से तथा "एक इंच मुस्कान" की रंजना अमर से विश्वास पाती है । विश्वास से व्यक्ति में एक मानसिक संतुष्टि आती है । इसके अभाव में व्यक्ति स्वयं को अकेला और अधूरा महसूसता है एवं स्वयं में ही भटक जाता है । बने-बनाये विश्वास के टूटने से व्यक्ति का मनोबल टूटता और वह पतन की ओर बढ़ने लगता है । "कड़ियाँ" की प्रमिला व "एक इंच मुस्कान" की रंजना का अपने पतियों के प्रति विश्वास उठ जाता है जिसके परिणाम में ये पात्र विश्वास की निर्भरता से टूटकर आत्म-विश्वासी बनकर जीते हैं । सातवें दशक के उपन्यासों में नारी के इसी आत्म-विश्वासी रूप की छवि अधिक मिलती है ।

विश्वास के अगले विकास में व्यक्ति में भावना का प्रस्फुटन होता है। "अँधेरे बंद कमरे" की नीलिमा में यही विश्वास संबंध को अंत तक बनाये रखता है । प्रेम का भावनात्मक सुख विश्वास पर ही टिका होता है । मनोनुकूल साथी के साथ समय बिताने की भावना "कड़ियाँ" की सुषमा में मिलती है । ऐसी ही भावना को खोजने में उपन्यासों के अनेक पात्र दु:ख ही झेलते दिखाई देते हैं । शीरीं मातृत्व की भावना से वंचित है तो "अठारह सूरज के पौधे" में पिता द्वारा पुत्री से नौकरी करवाना उसकी स्नेह-भावना को चोट ही पहुंचाता है । भावनात्मक संबंधों में व्यक्ति स्नेह देकर भी परिस्थितिवश स्वयं सुखी नहीं हो पाता, साथ ही दूसरी ओर स्नेह न पाकर एक परायेपन के बोध से भी पीड़ित होता है । वस्तुत: भावनात्मक तुष्टि का अभाव ही दु:ख है ।

व्यक्ति का भावनात्मक या रागात्मक संबंध ही होता है जिसके द्वारा वह सौन्दर्य को कभी अपने भीतर, कभी प्रकृति में तथा कभी अन्य माध्यमों में खोजता है । "डाक-बंगला" के सोलंकी, इरा व तिलक को कोल्हाई ग्लेशियर का प्राकृतिक सौंदर्य मुग्ध कर देता है तो "एक इंच मुस्कान" के अमर को रंजना सौन्दर्य के मानसिक सुख का माध्यम लगती है । सौन्दर्य की आभा व्यक्ति को बाँधती है चाहे व प्रकृति हो, वस्तु हो या फिर व्यक्ति ही । इनसे उसे ताजगी का अहसास होता है जो कि सुख की स्थिति है । व्यक्ति अपनी प्रकृति के अनुकूल वातावरण में ही सुखद अनुभूति प्राप्त कर सकता है । अनुकूलता में ही व्यक्ति का सहज और स्वाभाविक स्वरूप उभरता है । यही

अनुकूलता प्राप्त करने के लिये व्यक्ति को अनेक विरोधाभासों से गुज़रना पड़ता है, जिससे सहजता, स्वाभाविकता के स्थान पर चतुराई व अवसरवादी ढंग का सहारा लेना पड़ता है । ऐसी स्थिति में व्यक्ति को अपनी वास्तविकता का लोप हो जाता है । यही प्रतिकूलता के प्रति समझौता है जिसमें सुख का अंश कम व दुःख का अधिक होता है ।

मानसिक अनुकूलता, प्रेम, विश्वास व सौहार्द्य के आधार पर अपने लक्ष्यों का निर्धारण करता है । सातवें दशक के उपन्यासों पात्र लगभग दिशाहीन, अस्थिर और द्वन्द्व की स्थिति में परेशान दिखाई देते हैं । इससे व्यक्ति अकेला व निहत्था बन जाता है । अकेले व्यक्ति को सुख के स्त्रोत स्वयं ही तैयार करने पड़ते हैं । अकेलेपन की त्रासदी को काटने के लिये "उसका शहर" उपन्यास के प्रो० दशानन अनेक रूचियां रखते हैं । "मुक्तिबोध"की नीलिमा जीवन को विविध स्तरों पर जीती है । वह इसी विविधता में जीती हुई उपन्यास के नायक सहाय के लिये प्रेरणा बनती है । प्रेरणा सुख का वह स्त्रोत है जिससे व्यक्ति शक्ति पाता है एवं स्वयं को अपनी शक्ति का ज्ञान होता है । ऐसी प्रेरणा से सहाय जीवन में सफलता प्राप्त करता है । व्यक्ति अपने जीवन के अनुभवों व अपने सोच को अभिव्यक्त करने की सदैव आकांक्षा रखता है । इसके लिये वह सृजन द्वारा स्वयं को संप्रेषित करता है। "अजय की डायरी" के अजय के अनुसार सृजनशीलता और कला के माध्यम से व्यक्ति सुखी हो सकता है । विचार या भावनाएं जब ठीक प्रकार से संप्रेषित नहीं हो पाते तब वे भीतर ही भीतर घुमड़कर कलाकार या व्यक्ति को कुंठित कर देते हैं । अपनी बौद्धिकता का सटीक सम्प्रेषण न हो पा सकने के कारण "विपात्र" का जगत् कुंठित हो जाता है । इसीलिये "अंधेरे बंद कमरे" का शिवमोहन कला को आत्मा की पुकार कहता है । अभिव्यक्ति का सुख ही कलात्मक सृजन है । सौन्दर्य और प्रेरणा ही कलात्मक सृजन के सहायक तत्व होते हैं ।

प्रेम वहीं संभव है जहां सौन्दर्य होता है, यानि कि व्यक्ति उसी से प्रेम करता है जो उसे सुंदर दिखाई देती है । प्रेम व्यक्ति का एक प्राकृतिक स्वभाव है । प्रेम विश्वास, सौंदर्य और अनुभूति का सुख चाहता है । प्रेम

की अनुभूति भावनात्मक स्वीकार में संभव है । "मुक्तिबोध" उपन्यास की नीला और "रेखा" की रेखा में इसका रूप मिलता है । प्रेम में सौन्दर्य की अनुभूति "रेखा" के पात्र प्रभाशंकर में मिलती है जिससे उनके प्रेम की परिणति विवाह में होती है । आलोच्य दशक के उपन्यासों के विश्लेषणानुसार प्रेम व सुख है जो दो व्यक्तियों को जोड़ता है । यदि इसमें अविश्वास आ जाए तो संबंध टूटते भी हैं । "डाक बंगला" की इरा व "चौदह फेरे" की नंदी इसी के शिकार हैं । आधुनिकता के प्रभाव में उपन्यास के पात्रों में तेज़ी से बदलाव देखा जा सकता है । बदलते परिवेश, आधुनिकता, आवश्यकता आदि के कारण ही पात्रों के वैवाहिक स्वरूप में भिन्नताएं मिलती हैं ।

सातवें दशक के उपन्यासों में विवाह की जो पद्धति मिलती है वह एक ओर तो ठेठ पारम्परिक है तथा दूसरी ओर इसी के विरोध में अन्तर्जातीय भी प्राप्त होती है । रूढ़ि-परम्परा की जड़ें गहराई तक भारतीय समाज में धंसी होने के कारण अधिकांश उपन्यासों में वर्णित प्रेम-विवाह सफल नहीं दिखाई देते । विवाह में परिणत हुए प्रेम-संबंधों का सुख क्षणिक ही दिखाई देता है । "डाक बंगला" की नायिका विवाह को आत्मिक मिलन न मानकर मात्र शारीरिक संबंधों का नैतिकीकरण मानती है । आधुनिकता के परिप्रेक्ष्य में वैवाहिक संस्कार में प्राप्त मुख्य बदलाव अपने जीवन साथीका स्वचयन है । "एक इंच मुस्कान" में अमर व रंजना, "एक करोड़ की बोतल" में करसटजी व इंदु, "रूकोगी नहीं ... राधिका" के अक्षय का विवाह परस्पर आकर्षण का परिणाम है । इन संबंधों में प्रेम व वासना का संयोग ही सुख का स्त्रोत बनता है । कहीं-कहीं ये पात्र अनुकूल सहयोग की आकांक्षा भी रखते हैं जो एक सहज पूर्णता की चाह होती है। परम्परागत विवाह में कन्या की रूचि व इच्छा को महत्व नहीं दिया जाता । ऐसी व्यवस्था से सुख नहीं मिलने के कारण पात्र इन रूढ़ियों को तोड़ते दिखाई देते हैं । विपरीत स्वभाव, प्रतिकूल परिस्थितियाँ, अशिक्षा, आर्थिक असमानता परम्परागत विवाह में सुख प्रदान नहीं करते, "कड़ियाँ", "चौदह फेरे" इसके उदाहरण हैं ।

मानवीय चेतना में बढ़ती घोर अराजकता तथा मूल्यहीनता का संबंधगत परिणाम काम के परिप्रेक्ष्य में गहराते दिखाई पड़ते हैं । आधुनिक जीवन में काम की परंपरागत धारणा में परिवर्तन आया है । आवश्यकतानुसार काम को महत्व देने के विचार "रेखा" को रेखा व योगेन्द्रनाथ में मिलते हैं । इसी दृष्टि में "मुक्तिबोध" को नीला सहाय का तनाव कम करती है । "डाक बंगला" की इरा की काम-भावना प्रेम पर आधारित है । काम में मानसिक लगाव की कमी के कारण "एक करोड़ की बोतल" की इंदु करसट जी को नकारती है । इस भावना का निकृष्ट रूप "भागे हुए लोग" के नरोत्तम में मिलता है जिसमें अपने मित्र की पत्नी की माँ की मृत्यु पर रोता देख कर काम-भावना जागृत होती है ।

सफलता की ओर बढ़ते हुए अनेक पात्र नशे का सेवन कर और अधिक सुख प्राप्त करने की कामना करते रहते हैं । व्यक्ति के मन के दमित अंश नशे की अवस्था में जागृत होते हैं । नशीली वस्तु का सेवन कर पात्र अपने दु:ख को दूर कर भारमुक्त होना चाहते हैं । शराब पीने के पीछे "दूसरी बार" की नायिका का उद्देश्य ताजगी प्राप्त करना है । जबकि सही ढंग से संप्रेषित होने के लिये "अँधेरे बंद कमरे का हरबंस, "वे दिन" का नायक अकेलापन दूर करने के लिए "मछली मरी हुई" की शीरीं जीवन की कटुता दूर करने के लिये शराब पीते हैं । मशीनकृत जीवन में डूबा तथा उससे उजड़ा व्यक्ति स्वभावतः अपने को भूलने, अपना तनाव व कुंठा कम करने के लिये नशे की शरण में जाता है ।

सुख का अन्य निर्णायक तत्व रीति-रिवाज है । भारत की समाज-व्यवस्था का ढाँचा कुछ इस प्रकार के जाल से निर्मित है कि उसमें ढीलापन आना अभी तो कठिन ही है । परम्पराएं सामाजिक कल्याण, संस्कृति और मनोरंजन हेतु होती हैं । "विपात्र" के बुद्धिजीवी पात्र जगत् के लिये रीतियाँ सुख का कारण नहीं बनतीं, वह विदेशी स्त्री से विवाह न कर पा सकने के कारण कल्पनाजीवी हो जाता है । जाति-पाँति की संकीर्णता के कारण अन्तर्जातीय विवाह के रिवाज़ को समाज का सहयोग नहीं मिलता । रीति-रिवाज़ और धर्म के नाम पर अंधविश्वास "राग दरबारी" में मिलता है जबकि

दूसरी ओर "अमृत और विष" के डॉक्टर व "राग दरबारी" ही के वैद्य जी अंधविश्वास व परम्परागत विवाह पद्धति को तोड़ने का प्रयत्न करते हैं । आधुनिक युग में शिक्षितों व बुद्धिजीवियों के लिये रीति-रिवाज़ का विशेष महत्व नहीं रह गया है ।

जीवन में लक्ष्य का यथार्थ रूप कर्म है तो कल्पना में वह दिवास्वप्न है "मछली मरी हुई" के निर्मल का दिवास्वप्न (कल्याणी) उपन्यास में बार-बार प्रस्तुत होता है । "एक करोड़ की बोतल" की इंदु और रंजीत के स्वप्न भावनाओं और भावी जीवन से जुड़े हैं । इसके विपरीत "दूसरी बार" का नायक लगातार बिंदो को प्रताड़ित करने का दिवास्वप्न देखता रहता है । दिवास्वप्न के माध्यम से ये पात्र एक काल्पनिक व भविष्यत परिणामों को अपने पक्ष में सोचते हुए एक अनजाने सुख का अनुभव करते हैं ।

भौतिक एवं सामाजिक जीवन से तथा अशान्ति से ऊब कर पात्र धर्म की शरण में जाते हैं तथा अपने लिये सुख तलाशते हैं । मनुष्य में पशुत्व एवं देवत्व-दोनों के गुण विद्यमान होते हैं । धर्म की राह पर गये व्यक्ति में देवत्व के गुण प्रस्फुटित होते हैं । "भागे हुए लोग" का जोगी इस अभिव्यक्ति को प्रकट करता है । अपनी असुरक्षा तथा अप्राकृतिक/प्राकृतिक भय के कारण धर्म के प्रति उत्पन्न आस्था "अजय की डायरी" में मिलती है । दूसरी ओर धर्म के नाम पर अंध-विश्वास का चित्रण "राग दरबारी" में बखूबी से किया गया है ।

संदर्भ

1. आचार्य शुक्ल प्रतिनिधि निबंध, सं0 सुधाकर पांडेय, पृ. 15
2. अपने से अलग, गंगा प्रसाद विमल, पृ. 82
3. एक इंच मुस्कान, पृ.
4. आचार्य शुक्ल प्रतिनिधि निबंध, पृ. 19
5. मुक्तिबोध, पृ. 54
6. दूसरी बार, पृ. 84
7. - वही - पृ. 96
8. अमृत और विष, पृ. 260
9. आचार्य शुक्ल प्रतिनिधि निबंध, पृ. 17
10. राग दरबारी, पृ. 320-21
11. - वही - पृ. 225
12. धर्म के नाम पर, कन्हैया लाल ओझा, पृ. 584
13. कड़ियाँ, भीष्म साहनी, पृ. 16
14. - वही - पृ. 205
15. एक इंच मुस्कान, पृ. 97
16. - वही - पृ. 76
17. मुक्तिबोध, पृ. 16
18. - वही - पृ. 63
19. - वही - पृ. 127
20. अँधेरे बंद कमरे, पृ. 356

21. दीर्घतपा, पृ. 107

22. दूसरी बार, पृ. 60

23. मछली मरी हुई, पृ. 124

24. कड़ियाँ, पृ. 12

25. अजय की डायरी, पृ. 211

26. उसका शहर, पृ. 93

27. अँधेरे बंद कमरे, पृ. 196

28. दूसरी बार, पृ. 75

29. मछली मरी हुई, पृ. 146-47

30. रूकोगी नहीं राधिका, पृ. 34

31. दूसरी बार, पृ. 68

32. अठारह सूरज के पौधे, पृ. 72

33. उसका शहर, पृ. 30

34. - वही - पृ. 30

35. - वही - पृ. 53

36. चौदह फेरे, पृ. 188

37. अठारह सूरज के पौधे, पृ. 71

38. मुक्तिबोध, पृ. 119

39. राग दरबारी, पृ. 340

40. मछली मरी हुई, पृ. 86

41. - वही - पृ. 42

42. रेखा, पृ. 98-99

43. रेखा, पृ. 98

44. डाक बंगला, पृ. 96

45. - वही - पृ. 97

46. - वही - पृ. 98

47. एक इंच मुस्कान, पृ. 156

48. एक साहित्यिक की डायरी, पृ. 73

49. रेखा, पृ. 22

50. रेखा, पृ. 23

51. डाक बंगला, पृ. 103

52. चौदह फेरे, पृ. 37

53. - वही - पृ. 44-45

54. अँधेरे बंद कमरे, पृ. 72

55. रेखा, पृ. 93

56. उसका शहर, पृ. 63

57. राग दरबारी, पृ. 144

58. अँधेरे बंद कमरे, पृ. 392

59. उसका शहर, पृ. 53

60. भागे हुए लोग, पृ. 244-45

61. मछली मरी हुई, पृ. 77

62. मुक्तिबोध, पृ. 106

63. एक इंच मुस्कान, पृ. 25

64. वे दिन, पृ. 198

65• देहगाथा , 77

66• अँधेरे बंद कमरे, पृ• 59

67• मुक्तिबोध, पृ• 128

68• रेखा, पृ•55

69• दूसरी बार, पृ• 92

70• भागे हुए लोग, पृ• 245

71• - वही -, पृ• 245

72• अँधेरे बंद कमरे, पृ• 74

73• - वही - पृ• 122

74• मुक्तिबोध, पृ• 17

75• उसका शहर, पृ• 43

76• - वही - पृ• 44

77• हिन्दी उपन्यास : सामाजिक चेतना, डॉ०कुंवरपाल सिंह, पृ•

78• राग दरबारी, पृ• 292

79• मुक्तिबोध, पृ• 109

80• मछली मरी हुई, पृ• 46

81• धर्म के नाम पर, पृ• 239

82• मुक्तिबोध, पृ• 52

83• - वही - पृ• 82

84• - वही - पृ• 84

85• - वही - पृ• 128

86• तोलस्तोय, लेखन कला और रचना कौशल, पृ• 214

87. अजय की डायरी, पृ. 107

88. - वही - पृ. 106

89. संघर्ष का सत्य, पृ. 98

90. अँधेरे बंद कमरे, पृ. 55-56

91. विपात्र, पृ. 122

92. - वही - पृ. 125

93. अँधेरे बंद कमरे, पृ. 55

94. मुक्तिबोध, पृ. 76

95. एक इंच मुस्कान, पृ. 55

96. - वही - पृ. 142

97. अ. तोलस्तोय, लेखन कला और रचना कौशल, पृ. 211

98. डाक बंगला, पृ. 28

99. एक इंच मुस्कान, पृ. 90

100. अँधेरे बंद कमरे, पृ. 390

101. मुक्तिबोध, पृ. 128

102. चंद्रकांत बांदिवडेकर, उपन्यास : स्थिति और गति, पृ. 217

103. रेखा, पृ. 52

104. - वही - पृ. 149

105. - वही - पृ. 19

106. मुक्तिबोध, पृ. 14

107. रेखा, पृ. 29

108. - वही - पृ. 50

109. भटियाली, पृ. 101

110. रूकोगी नहीं राधिका, पृ. 115

111. एक करोड़ की बोतल, पृ. 143

112. धर्म के नाम पर, पृ. 581

113. डाक बंगला, पृ. 30

114. - वही - पृ. 68

115. अजय की डायरी पृ. 103

116. - वही - पृ. 102

117. अंधेरे बंद कमरे, पृ. 124

118. मुक्तिबोध, पृ. 20

119. अजय की डायरी, पृ. 105

120. अमृत और विष, पृ. 181

121. ' By definition marriage is a relationship within which sexual intercourse is legitimate'.

International Encyclopedia of Social Sciences, vol,10, p.2

122. डाक बंगला, पृ. 66-67

123. It is difficult for a young women to foresee how a particular man will fare in the occupational sweepstackes and in being a model for their sons. Predectionsa are similarly difficult for the young man with respect to how a woman will manage their house and mother their children.

International Encyclopedia of Social Sciences, vol. 10, p.5

124· एक इंच मुस्कान, पृ· 27

125· एक करोड़ की बोतल, पृ· 139

126· स्कोगी नहीं राधिका, पृ· 61

127· कड़ियाँ, पृ· 112

128· दिनकर, विवाह की मुसीबतें, पृ· 21

129· कड़ियाँ, पृ· 15

130· Marital "happiness" refers to the subjective response of the actor to marriage and thus is related psychic adjustment ; however, one can be physically adjusted when both output of energy and input of gratification are low, wheread presumably happiness requires at least a moderately high level of gratification.

International Encyclopedia of Social Sciences, vol. 10, p.8.

131· It is a truth universally acknowledge, that a single man in possetion of a good fortune, must be in want of a wife.

Great Treasury of Webstern Thoughts, p.188

132· एक इंच मुस्कान, पृ· 182-83

133· दिनकर, विवाह की मुसीबतें, पृ· 7

134· एक करोड़ की बोतल, पृ· 124-25

135· हेमेन्द्र कुमार पनेरी, "स्वातंत्र्योत्तर हिंदी उपन्यासों में व्यक्ति प्रतिष्ठा", आलोचना, पृ· 64

136· चौदह फेरे, पृ· 161

137· डॉ० राजेन्द्र प्रताप, हिंदी उपन्यास : तीन दशक, पृ· 89

138· दिनकर, विवाह की मुसीबतें, पृ· 6

139. कड़ियाँ, पृ. 18

140. चौदह फेरे, पृ. 7

141. भागे हुए लोग, पृ. 203

142. रेखा, पृ. 88

143. रेखा, पृ. 223

144. - वही -

145. मुक्तिबोध, पृ. 69

146. रेखा, पृ. 177

147. डाक बंगला, पृ. 66

148. एक करोड़ की बोतल, पृ. 137

149. भागे हुए लोग, पृ. 101

150. - वही - पृ. 185

151. दूसरी बार, पृ. 124

152. अजय की डायरी, पृ. 36

153. एक करोड़ की बोतल, पृ. 32-33

154. विपात्र, पृ. 121

155. रेखा, पृ. 194

156. - वही - पृ. 20

157. दूसरी बार, पृ. 103

158. अँधेरे बंद कमरे, पृ. 120

159. वे दिन, पृ. 36

160. दूसरी बार, पृ. 110

161. डाक बंगला, पृ. 36

162. मछली मरी हुई, पृ. 142

163. - वही - पृ. 146

164. भागे हुए लोग, पृ. 14

165. - वही - पृ. 165-66

166. राग दरबारी, पृ. 240

167. विपात्र, पृ. 123

168. संघर्ष का सत्य, पृ. 70

169. राग दरबारी, पृ. 214

170. - वही - पृ. 210

171. - वही - पृ. 339

172. - वही - पृ. 240

173. अमृत और विष, पृ. 248

174. - वही - पृ. 241

175. अजय की डायरी, पृ. 98

176. भागे हुए लोग, पृ. 174

177. अजय की डायरी, पृ. 100

178. रागदरबारी, पृ. 287

179. भागे हुए लोग, पृ. 167

180. भटियाली, पृ. 73

181. अमृत और विष, पृ. 118-119

182. धर्म के नाम पर, पृ. 41

183• धर्म के नाम पर, पृ• 42

184• Many recent researches theorize that we sleep only to dream, that our slumber is in-complete without dreams, However, most people tend to forget their dreams by the time they awake.

Mirror, Feb. 1985, p. 61

185• It should be noted that daydreams, fantasies, ect. never occur while we are at creative work but rather only when the brain is in an 'ideal' state-- during which the brain wavescould be only a little faster than they are in sleep. In other words, daydreams and night-dreams could be the production of the same mental state.

Mirror, Feb.85, P.62

186• मछली मरी हुई, पृ• 92

187• भागे हुए लोग, पृ• 106

188• एक करोड़ की बोतल, पृ• 67

189• दूसरी बार, पृ• 103

190• - वही - पृ• 104

191• उसका शहर, पृ• 33

192• अँधेरे बंद कमरे, पृ• 118

....

दु:ख के कारण एवं परिणामों की उपन्यासों में व्याप्ति तथा विश्लेषण

प्रस्तावना :

आज के भौतिक संसार में व्यक्ति का जीवन इस सीमा तक पिस रहा है कि उसे न चाहते हुए भी दु:खी जीवन बिताना पड़ता है। वैसे दु:ख और जीवन के संयोग का मोटे तौर पर विश्लेषण किया जाए तो सभी दु:ख व्यक्ति के स्वयं के कर्मों द्वारा नि:सृत हुए दिखाई देते हैं। जीवन की दार्शनिकता भी इसी में निहित है कि व्यक्ति को जितना सुख मिलता है, उतनी ही मात्रा में दु:ख भी उसे भोगना पड़ता है।

पहले तो यह कि व्यक्ति जिस समाज तथा परिवेश में जीने के लिये अभिशप्त होता है उससे उसका सामन्जस्य नहीं बैठ पाता। इसीलिये एक दु:ख पूर्ण जीवन उसके जीने की नियति का कारण बनता है। आज के जीवन में जहाँ हर चीज बेची तथा खरीदी जाती हो वहाँ व्यक्ति के पास उसके आधार रूप में धन का होना आवश्यक है। निर्धन व्यक्ति का सबसे बड़ा दु:ख यही है कि वह निर्धन है। निर्धनता दु:ख का मूल कारण होती है। धन के अभाव में व्यक्ति अपनी आकांक्षाओं-इच्छाओं तथा आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर पाता और जब व्यक्ति की इच्छाएं अपूर्ण रह जाती हैं तो वह कुण्ठित होता है। अपनी सभी सक्षमताओं के बावजूद कुछ न कर पा सकने की नियति कुण्ठा को जन्म देती

है । कुण्ठित व्यक्ति का मन इन्हीं प्रदत्त अक्षमताओं के कारण निरन्तर एक अनचाहे तनाव में गुज़रता है । जिस व्यक्ति में तनाव-ग्रस्तता आ जाती है उसके मन में अपने परिवेश तथा आसपास के समाज के प्रति या फिर स्वयं के प्रति पाप की भावना का जन्म होता है । यह भावना व्यक्ति को या तो हिंसक बना देती है या फिर व्यक्ति सभी कुछ का त्याग कर अकेलेपन की ओर अग्रसर होता है । समाज से तथा स्वयं से यह अलगाव व्यक्ति को अपार दु:ख देता है । अकेलेपन में व्यक्ति समाज से तो कट ही जाता है, स्वयं के प्रति भी उसकी कोई रूचि शेष नहीं रह जाती । इस अवस्था में व्यक्ति का व्यवहार समाजेतर होने लगता है । इसी मन:स्थिति की अति उसकी मानसिक अव्यवस्था का द्योतक होती है । मानसिक अव्यवस्था व्यक्ति के दु:ख की चरम सीमा है । इसके बाद व्यक्ति की गतिविधियों में विध्वंसकारी बदलाव आते हैं । वह स्वयं को पीड़ित तथा प्रताड़ित कर सकता हैया अपने सम्पर्क में आनेवाले अन्य व्यक्ति को पीड़ा पहुंचा सकता है । वस्तुत: यह स्थिति व्यक्ति के स्वयं के जीवन के प्रति निरूपयोग हो जाने और मृत्यु को गले लगाने की मानसिकता को बढ़ावा देती है । व्यक्ति अपने दु:खपूर्ण जीवन को निरर्थक जानकर आत्महत्या करने पर विवश-सा हो जाता है । इस प्रकार व्यक्ति अपने जीवन का अन्त असमय ही दु:खदायी माध्यम से करने के लिये विवश हो जाता है। जीवन में प्राप्त होनेवाली सभी असफलताएं जब अपनी सीमाओं को पार कर लेती हैं तब व्यक्ति को मृत्यु का बोध होता है और जब एक बार व्यक्ति के मन में मृत्यु की अनैच्छिक इच्छा घर कर जाती है तब व्यक्ति को पुन: व्यावहारिक जीवन की ओर वापस मोड़ना कठिन हो जाता है । इस प्रकार व्यक्ति अपने जीवन में यदि एक बार दु:खों के अथाह सागर में डूबता है तब वह पल-पल उसमें डूबता ही चला जाता है ।

दु:खों के इन्हीं कुछ विशेष कारणों एवं परिणामों के माध्यम से सातवें दशक के उपन्यासों का विवेचन, विश्लेषण तथा परीक्षण आगे किया गया है ।

नियतिगत दु:ख :

व्यक्ति अपने जीवन में सुख-दु:ख की अनुभूति में मुख्यत: दु:ख को ही पहचानता है। चूँकि उसके पास वर्तमान परिस्थितियों से संघर्ष करने के औजार नहीं होते, वह उन्हें अपने जीवन का "देय" मान बैठता है। नियति मुख्यत: भाग्य तथा प्रदत्त परिस्थिति में जीवन की प्रक्रियाओं को बाँध देने की स्थिति होती है। आधुनिक वैज्ञानिक विकास के बावजूद भारतीय समाज का एक बड़ा हिस्सा भाग्यजीवी तथा नियतिजीवी है। दूसरे उसके जीवन की यह विडंबना ही मानी जाएगी कि वह सहज ही प्राप्त हो जानेवाली वस्तु के उपभोग के लिये उतना आकांक्षी नहीं होता जितना कि अप्राप्य वस्तु के हस्तगत की इच्छा रखता है। वस्तु विशेष की प्राप्ति व्यक्ति की सिर्फ इच्छा ही होती है और व्यावहारिक रूप से उसकी प्राप्ति कठिन होती है तब व्यक्ति की मन:स्थिति नियतिवादी दु:ख में डूब जाती है। अपनी परिस्थितियों को सभी आयामों से न देख पाना तथा विश्लेषित न कर पाना तथा उनका अपने साम्प्रतिक जीवन से प्राकृतिक संबंध न बना पाना ही व्यक्ति के नियतिवाद का द्योतक है।

कई रूढ़ियाँ, परम्परा, आचार, धर्म-कर्म आदि को एवं उनकी जीवन-संबंधी प्रतिक्रियाओं को व्यक्ति अपने जीवन की प्रदत्त नियति मान लेता है। उसका ऐसा मान लेने के पीछे उसकी अकर्मण्यता तो सिद्ध होती ही है साथ ही उसकी परा या दैवी शक्ति के प्रति प्रगाढ़ आस्था भी दिखाई देती है। यह पराशक्ति तथा ईश्वर की कल्पना व्यक्ति को भाग्यवादी बनाती है। इसी भाग्य तथा समाज की पुरुष-प्रधान राजनीति के कारण समाज में कई अभिशाप आज भी समाज का अविभाज्य अंग बने हुए हैं जिसमें जकड़कर सामान्य व्यक्ति लगातार दु:ख को जीवन की नियति मानकर जीवित रहता है।

व्यक्ति का जीवन ही स्वयं में एक नियति है। जीवन यापन के विभिन्न हथकंडे शहरी जीवन में देखने को मिल जाते हैं। एक भिक्षुक तथा तिरस्कृत व्यक्ति का जीना अपने आप में एक समस्या है। फिर भी जीने की विवशता है। "शहर में जाओ तो और भी गड़बड़। कहीं सैकड़ों अन्धे ही अन्धे घूम रहे हैं। कहीं गूँगे-ही-गूँगे। एक पुल के ऊपर सड़क के किनारे ऐसे लड़के पड़े पाये जाते हैं जिनके हाथ-पाँव दो-दो अंगुल के हैं। न जाने कितने कोढ़ी

हैं ।"[1] "राग दरबारी" में यह विकलांग जीवन जीने की अभिशप्तता ही उन्हें नियतिगत दुःख प्रदान करती है । उनका यह दुःख नैसर्गिक है । शहरी सम्पन्न लोगों में दुःख की स्थिति कुछ भिन्न रूप में मिलती है । मानसिक अनुकूलता न होने पर एक अस्वीकार की भावना जन्म लेने लगती है। "एक इंच मुस्कान" की अमला में अस्वीकार और नाकार की भावना एक अलगाववादी नियति को जन्म देती है । इसी विषय पर अमर कहता है कि "यह उसके जीवन की विवशता है, ट्रेजेडी है कि जो कुछ उसे प्राप्त है उसे वह भोग नहीं पाती, अस्वीकार कर देती है, और एक ऐसे अदेखे, अनजाने सुख के पीछे भागती है जो शायद उसे कभी प्राप्त नहीं होता ।"[2] अमला की नियति यह है कि जो उसे प्राप्त है उसे वह अस्वीकार करती है और जो अप्राप्त है उसी के पीछे भागती है । इस नकारात्मकता के पीछे प्रतिकूल परिस्थितियाँ हैं, जिसे सुलझा न सकने पर वहाँ से हट जाती है । यह उसकी विवशता नहीं बल्कि उसे मिलनेवाला असहयोग है । जिसके कारण नकारात्मकता नियतिवादी दुःख का रूप ले लेती है ।

पितृसत्तात्मक समाज के परम्परागत रूढ़ संस्कार पुरुष को नारी जीवन के प्रति कृपण बना देते हैं । पुरुष की यह नियतिवादी धारणा होती है कि वह नारी को अपनी परजीवि ही समझता है । "चौदह फेरे" का कर्नल मायके से आई नंदी को दहाड़ते हुए कहता है "···· देखो, आगई हो अब भुगतना भी पड़ेगा। यहाँ तुम्हें जैसे भी रखूँगा -- रहना होगा, समझी ? क्या आने से पहले एक बार पूछ भी नही सकती थी ?"[3] पराश्रिता का यही दुःख नंदी को सन्यासी बना देता है । परम्परा से संचित संस्कारों में नारी शोषित ही होती रही है । पुरुष की इसी नियति के कारण नारी अधिकारों से वंचित होकर मानसिक रूप से मरने लगती है ।

सामाजिकता, परम्परा के नियम, संस्कारों की रूढ़ता नारी को गाय बनकर खूँटे से बँधे रहने का भाग्य प्रदान करती है । वैवाहिक संबंध में यदि सुख न हो तो इस बंधन की जकड़ दुःख ही देती है । इस बंधन की जकड़ को चाह कर भी न तोड़ पा सकने की व्यथा ही नारी का नियतिगत दुःख है । "चौदह फेरे" उपन्यास में कुमाऊँ की सामाजिक परम्परा में नारी यही दुःख झेलती है । लड़की को " ····· बचपन से ही कुल की परम्परा और मर्यादा

की कड़ी डोर से बांधकर रख दिया जाता है । खूंटे की गऊ की भांति उसे जहां बांधो, वहीं बंध जाती है, ब्रामे की चिड़िया की भांति वह खा-पीकर मायके की देहरी से उड़ जाती है । उन नये परों की उड़ान में कैसा आनन्द है पर कैसी व्यथा । हो सकता है वह उड़ान मुदमय स्वच्छन्द उड़ान हो बने और हो सकता है कि कोई निमर्म बधिक-सा स्वामी उसे पिंजड़े के बन्धन में डालकर छोड़ दे ।"[4] परम्परा जब व्यक्तिगत सुख के अनुकूल न हो तो दु:ख का विषय बन जाती है । परम्परागत समाज में नारी ही नहीं अनुकूलता प्राप्त न होने पर पुरुष भी परम्परा के नियम तोड़ने लगते हैं । सहनशीलता पुरुष में नारी की अपेक्षा कम होती है इसलिए सामाजिक नियम पुरुष द्वारा ही अधिक तोड़े जाती हैं । "चौदह फेरे" का कर्नल अपनी पत्नी नंदी के होते हुए पेट्रेशिया को साथ लेकर समाज में घूमता है । जब परिस्थितियाँ अपने स्वाभाविक रूप से या नियतिगत रूप से अधिक प्रतिकूल पड़ने लगती हैं तो पुरुष व्यक्तिगत सुख के लिए सामाजिक मान्यताओं को तोड़ देता है । दूसरी तरफ नारी संस्कारवश या तो तोड़ नहीं पाती है या तोड़ती है तो पुन: समाज में स्थापित होने के लिए उसे अधिक संघर्ष करना पड़ता है । "डाक बंगला" की इरा घरवालों के विरोध में जाकर विमल से विवाह कर लेती है । लेकिन पुरुष की शक्की नियति उसे सामान्य जीवन में भी पीड़ित कर देती है । और स्त्री सिर्फ स्त्री होने की नियति का दु:ख भोगती है । इरा इसी नियति के कारण जीवन में भटकने को विवश है । वह कहती है । "मेरी जिन्दगी बगैर मंजिलों के चलती रही मैं चिर-पथिक हूं । मेरा पड़ाव कहीं भी नहीं है । इन पहाड़ी रास्तों में जैसे लोग पैदल चलते हैं, वैसे ही मैं आज तक चलती रही हूं । रास्ते में कोई गंदी चाय की दुकान आ गई तो लोग वहां भी रुक कर एक प्याली पी लेते हैं, क्योंकि और कोई चारा नहीं है ।"[5] पुरुष की संदेह की नियति नारी की दु:खद मन:स्थिति बनकर पड़ावहीन पथिक में उसे रूपांतरित कर देती है । इरा आगे कहती है कि -- "सौ में पचहत्तर औरतें ऐसी ही जिन्दगी जीने की आदी हो चुकी हैं । अगर उनका मन कहीं और नहीं है, तो वहां भी नहीं है जहां वे हैं । उनका मन मर चुका है । पत्नी के रूप में वे ही ज्यादा सफल साबित होती है जिन्होंने अपने मन को मार लिया है, यानि जो जिन्दगी भोगने आती हैं । इस भोग में विलास नहीं, पीड़ा से भरी एक मजबूरी है । हर औरत मेरी तरह जिंदगी भोग रही है ।"[6] नारी की नियति यही है कि उसका मन कहीं होता है और तन कहीं । दोनों के एकाकार

के अभाव में वह भटक जाती है । इसी के कारण वह द्वन्द्व और विरोधाभास की नियति को प्राप्त करती है ।

भारतीय समाज में जीनेवाले बेरोजगार नवयुवक की यह नियति है कि वह अपनी अकर्मण्यता पर सामाजिक तंत्र तथा उसकी पद्धति पर कुंठित होकर सिर्फ गाली ही दे सकता है । तंत्र को बदल नहीं पाना ही उसकी नियति हो जाती है । "डाक-बंगला" का विमल इरा से विवाह तो कर लेता है किन्तु आर्थिक अभाव के कारण वह भीतर ही भीतर खोखला हो जाता है । वह इरा से कहता है -- "शायद तुम मेरी बेचैनी नहीं समझ पाओगी ... पर उस मजबूरी को ज़रूर समझ सकती हो, जो तुमने मेरे साथ भोगी थी । मेरी और मेरे जैसे लाखों नौजवानों की असफलता के कारणों पर कभी तुमने गौर किया है ? क्यों हम इस तरह सड़ने गलने और मर जाने के लिए मजबूर हैं ? x x x अगर हमें सार्थक होकर जीना है तो सब कुछ बदलना होगा ..... सबसे पहले बदलना होगा इस दोगली अर्थव्यवस्था को, जिसमें चूसे जाने के लिए हमें छोड़ दिया गया है ..... जब तक सड़ती हुई इस क्रांति के कीटाणु नहीं खत्म होंगे, तब तक इस देश में हम और तुम यों ही सड़-सड़कर और अपमानित होकर मरने के लिए मजबूर होंगे ।"[7] नौकरी न पा सकने के कारण वह इरा के आगे स्वयं को छोटा और निरर्थक महसूस करता है । बेकारी व जीवन में कुछ न बन सकने के कारण इरा को छोड़कर चला जाता है । "अपने से अलग" उपन्यास का नायक स्वयं से ही कटा हुआ जीवन व्यतीत करता है । वह कहता है -- "अपनी इस निरर्थक यात्रा को लेकर मेरे मन में हल्की-सी खीज़ उभर आई । ठीक वैसी ही खीझ जैसे अपने छोटे भाई को मिलकर आने के बाद महसूस की थी । इस पूरी अर्थहीन उकताहटवाली निरर्थक यात्रा में मैंने पाया कि मैं उसी गतिहीन जीवन में जीने के लिए विवश हूं । मैं एक धीरे-धीरे रेंगनेवाले कीड़े की तरह हूं जो हर बार अपनी घूमी हुई जगह पर वापस आ जाता है ।"[8] धीरे-धीरे रेंगना और लौट कर पुन: उसी जगह वापस आ जाने का दु:ख नायक झेलता है । क्योंकि नायक न केवल परिवार से बल्कि स्वयं से भी कटा हुआ अनुभव करता है ।

व्यवहारिक जीवन में ऐसे कई क्षण आते हैं जब अच्छे से अच्छे सिद्धान्त की भी कोई उपयोगिता शेष नहीं रहती । एक रचनाकार समाज में बदलाव लाने के

लिए साहित्य रचना तो है लेकिन जब समाज का पारंपरिक ढर्रा नहीं बदलता तो कलाकार को दु:ख होता है। वह समाज को नियति को बदल नहीं पाता। "अमृत और विष" का एक पात्र कहता है " ..... ये सैंतीस अड़तीस छोटी-बड़ी किताबें जिन्हें मैंने पूरी निष्ठा और तन्मयता के साथ रचा, अब मुझे बेकार का श्रम मालूम पड़ती हैं। जीवन भर देश प्रेम, मानवता, सत्य, न्याय और ईमानदारी को ही भला समझता और समझाता रहा, पर अब ये सब बातें निस्सार लगती हैं। इनसे न तो वह संसार ही बदला, जिसे बदलने की भावना से मेरे तन में सदा उथल-पुथल मचाकर नए से नए विचार और कल्पनाएं स्वत: स्फूर्त होती रही और न मुझे सुख ही मिला।"[9] रूढ़िवादी बौद्धिकता होने पर ऊँचे पद प्राप्त हो जाते हैं। "शोषण और उत्पीड़न को कहानियाँ रट लेना ही काफी नहीं है और जिस गधे को पीठ पर सारे वेदों, उपनिषदों और पुराणों का बोझ लदा होता है, वह अन्तर्राष्ट्रीय विद्वत् परिषद का अध्यक्ष बन जाने के बावजूद मनुष्य नहीं हो जाता - वह होने के लिए विद्वत्ता का बोझा ढोने के सिवाय कुछ और भी करना होता है।"[10] शिक्षा को सामाजिक उपयोगिता की निरर्थकता के पीछे पद्धति को रूढ़ परम्परा ही है। व्यक्ति अपनी डिग्रियों तथा किताबी ज्ञान के माध्यम से पद तो प्राप्त कर सकता है लेकिन इस बात का प्रमाण नहीं होता कि वह एक नेक इन्सान भी होगा। पुस्तकीय तथा व्यावहारिक ज्ञान में भारी अंतर भारतीय बुद्धिजीवियों की नियति बन चुकी है।

व्यक्ति के जीवन में जब दु:ख ही दु:ख शेष रह जाते हैं तब वह अधिकतर अकेला ही होता है। अकेलेपन में अपनी नियति को भाग्य के आवरण में लपेट कर जीना व्यक्ति की स्वअर्जित नियति ही होती है। " ..... और मैं कमरे में अकेला रह गया। अकेला, कि अपने तेवरों को आप ही सम्भालूं और जो भाग्य में हो उसे आप ही झेलूं।"[11] "मुक्तिबोध" उपन्यास के अंत में नायक का यह कथन भाग्यवादी नियति को ही दर्शाता है। नायक को अपनी कर्मण्यता का बोध अकेलेपन में ही दिखता है।

नियतिवाद। दु:ख के पीछे व्यक्ति की अहंवादिता, व्यक्तिवादिता, अस्वीकार एवं नकार की भावना होती है। नारी की सहनशीलता ही उसका

नियतिगत दु:ख है तो दूसरी तरफ नारी के प्रति पुरुष में पाई जानेवाली शक की प्रवृत्ति उनके लिए नियतिगत दु:ख का कारण बनती है । आधुनिक मनुष्य का सबसे बड़ा दु:ख यही है कि उसे विरोधाभासों में जीना पड़ता है जो धीरे-धीरे उसका नियतिगत दु:ख बन जाता है । भाग्यवादी पात्र ऐसा दु:ख अपने लिए स्वयं बनाते हैं । अधिकतर परिस्थितियोंवश भी व्यक्ति भाग्यवादी हो जाता है । नियतिवादी दु:ख के शिकार व्यक्ति स्वयं तो दु:ख झेलते ही हैं साथ में निराशावादी होकर दूसरों को भी निरुत्साहित करते हैं ।

निर्धनता :

विश्व समाज में बसा व्यक्ति अपने ही पासवाले व्यक्ति से हर आयाम में भिन्न होता है । कभी यह बात प्रजातिकी रही थी तो कभी धर्म की, लेकिन सभ्यता के अधुनातन स्वरूप में ढल जाने के बाद व्यक्ति की अस्मिता का जिस तरह से व्यवसायीकरण होने लगा उसका आधार अर्थ होता गया । आज व्यक्ति की आधुनिकता अर्थ का पर्याय हो गई । व्यक्ति अपने स्तर को ऊँचा उठाने के लिये धन के पीछे भागता है । आज के जीवन में व्यक्ति की मानसिकता इस हद तक निचली गई है कि वह अपने स्तर को लगातार उच्चता के लिये बहुविध तरीकों से धन प्राप्त करने की कामना करता है । समाज में मिलनेवाली आर्थिक असमानता ही व्यक्ति के दु:ख का मूल कारण है । निर्धन व्यक्ति की सामाजिक सीमाएँ इतनी संकुचित होती हैं कि वह अपनी अंतर्वर्गीय उड़ान की इच्छा को पूरी नहीं कर पाता ।

भारतीय समाज-तंत्र इस प्रकार से दूषित तथा वर्ग-विशेषपर आधारित है कि यहाँ के रोजगार के साधन बेरोजगारों की तुलना में बहुत ही कम हैं । यह कारण भी जहाँ एक ओर आर्थिक असमानता को गहराता हैवहीं दूसरी ओर सक्षम युवाओं के दु:ख का कारण भी बनता है । आज़ादी के बाद की पीढ़ी में कुंठा तथा आक्रोश के भाव की बहुलता इसी बेरोजगारीजनित दु:ख का परिणाम है ।

निर्धनता जब बढ़ने लगती है तो भूख की वेदना के आगे मानवीय रिश्ते तुच्छ हो जाते हैं। जीवन की खुशियाँ भूख मिटाने की कोशिश में ही समाप्त हो जाती है। "एक करोड़ की बोतल" उपन्यास में रानी के पिता का दायाँ हाथ दुर्घटना में कट जाता है। इसलिए वह रानी को सात हजार में बेचने को तैयार हो जाता है। " ..... बाजू का जो मूल्य उसे मिल से मिला था वह इन चार वर्षों में खाकर घर में निकम्मा बैठा था, और निकम्मापन यानी, मजबूरी की बेकारी मनुष्य को होले-होले घुन की तरह खा जाती, अन्दर का सारा गूदा, उसकी सारी इज्जत-शराफत, खुशचलनी, तथा ईमानदारी खा जाती है। बस ऊपर का खोल रह जाता है जिसके अन्दर से एक भयानक शून्यता झाँकती है, यह वह बीमारी है, जो कैंसर से अधिक खतरनाक है।"[12] घर में जब फाके पड़ने लग जाते हैं तो बेचने के लिए व्यक्ति के पास केवल शरीर रह जाता है। पुरुष की विडम्बना यह है कि उसका शरीर नहीं बिकता इसलिए अपनी बीवी या बेटी को बेच देता है। एक ओर जहाँ पिता की बेबसी है वहीं दूसरी ओर निर्धन नारी भी अधिक दाम में बिककर गर्व का अनुभव करती है। इसी उपन्यास की नायिका इंदु कहती है "मैं तो सात कक्षा पढ़ चुकी हूँ, और वह दो कक्षाओं से ऊपर नहीं गयी, मगर सेठ उसके घर भी जाता है। हमारे घर भी आता है। मेरी माँ से कहता है कि रानी तो उसे सात हजार में मिल रही है, और वह मेरे लिए दस हज़ार तक देने को तैयार है।"[13] निम्नवर्गीय समाज में भूख के आगे कोई नियम नहीं होता। यह सब अनैतिक होकर भी विवशता से भरी मज़बूरी है। निर्धनता के इस वीभत्स स्वरूप के आगे नैतिक मानदण्डों में शरीर का महत्व सिर्फ पेट भरने के लिए ही होता है। आरामतलबी की आदत, जहाँ मेहनत कम और पैसा ज्यादा प्राप्त होनेवाली विचारधारा निर्धनों में मिलती है। साथ ही नारी की विचारधारा भी इतनी विकसित नहीं है कि परम्परा से चले आ रही सौदे बाजी से हट कर कोई अन्य कार्य अपने लिए चुने। बूढ़े और अपाहिज इन्सानों की विवशता और मजबूरी तो समझ में आती है तथा निर्धन युवाओं की विवशता किसी हद तक उचित है, लेकिन शारीरिक सौदों के विरोध में आवाज भी न उठा पाना उनकी मजबूरी नहीं, बल्कि मेहनत से बचने का एक आसान तरीका है जिसे निर्धनता का मुलम्मा चढ़ा दिया जाता है।

युवा वर्ग सभी प्रकार की रूढ़ियाँ-परम्पराएँ तोड़कर विवाह तो कर लेते हैं लेकिन इनको आय का कोई स्थायी स्त्रोत नहीं होने के कारण उनमें दु:ख स्वभावत: आ जाता है । पुरुष-प्रधानता के सामाजिक तंत्र में यह स्थिति उस समय और भी दयनीय हो जाती है जब सिर्फ पत्नी ही धनार्जन करती हो । पुरुष की यही विवशता आगे चलकर शक के माध्यम से संबंधों में दरार उत्पन्न करती है । "नाटक कम्पिटीशन के बाद दो साल तक मैंने और विमल ने दिल्ली में स्थायी रंगमंच स्थापित करने की जी तोड़ कोशिश की .... पर कर्जे के सिवा कुछ हाथ न आया । यहाँ तक कि हम पैसे-पैसे के लिए मोहताज हो गए ..... वह कुण्ठित हो गया और मैं उदास .....।"[14] एक पढ़े-लिखे बेरोजगार युवक की कुंठा में परिणति स्वतंत्र्योत्तर भारतीय समाज की नियति रही है । "वह हताश हो गया । बीमारों की तरह दिन-दिन भर वह पड़ा रहता और रात को जब मैं लौटती तो उसे उदास देखकर बहलाने की कोशिश करती ..... कुछ देर बाद वह मेरे शरीर की ओर चाहत से देखकर हँसने मुस्कराने लगता । उसके मन पर जमा हुआ अवसाद और पराजय जैसे कुछ-कुछ हटने लगती -- कुछ घंटों के लिए विमल पहले सा सुंदर, मुक्त और प्रखर लगता ।"[15]

आर्थिक अभाव में जीवन की खुशियाँ सूख जाती हैं और शेष रह जाती है कुछ न कर पा सकने की एक हीन भावना । अनेक प्रयासों के बाद अधिक खुशी भी पैसे के अभाव से समाप्त हो जाती है । भौतिक जीवन की सुख-सुविधाओं तथा चकाचौंध के फरेब में आज का युवक जिस सुख-प्राप्ति के पीछे भटकता है उसका चित्र लच्छू के माध्यम से "अमृत और विष" उपन्यास में मिलता है। "लच्छू अब बड़ी आमदनी चाहता है । उन सुख-सुविधाओं को जो सारसलेक में भोग चुका है, वह निश्चय ही पाकर दम लेगा । सारसलेक में तो समाजवादी व्यवस्था के कारण वह ढाई सौ रुपयों में भी गुलछर्रे उड़ा सका, लेकिन यहाँ तो वैसा ही फ्लेट उसे सवा सौ - डेढ़ सौ मासिक किराये पर मिलेगा । पाँच छ: सौ की नौकरी उसे एकाएक मिल न सकेगी, कोई धन्धा, कोई मुनाफेवाली एजेंसी उसे लेनी होगी ।"[16] लच्छू को कुछ समय के लिए उच्च वर्गीय सुख भोगने का अवसर मिलता है । उनके छूट जाने के बाद वह उसी सुख की ललक में मानसिक रूप से भटकता रहता है और अपना वर्तमान जीवन दु:ख बनाता है ।

धन के परिप्रेक्ष्य में वर्ग-विषमता से उपजनेवाली हीन-भावना, व्यक्ति को कुण्ठित तथा दु:खी करती है । हालाँकि व्यक्ति अपनी योग्यतानुसार अपने सामाजिक सम्बन्धों को विभिन्न स्तरों पर फैलाता है फिर भी जहाँ पर भौतिक सुख सम्पदा की बात आती है व्यक्ति की मानसिक स्थिति अपनी निम्नस्तरता के कारण घुटती हुई प्रतीत होती है । जीवन स्तरता में भिन्नता का मूल कारण धन है और धन के अभाव में व्यक्ति दु:खी रहता है ।

कुंठा :

कुंठा एक मानसिक घुटन की अवस्था है । वस्तु की प्राप्ति एवं प्राप्ति के उद्देश्य से की गई प्रक्रिया के विषम परिणाम व्यक्ति को कुण्ठित करते हैं । यह एक तरह से मोहभंग की स्थिति भी मानी जा सकती है । व्यक्ति अपने सुख के लिए ऐच्छिक वस्तु का लक्ष्य रखता है । लेकिन देश, काल एवं परिवेश के विलोम अनुपात व्यक्ति को वस्तु से दूर करते हैं । यह दूरी व्यक्ति में कुण्ठा का संचार करती है । व्यक्ति वस्तु की प्राप्ति अथवा लक्ष्य के प्रति विभिन्न कोणों से पूर्वाग्रही नहीं होता । मुख्यत: व्यक्ति अपने कार्य तथा उद्देश्य के प्रति सफलता का ही कामी होता है, लेकिन प्रक्रिया में यदि उसे निराशा प्राप्त होती है तो उसमें स्वयं के प्रति हीनभावना आ जाती है । कुंठा में एक ओर व्यक्ति जहाँ हीनभावना का शिकार हो जाता है वहीं वह दूसरी ओर वस्तु का के प्रति निर्मोही भी हो सकता है । व्यक्ति अपनी सम्पूर्ण योग्यताओं के बावजूद कभी-कभी परिणामहीन हो जाता है । व्यक्ति जब यह समझ ले कि उसे उसकी योग्यताओं का उचित पारितोष नहीं मिल पा रहा है और उन्हीं परिस्थितियों में अन्य व्यक्ति लाभान्वित हो जाता है तब भी व्यक्ति में स्वयं के तथा परिवेशिक समाज के प्रति कुंठा का अनुभव करता है । ऐसी कुंठा व्यक्ति को निहत्थेपन का बोध कराती है, जहाँ व्यक्ति चाहकर भी समाज के दूषित तंत्र का मुकाबला नहीं कर पाता ।

मानव संबंध अपने आप में एक जटिल प्रक्रिया है जिसे स्वयं मानव भी सुलझा नहीं पाता। दो विभिन्न मन, मस्तिष्क अपने-अपने परिवेश तथा अनुभवों में एक हद तक तो सहयोगी बन जाते हैं लेकिन कभी-कभी सामान्य से सोच की विभिन्नता व्यक्ति को गहराई तक कुंठित कर देती है। भावनाओं में व्यक्ति स्थिति की चिंता नहीं करता और गलती कर बैठता है। "मनाव-संबंध उलझ इसीलिये जाते हैं कि हम गलत जगह झगड़ा कर लेते हैं और गलत जगह झुक जाते हैं।"[17] गलती की यह स्थिति व्यक्ति को जहाँ संबंधों के प्रति दूर करती है, वहीं यह मन:स्थिति कुंठा का कारण बनती है।

कुंठा का कारण व्यक्ति ही नहीं प्रतिकूल परिवेश भी होता है। "उसका शहर" उपन्यास में नीरा की कुंठा परिस्थितिगत हैं। वह जिन परिस्थितियों में जीना नहीं चाहती, वही प्रत्यक्षत: उसके सामने होता रहता है। "नीरा इस बात को अच्छी तरह जानती थी कि माँ एक भावुक महिला है और पिता की मृत्यु के बाद उसे सांत्वना और किसी सहारे की जरूरत है। पर इन सारी बातों के बावजूद नीरा आमूल को किसी दूसरे रूप में नहीं देखना चाहती थी वही उसके घर में प्रत्यक्ष होता रहा।"[18] नीरा से परिचित आमूल का पिता में परिणत हो जाना उसके लिए एक घुटन भरी स्थिति पैदा करते हैं। आधुनिक शहरी जीवन में प्राय: ऐसी परिस्थितियाँ जन्म लेने लगती हैं। "दूसरे महायुद्ध के उपरान्त विश्व के फलक पर न जाने कितने विकट प्रश्न उभरकर सामने आये हैं। समस्त जगत का आर्थिक ढाँचा कमज़ोर हो गया है। विविध बीमारियों के कारण मनुष्य जाति का स्वास्थ्य खतरे में पड़ गया है। फलत: कुंठित तथा क्षतिग्रस्त पीढ़ी पनपने लगी है।"[19] पारिवारिक संबंध में यदि माँ न हो तो केवल पिता संतान को प्यार-दुलार नहीं दे पाते। "डाक बंगला" की इरा अपने बिखराव और कुंठा की शुरूआत पिता से मानती है। "माँ की मौत के बाद डैडी एक तरह से मेरे लिए खो ही गए थे। उनकी अपनी ज़रूरतें थीं ..... जो गलत भी नहीं थीं। लेकिन वे अपनी उस जिन्दगी को हमेशा मुझसे छुपाते रहे .. शायद उन्हें यह लगता रहा कि जिस दिन वे अपनी सही जिन्दगी को मेरे सामने खोल देंगे, बाप के पद से नीचे गिर जाएंगे ..... इसीलिए वे हमेशा एक बाप की तरह मेरे साथ पेश आने की मजबूरी में कैद रहे। वे कभी मेरे लिए प्यार भरे

दोस्त नहीं बन पाए। मेरी चाहतों को नहीं समझ पाए। वे हमेशा मेरे सामने सवाल बनकर ही खड़े हुए और हमेशा मुझसे जवाब ही माँगते रहे।"[20] पिता द्वारा सही निर्देश न मिलने पर वह दिशाहीन होती जाती है। भारतीय परिवारों की यह विडम्बना ही रही है कि पिता केवल पिता बनकर ही रह जाते हैं।

पीढ़ि के अन्तराल से उठनेवाली यही समस्या "मुक्तिबोध" उपन्यास में भी मिलती है। जहाँ पुत्र का अस्तित्वबोध जागता हैतो उसे यही लगता है कि वह पिता की प्रसिद्धि के दबाव में दबता चला जा रहा है। स्वयं की निरर्थकता का बोध उसमें कुंठा पैदा करता है। " ..... इनका नाम है, और मैं इनका बेटा समझा जाता हूँ। और बाहर जब इनके नाम के हिसाब से मुझे नापते हैं और मैं छोटा बन जाता हूँ और लौटकर अपने भिट में आ जाता हूँ, कि किसी से कुछ सुनना न पड़े। x x x x इतना है कि आप भूल जाइये, कि मैं आपका लड़का हूँ। मैं अनाथ होता तो इससे अच्छा होता।"[21] युवा पुत्र से पिता स्नेह और मैत्री का सहसंबंध स्थापित नहीं कर पाते, इसीलिए पिता का रिश्ता युवा संतान पर केवल एक परम्परा का बोझ लगता हैजो कि कुण्ठा का कारण है।

हजारों वर्षों की भारतीय संस्कृति पितृ सत्तात्मक रही है। अधिकार की यह रूढ़ि आज के विकसित, आधुनिक समाज से दूर नहीं हो पाई है। यहाँ तक कि बुद्धिजीवी का भी अगला पैर आधुनिकता में है तो पिछला पैर परम्परागत रूढ़ियों से जकड़ा है। "अँधेरे बंद कमरे" का हरबंस भी ऐसे ही बुद्धिजीवियों का प्रतीक है। वह अपनी पत्नी का इसीलिए अपने से अधिक प्रसिद्ध नहीं होने देना चाहता जिसमें लोग उसे पत्नी नीलिमा के माध्यम से जानने लगें। सामाजिक हैसियत में होने की अस्मिता की प्राश्निकता व्यक्ति की जानकार कुंठा है। नीलिमा इसे हीनता का नाम देती है। "तुम सिर्फ इस हीन-भावना के शिकार हो कि लोग मुझे तुमसे ज्यादा जानते हैं और उनमें जो बात होती है वह तुम्हारे विषय में न होकर मेरे विषय में होती है। तुम्हें यह बात खा जाती है कि लोग तुम्हारी चर्चा नीलिमा के पति के रूप में करते हैं। तुम्हें डर लगता है कि अगर मेरा प्रदर्शन सफल हुआ तो लोग मुझे और ज्यादा जानने लगेंगे और तुम अपने को और छोटा महसूस करोगे। यही चीज है जो तुम्हारे गले से नहीं उतरती और

इसलिए तुम चाहते हो कि किसी तरह यह आयोजन सफल न हो जिससे तुम बाद में मेरा मजाक उड़ा सको और अपने पर गुमान कर सको ।"[22] पुरुष स्वयं में कुछ भी, कैसा भी रहे, वह स्त्री को अपने से अधिक बढ़ जाने को सहन नहीं कर पाता, यह भारतीय मध्य वर्ग की विशेषकर मानसिकता है । नारी के स्वतंत्र व्यक्तित्व के साथ-साथ पुरुष के नारी संबंधित मानदण्ड भी बदलने आवश्यक हैं। तभी नारी के विकास से पुरुष के मन में हीन भावना नहीं उगेगी ।

बदले की भावना हो या अपनी सत्ता की प्रमुखता की ललक -- व्यक्ति किसी भी अंश को स्वयं त्याग देने की इच्छा नहीं रखता । "दूसरी बार" के नायक की मानसिक अस्पष्टता यह है कि यदि वह बिन्दो के पत्र लौटा देता है तो उसके पास संबंध बनाये रखने का कोई भी माध्यम नहीं बचा रह जाएगा । वह सोचता है कि "कहीं मैं गलती तो नहीं कर रहा । बिंदो को वापस करने के बाद मैं बिल्कुल निहत्था हो जाऊंगा । अब तक मेरे पास एक हथियार था, जिससे मैं बिन्दो से कुछ समय तक निपट सकता था । चिट्ठियाँ न रहने पर क्या होगा ? क्या मैं बिन्दो का सामना कर सकूंगा ? मेरा एक मात्र प्रमाण ये चिट्ठियाँ हैं, जिनमें बिंदो की असली तसवीर छिपी हुई है ।"[23] इस स्थिति का सिर्फ बोध ही उसकी कुंठा का कारण बनता है ।

व्यक्ति में सफल योग्यताएं होने के बावजूद जब ऐच्छिकता सफल नहीं हो पाती तो कुंठा का जन्म होता है । "अंधेरे बंद कमरे" की नीलिमा की कुंठा इस बात की है कि वह नृत्य सीखने की इच्छा पूरी नहीं कर पाती क्योंकि दूसरी ओर उसके पति हरबंस की यह प्रबल इच्छा होतीहै कि उसकी पत्नी नीलिमा नृत्य की अपेक्षा चित्रकला सीखे । इस मनःस्यूत अंतर्विरोध के परिणाम में दोनों ही कुंठित होते हैं । वह कहती है -- "मैं चाहती थी कि कुछ दिन के लिए मैसूर जाकर भरतनाट्यम की ट्रेनिंग ले लूं, मगर हरबंस मुझे जाने की इजाज़त ही नहीं देता । उसने तो मेरी कथक की प्रैक्टिस भी छुड़ा दी है।"[24] हरबंस के अनुसार "मैं समझता हूं कि मैं ही मूर्ख हूं जो मैंने पहले नहीं सोचा कि तुम्हारे लिए अपनी भरतनाट्यम की ट्रेनिंग मेरे साथ रहने की अपेक्षा कहीं अधिक महत्वपूर्ण है । मैं तुम्हारे किसी कार्यक्रम में दखल देनेवाला कौन होता हूं ।"[25] इच्छा जब

अस्मिता का पर्याय बन जाती है तिस पर भी व्यक्ति बुद्धिवादी हो तो कुंठा और अधिक हो जाती है । ऐसी ही परिस्थितियों के शिकार "अँधेरे बंद कमरे" के पात्र हरबंस और नीलिमा हैं । नीलिमा का दृढ़निश्चित हो जाना ही हरबंस को अस्मिता की परेशानी तथा अलगाव का कारण बनती है । यही स्थिति उसके होने की निरर्थकता के कुंठित बोध को भी जन्म देती है । इस उपन्यास के पात्रों की घुटन, कुंठा, ऊब, अलगाव आदि की यह चरम परिणति है कि वे अपने ही प्रियजनों से ऊब गये हैं । हर पात्र अपनी गाड़ी अपने ही चाबुक से हाँकने में लगा है । " ..... हर अकेला कमरा उसके लिए हरबंस का घर है । वह हरबंस के घर में लौटना नहीं चाहती ।"[26] नीलिमा की कुंठा व्यक्तिगत स्तर से ऊपर उठकर सामान्य हो गई है । वह जिसके भी विचारों में बंद होगी, वह उसे हरबंस ही लगेगा ~~किन्तु~~ क्योंकि इस जकड़न का मूल हरबंस ही है । ऐसे पराश्रय की जकड़ का विरोध सातवें दशक की एक मुख्य मन:स्थिति रही है ।

व्यक्ति की जब इच्छाएं पूर्ण हो जाती हैं तो उसमें भौतिकता के प्रति वितृष्णा-सी आ जाती है । "एक इंच मुस्कान" की अमला चूँकि उच्चवर्गीय जीवन से संबंधित है, उसे सभी भौतिक सुविधाएं सहज ही प्राप्त हो जाती हैं तब उसमें अपने ही वर्ग की अभिजात्यता के प्रति कुंठा होने लगती है । "सिनेमा, पार्टी, नाच, कैबरे, पीना, पिलाना ये सब उसके व्यक्तित्व का एक बहुत बड़ा भाग बन चुके हैं, और मुझे उन सबमें अरुचि होते-होते अब नफरत हो चली है । x x x x x पाप-पुण्य मैं नहीं मानती, मर्यादाओं और सीमाओं को भी मैंने कभी महत्व नहीं दिया, पर किसी भी मजबूरी का यों फायदा उठाया जाए, यह मुझसे सहन नहीं होता । इच्छा से आत्मा की प्रेरणा से कोई कैसी बेहयाई करे, मैं कभी निन्दा या आलोचना नहीं करूँगी ।"[27] अस्तित्वबोध नारी को यह एहसास कराता है कि वह केवल मनोरंजन के लिए ही नहीं है । यही बोध से उसे एक ओर अस्मिता को दिशा मिलती है तो दूसरी ओर विगत जीवन की निरर्थकता से कुंठा होती है । जहाँ आकर एक शहरी नारी सोचती है कि -- "क्या वह केवल दूसरों के मनोरंजन के लिए है, या उससे अलग भी उसका अस्तित्व है।"[28]

"दूसरी बार" के नायक "मैं" का अपनी पत्नी से दूर रह कर भी उसके निकट होने का अहसास ही उसकी कुंठा है । "मैं" जैसे पात्रों की मानसिकता में यही द्वन्द्व होता है कि एक और वे अलगाव भी चाहते हैं तथा दूसरी और निकटता की आकांक्षा भी बलशाली होती है । "स्वतन्त्र होने के बजाय मैं पहले से ज्यादा परतन्त्र हो गया । मेरी इच्छाएं जैसे मुझे छोड़कर चली गयी थी और भीतर की सारी शक्ति ने अचानक ही जवाब दिया था । अपनी दुनिया में वापस आ जाने, अपना संसार प्राप्त कर लेने की कल्पना कितनी किताबी है, यह अपने संघर्ष में पराजित होने के बाद मालूम होता है ।"[29] आलोच्य काल के परिवेश तथा व्यक्तियों में यही द्वन्द्व अधिक मिलता है । भविष्यगत उन्नति का मोह उन्हें संघर्ष के लिए प्रेरित करता है । लंबे समय के संघर्षी जीवन की निष्फलता के बाद की मोह भंग की स्थिति व्यक्ति के जीवन दर्शन पर प्रश्न चिह्न लगाती है । व्यक्ति अलगाव तथा कुंठा में उचित निर्णय नहीं ले पाता । यह गलत जगह पर गलत मनःस्थिति का अवतरण ही कुंठा को जन्म देता है ।

पारंपरिक विचार रखनेवाले "राग दरबारी" के वैद्यजी जिस कुंठा से दुःखी हैं वह उनके बेटे का दूसरी जाति की लड़की के साथ विवाह का प्रस्ताव रखना है । "..... और तुमने जो किया है, वह अच्छी बात है ? तुम्हें कुछ इसके परिणाम का भी पता है ? इससे मेरी आत्मा को कितना कष्ट हुआ, जानते हो ?"[30] रूढ़ विचारधारावादियों की यह दुःखद स्थिति होती है कि वे अपनी परम्परागत मान्यताओं एवं नियमों को टूटता नहीं देख पाते ।

भारत के स्वतंत्र होने के बाद भी सामाजिक व्यवस्था में कोई बदलाव न आने के कारण जो कुंठा देश में व्याप्त थी, उसका चित्रण "धर्म के नाम पर" उपन्यास में दिखाई देता है "आनन्द बाहर चला आया, किन्तु मानो उसकी चेतना वहीं साहब के कमरे में रह गई । ये हैं स्वतंत्र भारत के अधिकारी, अधिकारी नहीं अफसर । अंग्रेजों की बनाई हुई जमात के ठेकेदार । अफसर शासन का प्रतीक है और आत्मा से तो शासक अभी भी विदेशी ही बने हुए हैं, तो फिर इस स्वतंत्रता के मानी ही क्या ? स्वतंत्रता कोई भौतिक वस्तु तो नहीं कि पाते ही उसे जेब में रख लिया जाए । वह तो केवल एक अवस्था विशेष है जो मनुष्य

को पारंपरिक व्यवहारों में मुखर हो उठती है । यदि व्यवहार और संबंध वैसे ही रूढ़ बने रहे, यदि हमारे दृष्टिकोण ही में वांछनीय अंतर नहीं आया तो क्या कोई इस स्वतंत्रता को शहद लगाकर चाटेगा ?"[31] स्वतंत्र देश के शासन-तंत्र में कोई बदलाव नहीं आना, व्यक्तियों में आज़ादी की आत्मा का अभाव होना, सभी कुछ परतंत्रीय अवस्था के ढर्रे पर चलना कुंठा का आज भी मूल कारण बना हुआ है ।

आधुनिक शहरी जीवन में पिता का परिचित के रूप में परिणित हो जाना पारिवारिक कुंठा का कारण बनता है । पिता द्वारा सही निर्देश न मिलने पर सन्तान अनेक कुण्ठाओं के शिकार होने लगते हैं । युवा संतान से पिता जब स्नेह और मैत्री का सहसंबंध स्थापित नहीं कर पाते हैं तो अधिकतर संतान दिशाहीन हो जाती है । पितृ सत्तात्मक समाज में शिक्षित नारी अपनी योग्यतानुकूल कार्य करना चाहती है लेकिन उसकी प्रगति को जब पुरुष के रूप में पति रोकता है तो वह अनेक कुण्ठाओं की शिकार होती है । सामाजिक प्रतिष्ठानुकूल सम्मान न मिलने पर कुंठा जन्म लेती है । प्रियजन व्यक्ति की दूरी में निकटता की कल्पना का यथार्थ भी कुंठा का कारण बनता है ।

तनाव :

मानसिक खोखलापन संबंधगत विकास में एक बाधक तत्व है । प्रेम में संबंधगत दूरी और अलगाव का यह प्रमुख कारण बनता है । इसी कारण से "रूकोगी नहीं राधिका" का डेन और राधिका संबंध बनाये रखने में असफल होते हैं । डेन से संबंध बनाने में राधिका का उद्देश्य पिता को त्रास देना था तो दूसरी तरफ डेन का उद्देश्य राधिका के करीब आकर अपनी पहली पत्नी का गम भुलाना था । इससे आपसी लगाव की गहनता का अभाव संबंध में तनाव की स्थितियाँ उत्पन्न करता है । "डेन ने उसे रोका भी नहीं । वह भी जानता था और राधिका भी, कि दोनों के मध्य क्या अभाव था । कितनी रातें डेन ने बैठक में सोफे पर गुजारी थी, कितनी बार डेन को सोफे पर छोड़

बालकनी में आकर खड़ी हो गई थी ।"[32] इन्हीं विकट तनावगत स्थितियों को न झेल पाने के कारण डेन राधिका को मुक्त कर देता है ।

तनावगत दुःख घुटनभरी परिस्थितियाँ पैदा करता है । यदि घुटन पहले से ही हो तो तनाव और अधिक बढ़ जाता है । "डाक बंगला" उपन्यास की नायिका इरा के तनाव का कारण मानसिक अलगाव है । "मैं बहुत दुःखी हूं इन दिनों .... भरपूर सुख के बीच भी बहुत दुःखी हूं । इस खुले, पथरीले आँगन में खड़े होकर भी मेरी साँस घुटती है ।"[33] भौतिक सुख सुविधाओं के बावजूद इरा मानसिक रूप से असंतुष्ट है । अकेलेपन की उकताहट से परेशान होकर वह डॉक्टर से विवाह तो करती है किन्तु मानसिक और भावनात्मक स्तर पर वह उसे कभी प्रेम नहीं कर पाती । यही मानसिक अलगाव उसके जीवन में तनाव उत्पन्न करता है । व्यक्ति जब दूसरे व्यक्ति के साथ मानसिक रूप से जुड़ता है यानि कि वह प्रेम करता है तब उसके मन में यह आशंका बनी रहती है कि बदले में वह भी कुछ दे । लेकिन कुछ न दे पा सकने की स्थिति व्यक्ति को तनावग्रस्त करती है । यह तनाव मनःस्यूत संबंधों में और अधिक बढ़ता है । "एक इंच मुस्कान" का अमर रंजना से प्रेम तो करता है लेकिन रंजना के अगाध प्रेम के समतुल्य वह प्रेम नहीं दे पाता । "जिस प्यार का मैं प्रतिदान नहीं कर सकता, वह मेरे लिए बोझ बन जाता है ..... एक असह्य बोझ । इसी बोझ के नीचे मैं रात-दिन घुट रहा हूं ।"[34] यही संबंधगत बोझ का अनुभव अमर को तनावग्रस्त करता है ।

हर सफल आदमी दुनियाँ में भाग्यशाली माना जाता है किन्तु वास्तव में ऐसा होता नहीं है । "रेखा" उपन्यास के प्रो० प्रभाशंकर एक ऊँचे पद पर है किन्तु व्यक्तिगत स्तर पर उनका भावनात्मक पक्ष पिछड़ा ही है । इसका कारण यह है कि उन्हें रेखा से पूर्व किसी नारी का सच्चा प्रेम नहीं प्राप्त हुआ था । यह उनके जीवन का व्यक्तिगत दुःख था । "मनुष्य के जीवन की वास्तविक निधि है भावना । आज तक मुझे किसी ने अपना नहीं समझा, मैं किसी को अपना नहीं समझ सका, कितनी बड़ी विडम्बना है, जबकि हरेक आदमी मुझे भाग्यशाली समझता है, सफल समझता है ।"[35] रेखा को पाने से पूर्व जीवन की तनावग्रस्त स्थितियाँ रेखा को पा लेने के बाद समाप्त हो जाती है ।

जो व्यक्ति स्वयं से भागते हैं वे अपने जीवन में तनाव स्वयं पैदा करते हैं। "मुक्ति बोध" का सहाय कहता है "नीला तुम्हें मालूम नहीं है, मैं अपने से भागकर तुम्हारे पास आता हूं। तुम मुझे लौटाकर फिर घर गिरस्ती के मामलों में भेजती हो,"[36] सहाय विषम परिस्थितियों से घबराता है। सामना करने के बजाय पीछे हटता है। वस्तुत: अप्राप्त वस्तु भी संघर्ष के कारण थकान से तनाव का विषय बन जाती है। प्राप्त वस्तु से मिलनेवाली तृप्ति सुखकर होती है। जबकि अप्राप्त वस्तु से एक मानसिक उलझन और थकान की अनुभूति ही होती है। "औरतों को देखते या उनके बारे में सोचते रहने से जो मानसिक तनाव पैदा होता है, वह सिर्फ थकाता भर है। एक ऐसी थकान, जैसे तेज़ी से बहती हुई नदी को अनिमेष घूरते रहने पर आँखों को पथराती चली जाती है।"[37] यही तनावगत स्थिति वहाँ अधिक बढ़ जाती है जब वस्तु सामने होती है किन्तु प्राप्त नहीं किया जा सकता।

प्रतिकूल मानसिकतावाले व्यक्तियों में जब विचारात्मक विरोध होने लगता है तो संबंधगत दूरी बनने लगती है। विचार व्यक्ति की एक स्वतंत्र सत्ता है, लेकिन अपने विचारों को दूसरों पर लादा जाता है, या दूसरे व्यक्ति को भी उसी के अनुरूप ढालने की कोशिश होती है। यदि दूसरा व्यक्ति बदलने के लिए तैयार न हो तो तनाव की स्थिति आती है। "एक इंच मुस्कान" का कैलाश अपनी पत्नी अमला से कहता है "तुम भी जानती हो, पिछले कई दिनों से हमारे आपसी संबंधों में एक तनाव आ गया है, और हर छोटी-बड़ी घटना और बात ने उस तनाव को और अधिक बढ़ाया ही है। क्या अच्छा न होगा कि आज हम सारी स्थिति पर बहुत ही स्पष्ट रूप से बात कर लें और रोज-रोज के बढ़ते और परेशान करते इस मानसिक तनाव से मुक्ति पाएं ?"[38] इसी से क्रोध, झुंझलाहट और आक्रोश की स्थिति बढ़ती है। जिससे मुक्ति पाने के लिए व्यक्ति संबंध तोड़ने तक को तैयार हो जाता है।

जहाँ बंधन जैसी बात आती है वहाँ प्रेम और सृजन शक्ति का विकास नहीं हो पाता। "एक इंच मुस्कान" का अमर चूंकि एक लेखक है और बंधन लेखन शक्ति में बाधक तत्व होते हैं। अमला कहती है "मैं सोचती हूं, विवाह केवल एक बंधन है, एक फन्दा है जो प्यार का गला घोंट देता है। विवाह कर

लोगे तो तुम मर जाओगे, वह मर जायेगी, तुम लोगों का प्यार मर जाएगा। तुम्हारे जीवन में रह जाएगा एक मानसिक तनाव और उसके जीवन में रह जाएगी अविरल अंधकार।"[39] एक कलाकार व्यक्ति का जीवन जब बंध जाता है तो उसकी कला का सहज विकास नहीं हो पाता, वहाँ व्यक्ति कुण्ठित हो जाता है, क्योंकि उसके काल्पनिक जीवन की उड़ान ऊंची होती है और व्यवहारिक जगत् में वह कमजोर साबित होता है। यही कुण्ठा संबंध में तनाव की स्थितियों को जन्म देती है।

पती-पत्नी के संबंध में झगड़े के बाद की चुप्पी भी परस्पर तनाव का कारण बनती है। "दूसरी बार" का नायक इस स्थिति का अनुभव करता है। "चुप रहकर मैंने उसे भी चुप होने का मौका दे दिया था। वह रोई तो नहीं रही। मैंने देखा और जब यह विश्वास हो गया कि उसने सम्हाल लिया है तब अहिस्ता से जेब से निकाल मैंने सिगरेट सुलगायी जैसे इस सारे तनाव का अन्त यही होना था।"[40] नायक तनाव से मुक्ति पाने के लिए सिगरेट पीने का सहारा लेता है। सभ्य समाज में यह सभ्यता ही मानी जाती है कि व्यक्ति सिगरेट तब पीता है जब उसे अपनी सामाजिक हैसियत बतानी होती है या फिर वह तनावग्रस्त होता है। "दूसरी बार" के नायक का उद्देश्य हमेशा यही होता है कि वह बिन्दो को प्रताड़ित करे और स्वयं एक आत्मिक सुख का अनुभव करें। लेकिन हमेशा ही वह अपने आत्मिक उद्देश्य की असफलता के कारण तनावग्रस्त होता जाता है। यही तनाव उसके अधूरेपन की खाई को लगातार चौड़ा करता जाता है। "अजीब बात है कि मैं हर बार यह संकल्प करता हूं कि बिन्दो से बदला लेकर मै अपना अधूरापन खत्म कर दूंगा मगर हर बार यह अधूरापन कुछ और बढ़ जाता है।"[41] संबंध जब टूट जाते हैं तो एक घृणा छोड़ जाते हैं। इसी घृणा को लेकर जब "दूसरी बार" का नायक संबंध स्थापित करने की कोशिश करता है तो उसे लगता है कि -- "यह नहीं कि मेरे मन में बिन्दो के प्रति फिर से प्रेम पैदा हो रहा था या यह कि स्मृतियाँ वापस आ रही थीं। स्मृतियों के नाम पर कलह और तनाव के सिवा कुछ भी नहीं था। x x x यह भी नहीं कि सारी कटुता, सारी घृणा से मैं हल्का हो चुका हूं। मैं जानता

हूं यह जहर नहीं मरता । यह रंग बदलता है धोखे देता है, पर मरता शायद कभी नहीं ।"[42] किसी घृणा के कारण जो संबंधों में एक बार दूरी जन्म ले लेती है, दुबारा उसकी भरपाई कठिन होती है । अपनी पत्नी की ओर दुबारा लौटने की स्थिति उसे एक ओर तो अपनत्व का सहारा भी देती है तो दूसरी ओर अंतरमन में कहीं दबे हुए घृणा के बीज भी फूटते हैं । अतीत की तनावग्रस्त स्मृतियाँ उसके लिए तनाव तथा कलह का कारण बनते हैं ।

वैचारिक भिन्नता और पीढ़ी के अन्तराल से परिवार में भी तनाव की स्थितियाँ आती है । पुरानी पीढ़ी अधिपत्य करना नहीं छोड़ती और नयी पीढ़ी इसी के विरोध में संघर्ष करती है । "मुक्तिबोध" उपन्यास का सहाय पुत्री से कहता है -- "बको मत, अंजु, और अपना काम देखो । आइंदा ऐसी फिजूल की बकवास न हो मेरे साथ, समझी ? और तुम अगर नहीं जाती हो तो मैं ही चला जाता हूं और मैं यह बरदाश्त नहीं करूंगा ।"[43] वैचारिक भिन्नता के कारण सहाय और अंजु के बीच ऐसी असामान्य स्थितियाँ उत्पन्न होती हैं ।

अजनबीपन में भी एक तनाव की स्थिति होती है । अपने ही देश, अपनी ही जमीन से निष्कासित हो जाने के बाद व्यक्ति जिस अजनबीपन के तनाव को झेलता है वह "धर्म के नाम पर" उपन्यास में प्राप्त है । यह तनाव उस समय और तीव्र होता है जब व्यक्ति स्वयं को ही ज़मीन पर अजनबी हो जाता है । "धर्म के नाम पर" का एक पात्र कहना है, "नहीं, मुफ्त का तो नहीं खाते आनंद जी, पर गर्दिश आदमी को कितनी कायर बना देती है, यह कोई हम से पूछे, मानो हमारी रगों में आदमी का खून ही नहीं बहता । जिस पीढ़ी ने गर्दिश के यह वहशियाना नाज देखे हैं, वह जोखिम नहीं ले सकती, कम से कम मेरी पीढ़ी तो नहीं ।"[44]

दु:ख का एक प्रमुख कारण तनाव भी है । संबंधगत दूरी और अप्राप्त वस्तु तनाव का कारण बनते है । संबंध में झगड़े के बाद अधिक समय की चुप्पी भी तनाव का कारण बनती है । उद्देश्यों में होनेवाली असफलता और अलगाव से होनेवाला अकेलापन व्यक्ति को तनावग्रस्त कर देता है । वैचारिक विरोध,

अनिर्णय की स्थिति और आपस में होनेवाली असामान्य स्थितियाँ तनावगत दु:ख का कारण बनते हैं । यही तनाव व्यक्ति की असहजता में भी झलकता है।

पाप की भावना :

व्यक्ति जब अपनी ही नियति एवं परिस्थितियों में असहाय हो जाता है तो अक्सर दूसरे के प्रति प्रताड़ या पाप की भावना का जन्म होता है । इसमें ईर्ष्या का भी योगदान होता है ।

"दूसरी बार" का नायक "मैं" हीन-भावना का शिकार है । नायक का उद्देश्य बिंदो को दु:ख पहुंचाना ही है । बिन्दो जो उसकी पत्नी थी उसे वह खुश देखता है तो उसे दु:ख होता है और जब वह रोती है तो उसे खुशी होती है । नायक को खुशी इस बात की होती है कि वह बिन्दो को कुछ तो दु:ख दे सका । "...... मैंने बिन्दो को अनजाने में दु:ख नहीं पहुंचाया था - दु:ख तो मैं पहुंचाना चाहता ही था । मुझे उसके नतीजों के लिए तैयार रहना चाहिए था, बल्कि मुझे तो पहले ही सोच लेना चाहिए था कि इसका नतीजा यह होगा और ऐसी हालत में मैं यह करूंगा ।"[45] नायक के मन में पाप की भावना उपजने का कारण है कि वह बिन्दो (पत्नी) का प्रेम नहीं पा सका । क्योंकि वह स्वयं प्रेम करने में असमर्थ है । नारी मन की भावना को कुचल कर प्रेम का आकांक्षी "मैं" जीवन में अकेला और दु:खी होकर घृणा और प्रतिशोध की भावना से ग्रस्त हो जाता है । प्रतिशोध की भावना के बावजूद इंसानियत के कुछ अंश उसे रोकते भी हैं किन्तु बदले की भावना के कारण वह बार-बार बिन्दो को अपमानित करता है लेकिन उससे अधिक स्वयं हताहत होता जाता है । इसी नीचता के कारण अपराधबोध का दु:ख उसे सहना पड़ता है । यह सच है कि जीने की प्रक्रिया में व्यक्ति इतना व्यथित हो जाता है कि वह अपना आपा खो बैठता है । वह कहीं न कहीं अपनी योग्यता खो बैठता है । व्यक्ति अपने विरोध से लड़ने के लिए बहुत कुछ करना चाहता है लेकिन स्वयं में इतना बंधा होता है कि कुछ कर नहीं सकता । सिर्फ अन्तर में बड़बड़ाकर शान्त हो

जाना तथा मानसिक स्तर पर पाप की भावना का उद्बोधन ही उनकी नियति होती है । "कभी-कभी आसमान पर थूकने की, चींटी को कुचलने की और ज़ोर से चिल्लाने की इच्छा होती है । रोशनी में उफनते हुए, ठीक ऐसी ही इच्छा हो रही थी । मगर मैं चिल्ला नहीं रहा था, रो रहा था । गर्म आँसू मेरे गालों पर लुढ़क रहे थे । चेहरा मैंने दीवार की ओर कर लिया था ताकि बिंदो यह हालत देख न सके । अगर मेरा बस चलता तो मैं बिन्दो का गला घोंट देता ।"[46] "दूसरी बार" के नायक की यही मनःस्थिति है, जहाँ वह पाप-भावना को मन में दबाये स्वयं में कुंठित होता है ।

भारतीय समाज में रूढ़ नैतिकता व्यक्ति को परम्परावादी बना देती है । नैतिकता व्यक्ति की स्वच्छंदता और उन्मुक्तता को अनुशासित करती है । "पाप की तरह नैतिकता भी नशा है । नैतिकता भी आदत है । नैतिकता भी आदमी को गुलाम और अंधा बनाती है । जैसे किसी औरत का प्यार अंधा बनाता है । x x x नैतिकता एक ऐयाशी की आदत के सिवाय क्या है ?"[47] खोखली नैतिकता के कारण ही निर्मल के मन में पाप की भावना जागती है । इसी कारण कल्याणी, शीरीं और प्रिया तीनों ही निर्मल की बीमार मानसिकता के शिकार बनते हैं । हर बार ग्लानि और अपराधबोध जैसा भाव निर्मल को दुःख पहुँचाता है ।

सामाजिक नियमों को तोड़ने पर भी व्यक्ति में "पाप-बोध" जन्म लेता है । "रेखा" उपन्यास की रेखा अपने पति प्रभाशंकर के होते हुए अन्य पुरूष (निरंजन) से संबंध बनाती है । लेकिन जब यह बात प्रभाशंकर की जानकारी में आती है तो अपने इस सामाजिक अपराध के कारण शर्मिंदा होती है और कहती है "मुझे और मारिये । मैंने पाप किया है, जितना चाहिए मुझे मारिये, जैसा चाहे मुझे दण्ड दीजिए, मैं उफ न करूँगी ।"[48] इस दण्ड को स्वीकार कर वह प्रायश्चित करती है । अपने व्यक्तिगत सुख के लिए नारी विवाह के बाद दूसरे पुरूष से संबंध स्थापित करती है, लेकिन सामाजिकता और नैतिकता का प्रभाव उसके मन पर अधिक होता है इसलिए वह अपराध बोध की भी शिकार होती है ।

असामाजिक कार्यों का प्रभाव जब नियमबद्ध, सुसंस्कृत सामाजिक व्यक्ति पर पड़ता है तो दुःख होता है। "राग-दरबारी" के पात्र ग्रामप्रधान के अनैतिक प्रभाव में वहाँ के स्कूल मास्टर परेशान हो जाते हैं। "..... मास्टर साहब, अभी कुछ हुआ नहीं है, चुपचाप शिवपाल गंज छोड़ कर चले जाओ, नहीं तो कुछ उल्टा-सीधा हो गया तो तुम्हारे घरवालों को दुःख होगा। इस तरह की सलाह और लोग भी दे चुके हैं। शायद प्रिंसिपाल हम लोगों को पिटवाना चाहता है। समझ में नहीं आता कि क्या करें ?"[49] स्वार्थ सुख में बाधक इन पात्रों के विरोध में ग्राम-प्रधान के तंत्र की पाप-भावना कर्मठ स्कूल मास्टरों के दुःख का कारण बनती है।

पाप की भावना जब मन में छिपी होती है तो वह व्यक्ति स्वयं कुंठाओं का शिकार होता है। अवसर मिलने पर वह दूसरों को प्रताड़ित करने में सुख का अनुभव करता है। बीमार मानसिकता और अनैतिक कार्य भी अपराध बोध की भावना को जन्म देते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि व्यक्ति स्वयं भी दुःखी होता है और दूसरों को भी दुःखी करता है।

अलगाव / अकेलापन :

अलगाव के कारण परिवार का टूटना भी सातवें दशक की एक प्रमुख नियति रही है। आदर्श घर की व्याख्या निर्मल वर्मा के व्यक्तिवादी व अलगाववादी उपन्यास "वे दिन" में इस प्रकार मिलती है कि "कुछ घर होते हैं, जिनके भीतर आकर भी लगता है कि हम बाहर खड़े हैं। दरवाजे का खुला रहना कोई भी मानी नहीं रखता।"[50] यानि घर सिर्फ चार दीवारी का ही पर्याय नहीं होता बल्कि उसकी चौखट के भीतर भी एक आत्मीय जीवन होना अनिवार्य है। भौतिकवादी जीवन पद्धति में व्यक्ति का व्यक्ति के साथ क्षणिक संबंध "डाक-बंगला" उपन्यास में डाक-बंगले के प्रतीक के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। "कितने अपने और साथ ही कितने बेगाने होते हैं डाक बंगले ! मुसाफिर आते हैं और चले जाते हैं .....।"[51] व्यक्ति के जीवन में आत्मीयता

या अपनत्व की कोई भावना शेष नहीं रह गई । सभी मानवीय जीवन डाक बंगले का पर्याय बने हुए है । "मछली मरी हुई" में तो यह अलगाव व्यक्तियों के बीच पाया जाता है । जहाँ निर्मल शीरों को एक फ्लेट समझता है जहाँ पर रात को सोया जा सकता है । व्यक्तिवाद, भौतिकवाद तथा मशीनीकरण का ऐसा अमानवीय प्रभाव साठोत्तरी परिवेश की नियति है ।

"रेखा" उपन्यास का एक पात्र शिवेन्द्र कलाकार है । वह रंगों के माध्यम से जीवन की विभिन्न अलगाववादी प्रवृत्तियों को चिह्नित करता है। उसी के अनुसार "मैं सच कहता हूं कि मेरे अन्दर संतोष नहीं है, शान्ति नहीं है । मैं देख रहा हूं कि जीवन में न जाने कितने रंग है -- तेज़ी के साथ बदलते हुए । कौन रंग सच्चा है कहा नहीं जा सकता, शायद हरेक रंग अपनी-अपनी जगह पर सच है । लेकिन फिर एक मुसीबत खड़ी हो जाती है, किस रंग को जीवन के किस भाग का प्रतीक माना जाए ? यही नहीं, इन रंगों में भी तो कहीं कोई तारतम्य नहीं है, कहीं-कहीं तो वे एक-दूसरे के नितांत विरोधी दीखने लगते हैं तो मेरा दुर्भाग्य यह है कि मैं जीवन के उन रंगों से उलझा हुआ हूं । उन्हें सफलतापूर्वक चित्रित कर रहा हूं ।"[52] व्यक्ति का समकालीन जीवन इस हद तक एक से दूसरी परिस्थिति के बीच विभाजित है कि उनका समायोजन कठिन होता है । नितान्त भिन्न, विरोधी परिस्थितियों का कहीं भी आपस में नाम मात्र को भी तारतम्य नहीं होता । अलगाव की यह परिचित स्थिति व्यक्ति के जीवन में दु:ख ही घोलती है ।

वृक्ष और पक्षियों की भाँति व्यक्ति में स्थिरता नहीं आ पाती है वह घर बना कर भी भटकता है और अनिश्चय की परिणति को प्राप्त होता है । "मुक्तिबोध" उपन्यास में सहाय के विचार से "मैं कहाँ हूं ? मालूम होता है कहीं भी नहीं हूं अनिश्चय में हूं और अधर में हूं । पक्षी उड़ते हैं । वृक्ष जड़ें डालकर अपने एक जगह खड़े रहते हैं । आदमी घर बनाता है, इधर-उधर भी चलता-फिरता है । घोंसले की तरह उसका घर एक नहीं हो सकता । मालूम होता है कि उत्कट जीवन उतना ही गतिमय होगा । स्थितिनिष्ठ शायद उस जकड़ में जड़ पड़ता जाएगा ।"[53] अनिश्चय की स्थिति व्यक्ति के अकेलेपन की स्थिति होती है ।

परिवार में स्वयं की अस्तित्वहीनता आत्मनिर्भरता का बोध जागृत करती है । जहाँ एक-दूसरे की जरूरत समाप्त हो जाती है वहाँ स्वतः ही पति-पत्नी के संबंध में पृथकता आने लगती है । जब संबंधगत लगाव कम होने लगता है तो अलगाव की स्थितियाँ जन्म लेने लगती है । "अँधेरे बंद कमरे" की नीलिमा अपने पति हरबंस से कहती है "तुम जानते हो कि तुमने मुझे कितना महसूस कराया है कि तुम्हें मेरी जरूरत नहीं है । ब्याह के बाद से ही तुम मुझे ऐसा महसूस कराते रहे हो । मुझे लगता है कि तुम मेरी वजह से ही परेशान रहते हो ।"[54] फिर भी तुम आप तक मुझे नहीं जान सके । तुम्हीं क्या कोई भी मुझे आज तक नहीं जान सका । जो भी जानता है, ऊपर-ऊपर से ही जानता है । मैं अन्दर से क्या हूं, यह कोई भी नहीं समझ सकता ।"[55] लगभग यही त्रासदी सभी पात्रों के साथ मिलती है । उनके दुःख और अकेलेपन का कारण यही है कि भीतर छिपी सच्चाई की तह तक कोई पहुंच नहीं पाता । इसी वजह से गलत धारणाएं जन्म लेने लगती हैं । इसी के प्रभाव से एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से कटता जाता है और अकेला होने लगता है । नीलिमा का दुःख अकेले होने से अधिक उसे गलत समझा जाने के कारण ही है ।

आधुनिक, गतिशील जीवन की यह भयानक त्रासदी है कि वह उस समय कुंठित रूप से अकेलेपन को महसूसता है जब उसके पास ऐसा व्यक्ति नहीं होता जिसे वह अपना कह सके । हजारों किस्म की व्यस्तताओं के बावजूद व्यक्ति के जीवन में वह क्षण भी आता है जहाँ वह अपने अकेले क्षणों में अपनत्व की तलाश करता है। "अँधेरे बंद कमरे" का हरबंस पाँच हजार मील दूर रह रही नीलिमा के लिए सोचता है, "मैं अपने को बहुत अकेला महसूस करता हूं । क्यों ? यह अकेलापन पाँच हजार मील की दूरी के कारण नहीं है, और न ही शारीरिक प्राप्ति के अभाव के कारण । यह अकेलापन वर्षों से मुझे अन्दर ही अन्दर कीड़े की तरह खा रहा है और खाता जायेगा जब तक कि तुम सचमुच ही मेरी मित्र न बन सको, या कि कोई और न बन सको ।"[55] हरबंस एक बौद्धिक प्राणी है जिसे अपनत्व के अभाव में अकेलेपन का दुःख होता है ।

अकेलेपन से बचने के लिए व्यक्ति व्यस्त रहना पसंद करता है । अतीत या वर्तमान का दुःख उसे सालने न लग जाय इस कारण वह व्यस्तता में स्वयं को

भ

भुलाये रखना पसंद करता है । "उसका शहर" उपन्यास में प्रो० दशानन कहता है "मैंने अपने को कभी महसूस नहीं होने दिया । इतना व्यस्त रहना पड़ता है कि मुझे खुद अपनेपर का ही एहसास नहीं होता ।"57 दशानन जब अकेलेपन से बच नहीं पाता है तो स्वयं को भुलाये रखने के लिए व्यस्त रहना पसंद करता है और जब खाली समय मिलता तो लूपिका के टेप किये गये पत्रों के माध्यम से वह भावनात्मक अनुभव प्राप्त कर अकेलेपन के बोध को कम करता है । "मसलन उसने अपने टेप रेकार्डर पर लूपिका के सारे पत्र टेप कर लिए थे और अक्सर शाम को जब बेहद थका होने पर वह विश्वविद्यालय से लौटता तो टेप किए हुए पत्रों को सुना करता ।"58 प्रो० दशानन के जीवन में लूपिका के टेप किये हुए पत्रों से बढ़कर और कोई विकल्प शेष नहीं रह गया था जिसमें कि खालीपन के दुःख को भरा जा सके । "मछली मरी हुई" की कल्याणी के पास व्यक्ति रूप में कोई साथ नहीं है । किसी के साथ न होने की थकान तथा ऊब उसे विकट परिस्थितियों तथा अनोखी इच्छाओं की ओर प्रवृत्त करती है । वह कहती है "नर कंकाल ही सही, एक नर का साथ तो रहता है ।"59 अकेलेपन की ऊब से ही वह एक नर-कंकाल को शो-पीस के रूप में अपने घर में रखती है ।

व्यक्ति अपने परिवेश से चाहे कितनी ही सुख-सुविधाएं प्राप्त कर ले, वह अपनी हैसियत में चाहे कितना ही भौतिक जीवन का सुख प्राप्त कर ले, अंतत: उसे अकेला ही मरना होता है । कब्र में हर व्यक्ति अकेला ही दफ़न होता है । ऐसे अकेलेपन का सोच "मछली मरी हुई" में प्राप्त होता है । "कल्याणी अपनी कब्र में कितनी अकेली है । हम सभी अपनी-अपनी जिन्दगी के कैदखाने में कितने अकेले हैं । उम्र की कैद । अरमानों की कैद । कैद सपनों की । कैद बीते हुए की और होनेवाली घटनाओं की । तीस मंजिल का स्काई-स्क्रेपर हमारा दोस्त हो सकता है ? क्या हमदर्द हो सकती है दवाएं ? इन्जेक्शन, आपरेशन-थियेटर, मरीज़, तरह-तरह की बीमारियाँ ? साथ दे सकते हैं नाच, गाने, जलसे ? किताबें साथ दे सकती ?"61 व्यक्ति अपने मूल जीवन में एक कैदी की तरह अकेला ही होता है ।

समाज से धीरे-धीरे अलग होने की नियति "विपात्र" के जगत् में मिलती है । जगत् अपने व्यवहारिक जीवन में असफल रहता है । वह व्यवहारिक

सच्चाई की तह में नहीं पहुँच पाता इसीलिए उनकी चकाचौंध में सिर्फ स्वप्निल जीवन ही बिताता है । "जगत की सच्चाई सिर्फ सपना दे जाती थी और लेखक न होने के कारण तथा कार्यकर्ता न होने के कारण या क्रियाशील न होने के कारण, वह उन सपनों में डूबकर निःसंग अन्तर्मुख जीवन व्यतीत करता था ।[62] अधिक विदेशी ज्ञान के कारण समाज में कोई भी उसको समझ नहीं सकता । अन्य लोग उसे अव्यवहारिक समझते और वह स्वयं को अकेला महसूस करता । पीढ़ियों के मध्य संस्कारगत अन्तराल एक व्यथा को जन्म देता है । स्वातंत्र्योत्तर समाज में यह स्थिति विकट रूप से दिखाई देती है । पीढ़ी का यह संघर्ष सातवें दशक के कई उपन्यासों में मिलता है । ऐसे संघर्ष में अधिकांशतः नई पीढ़ी का रूढ़ परम्पराओं के प्रति विरोध प्राप्त होता है । "मुक्तिबोध" उपन्यास में अंजु पिता से कहती है -- "नहीं बाबूजी, आप अब तक अपनी चलाते रहे । माँ पिसती रही और हम जो बन सकते थे नहीं बन सके । सिर्फ इसलिए कि आपने अपने का माना हमको साथ नहीं माना ।"[63] यही स्थितियाँ परिवार में संतान को अकेलेपन का बोध कराती है ।

मुख्य रूप से द्वन्द्वात्मक स्थिति सातवें दशक के उपन्यासों के पात्रों में मिलती है जो सुख-प्राप्ति की इच्छा रखते हुए भी दुःखद स्थितियों को झेलते रहते हैं । "अँधेरे बंद कमरे" का हरबंस विदेश में स्थितअपनी पत्नी नीलिमा से कहता है "तुम चली आओ, जरूर चली आओ । मैं वहाँ से तो अकेला आने के लिए बेचैन था और अब यह सोच-सोचकर बेचैन हूँ कि तुम मेरे पीछे अकेली कैसे रहोगी ।"[64] हरबंस की मानसिक अस्थिरता से द्वन्द्वात्मक स्थिति का ही अवलोकन होता है । अधिकतर होता यह है कि व्यक्ति जब साथ होता है तो उसकी उपयोगिता समझ में नहीं आती । इसीलिए नीलिमा जब साथ होती है तब तक अलगाव होता है जब साथ नहीं है तो लगाव होता है । आपसी समझदारी की कमी के कारण भी अकेलेपन की स्थिति आने लगती है । नीलिमा कहती है "हमारी जिंदगी की जरूरतें बिल्कुल अलग-अलग हैं और कितनी भी कोशिश करें, हम एक-दूसरे की ज़रूरतों को पूरा नहीं कर सकते । मैंने तुमसे कहा था कि तुम मुझे ठीक से नहीं जानते ।"[65] वैचारिक भिन्नता के कारण संबंध में अलगाव और अकेलेपन की स्थितियाँ आने लगती है ।

अलगाव या अकेलापन व्यक्ति का चयन नहीं है। अधिकांशत: व्यक्ति परिस्थितिवश भी अकेले जीने का समझौता करना पड़ता है। परिस्थितिवश होनेवाले अलगाव में लगाव टूटता नहीं है बल्कि दब जाता है। "एक करोड़ की बोतल" उपन्यास में इंदु रंजीत से कहती है "क्या तुम भी मुझे बीस वर्ष इन्तजार कराना चाहते हो ? हो सकता है, जब तक तुम कई वर्षों के बाद मेरे पास आओ तो मैं किसी दूसरी को हो जाऊं।"66 प्रेम में समीपता के स्थान पर दूरी दु:ख का कारण बनती है। कुछ वर्षों तक अकेले जीवन जीने का फैसला परिस्थितियोंवश दु:ख का कारण बनता है। परिस्थितियों वश ही व्यक्ति अपने लिए सीमाएं बना लेता है और उसमें बंधकर अकेला हो जाता है।

इस बात को नकारा नहीं जा सकता कि अकेलापन व्यक्ति के दु:खद जीवन को दर्शाता है। अपने परिवार में भी अकेलेपन की उदासीनता को दूर न कर पाने की स्थिति ने ही समाज में पार्टियों, मीटिंगों, सामूहिक प्रीति-भोज आदि सामूहिक जमाव के माध्यम उपजते हैं। "विपात्र के पात्रों की पात्रहीनता अकेलेपन का ही बोध कराती है। "हम जो यहां बीस थे, वे चाहे, परिवार में ही क्यों न रहें अपने को अकेला, किसी शाखा से कटा हुआ और अधूरा महसूस करते थे। और अपने अकेलेपन की वेदना से भागने के लिए, वक्त काटने को एक तरकीब के तौर पर, सामूहिक भोजन, सामूहिक पार्टी, गपबाजी, महफिलबाजी का आसरा लिया करते।"67 एक बोझ एक विवशता के रूप में शहरी व्यक्ति का पार्टियों या महफिलों में शामिल होना उनके लिए दुविधा की स्थिति बनता है। बौद्धिक व्यक्ति अपने अकेलेपन को दूर करने के लिए पार्टी का सहारा तो लेता है लेकिन वह इन माध्यमों से घृणा भी करता है। "आज यदि मनुष्य का अकेलापन दु:खान्त आयाम ग्रहण कर गया है तो वह भी मनुष्यों के आपसी रिश्तों के ही संदर्भ में। मनुष्य अकेला है इसीलिये उसके जीवन में ट्रेजिडी है, ऐसा कभी नहीं होता, मनुष्य अकेला है। मानवीय संबंधों के संदर्भ में है, और यह संदर्भ बदलते रहते हैं। इन्सान जहाँ अकेला है ~~बल~~ वहाँ वह अपने अकेलेपन को तोड़ने के अनेक रास्ते भी खोजता रहता है, उसके विरूद्ध संघर्ष भी करता रहता है ..."68

"विपात्र" उपन्यास में इसी स्थिति को मुक्तिबोध ने चित्रित कर सफेदपोशों के नकाब को छिन्न किया है। " ... जिन्दगी कैसे जीयी जाये,

सब लोगों के अलग-अलग ख्याल थे । सब एक-दूसरे से अलग थे और हर एक में ऐसा गहरा अकेलापन था, जिसे काटने के लिए मसालेदार गपबाजी के अलावा कोई दूसरा रास्ता नहीं दिखाईदे रहा था । महफिलबाजी के बावजूद, उनके अकेलेपन की गहराइयाँ बड़ी ही अँधेरी और निजी थीं । इस माहौल में सब लोग यदि एक दूसरे की सहायता भी करते तो भी काटने के लिए दौड़ते । एक-दूसरेको टाँग खींचना एक मामूली बात थी । एक अजीब कैद थी, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपने-आपको विफल अनुभव कर रहा था ।"[69] यह एक सामूहिक अकेलेपन तथा अजनबीपन का दु:ख है ।

महानगरीय जीवन का अकेलापन और छोटे शहर के जीवन में पाई जानेवाली दखलअंदाजी दोनों ही दु:ख का विषय बनती है । बड़े शहर में व्यक्ति इतना अधिक व्यस्त रहता है कि उसे दूसरे की ज़रूरत से कोई वास्ता नहीं होता चाहे वह पड़ोसी ही क्यों न हो । "भटियाली" उपन्यास में इसी तरह का दु:ख मिलता है "शहर जितना ही बड़ा हो उतना ही निर्वैयक्तिक हो जाता है, किसी को किसी से कोई मतलब नहीं होता, हर आदमी भीड़ में है और अकेला है और अपने काम से काम रखता है । छोटे शहर में हर आदमी दूसरे के पाजामें में अपनी टाँग घुसेड़े रहता है, अपने से ज्यादा उसे दूसरे की चिन्ता खाये डालती है । हर आदमी हर वक्त खिड़कियों से, झरोखों से, दरवाजों की संधियों में से हर दूसरे आदमी के घर के भीतर झाँक रहा होता है । पर तकलीफ में कोई किसी का साथ नहीं देता ।"[79] महानगरीय जीवन का अकेलापन और छोटे शहर का तंग माहौल दोनों ही व्यक्ति को उबा देते हैं । ऐसी परिस्थितियों में दु:ख अधिकतर परिवेशगत होता है ।

व्यक्ति के जीवन में ऐसे क्षण भी आते हैं जब वह वस्तु की इच्छा रखता है तब वह प्राप्त नहीं होती बल्कि उन्हीं परिस्थितियों में वह अजनबी वस्तु प्राप्त हो जाती है जिसकी उसने कभी कल्पना नहीं की थी । साथ ही वह उस वस्तु को नकार भी नहीं सकता । उसकी परिस्थितियाँ ही कुछ ऐसी बनी होती है कि वह अपने वर्तमान के प्रति विवश हो जाता है । क्योंकि अलगाव या अकेलेपन को व्यक्ति जीवन में कम करने की ही कोशिश करता है । "वे दिन" उपन्यास का नायक जीवन भर ऐसी ही स्थितियाँ भोगता है । " ... मुझे

ऐसा ही "अनुभव" हुआ था । उसे अनुभव भी कहना गलत है । वह कुछ ऐसा था जिससे सिर्फ "विस्मय" होता है । तुम बहुत से दरवाजों को खटखटाते हो खोलते हो और उनके परे कुछ नहीं होता - जिन्दगी भर । फिर अकस्मात कोई तुम्हारा हाथ खींच लेता है .... उस दरवाजे के भीतर ... जिसे तुमने नहीं खटखटाया था । वह तुम्हें पकड़ लेता है और तुम उसे छोड़ नहीं सकते"[71]। "मछली मरी हुई" के निर्मल के अकेलेपन की पीड़ा इस तरह है "निर्मल पद्मावत छत के अँधेरे में भटकता रहता है । हाथ में छड़ी भी नहीं है । पाँवों में दर्द उभरने लगा है । आँखें बन्द हो जाना चाहती है । कण्ठ सूख रहा है । पानी नहीं है । अँधेरे की इस नदी में एक बूंद पानी नहीं है । एक बूंद भी नहीं।"[72] निर्मल के चरित्र में एक प्रकार का मानसिक अकेलापन विकट रूप में प्राप्त होता है । वह कहीं भी अपने आपको जोड़ नहीं पाता । यही आंतरिक दुःख तथा अलगाव उसके जीवन में भटकाव लाता है । अँधेरा व्यक्ति के अकेलेपन को और अधिक बढ़ाता है और यही अँधेरा व्यक्ति के जीवन पर हावी हो जाता है और दुःखी करता है ।

अकेलेपन की गहनतम स्थिति में व्यक्ति मरने और मारने को तैयार हो जाता है । "अपने-अपने अजनबी" की योके अकेलेपन से घबराकर सेल्मा की हत्या करने की कोशिश करती है । उसके मन में सवाल उठता है "इस चरम अकेलेपन और स्वयं मृत्यु में क्या अन्तर है ?"[73] और कहती है, "हम इतने भी स्वतन्त्र नहीं हैं कि अपना अजनबी भी चुन सकें .."[74] अजनबीपन का दुःख संबंधगत अलगाव में भी मिलता है । "अँधेरे बंद कमरे" की नीलिमा और हरबंस की स्थिति जाने-पहचाने अजनबी जैसी है । "हम आज तक भी एक-दूसरे के लिए अजनबी थे, मगर इस बात को मानना नहीं चाहते थे । अब आगे के लिए इतना ही फर्क होगा कि हम इस बात को मानकर रहेंगे ।"[75] लेकिन यह सच है कि अकेलेपन में व्यक्ति को सुख और दुःख की सही पहचान होती है । "भारत जैसे अर्धविकसित देशों में अलगाव या अजनबीपन यहाँ की कुछ विकसित यांत्रिकता और दूसरी ओर सामाजिक पिछड़ापन । यह विरोधाभास यहाँ के व्यक्तियों की मानसिकता में विशेष अलगाव की भावना भरता है।"[76] इस प्रकार का अलगाव

सातवें दशक की मूल नियति रही है । यह दशक वस्तुत: विकास की प्रक्रिया से गुज़रता हुआ विनाश का दशक रहा है । एक ओर तो सब कुछ नया बन रहा था और दूसरी ओर एक अनोखा अजनबी विकास हो रहा था । इस द्वन्द्वात्मक स्थिति में व्यक्ति की मन:स्थिति लगातार डोलती ही रही और वह निरंतर अकेला होता रहा ।

मानसिक अव्यवस्था :

व्यक्ति अपने जीवन की सापेक्षता में जो भी अपनी रूचि के अनुसार करता है वह उसकी मानसिक व्यवस्था का द्योतक होता है । कभी-कभी समय, परिस्थितियाँ एवम् जीवन के विभिन्न संदर्भ व्यक्ति की दैनिक जीवनचर्या को डगमगा देते हैं तब उसमें कुण्ठा, तनाव, क्रोध आदि भाव उपजते हैं । इन्हीं भावों की विकसित परिणति मानसिक असन्तुलन या अव्यवस्था होती है । मानसिक अव्यवस्था व्यक्ति के पागलपन की वह स्थिति है जहाँ पर वह अपनी चेतनावस्था से कुछ दूर स्तर पर हट जाता है । जब अपने भौतिक जीवन से व्यक्ति जुड़ नहीं पाता तब उसके मन में तरह-तरह के अस्पष्ट तथा अव्यवस्थित विचार आते हैं । इस स्थिति में व्यक्ति या तो स्वयं में बड़बड़ाता है या फिर कोई अपेक्षित कार्य करता है ।

अनपेक्षित व्यवहार व्यक्ति के मानस पर कुप्रभाव ही डालता है । "मछली मरी हुई" की शीरीं निर्मल से कोमल व्यवहार की अपेक्षा करती है लेकिन इसके विपरीत निर्मल अपनी कठोरता से उसे प्रताड़ित करता है । निर्मल के गुस्से से "उसे यही लगता है, जैसे निर्मल उसे किसी अँधेरी गुफा में धकेलता लिये जा रहा है । मौत की अँधेरी गुफा । गुफा में जहरीले जानवर हैं । साँप ही साँप हैं और वह समुद्र से निकाली गई कोई मछली बन गई है । नीली मछली बेहोश मछली । पानी के लिए तड़पती हुई मछली । मगर गुफा अँधेरी है । गुफा में साँप ही साँप हैं । जहरीले साँप । रोशनी की कोई किरण कहीं बाकी नहीं है ।"[77] शीरीं को प्रेम के बजाय निर्मल का क्रोध मिलता है । इसी व्यवहार के

कारण उसकी मानसिकता पर भयानकता और जहरीलापन छाने लगता है । गुफा "अंधेरापन, और साँप के बिम्ब उसके पतन और भय को ही दर्शाते हैं । पुरूष की क्रूरता न सह सकने के कारण ही वह स्त्रियों से संबंध बनाती है । इसमें उसके यौन जीवन का सहज स्वरूप विकृत हो जाता है और अनेक तरह की मानसिक विकृतियों की शिकार होने लगती है ।

मानसिक अव्यवस्था का दूसरा स्वरूप संबंधगत अपूर्णता में भी मिलता है । जहाँ पर साथ रहने और साथ सहने के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं रह जाता । पति-पत्नी का परस्पर प्रतिकूल स्वभाव संबंध पर प्रतिकूल प्रभाव डालने लगता है । यही स्वभावगत भिन्नता जब संबंध पर हावी होने लगती है तो मानसिक असंतोष ही व्यक्त होता है । "अंधेरे बंद कमरे" की नीलिमा अपने पति हरबंस से दूर पेरिस की होटल में रहते हुए यह सोचती है कि "वह हरबंस के स्वभाव से दु:खी रहती थी और हरबंस उसके स्वभाव से । फिर भी साथ-साथ रहने की मजबूरी थी जिससे वे निकल नहीं पाते थे । हरबंस उसे अपनी तरह गंभीर देखना चाहता था और वह चाहती थी कि वे हर समय अपने इर्द-गिर्द एक उल्लास और थिरकन महसूस कर सकें । वे दोनों जैसे एक ही घेरे में दो विपरीत दिशाओं में घूमते हुए नक्षत्र थे जो न तो उस घेरे से निकल सकते थे और न ही अपनी दिशा बदल सकते थे । उनके लिए साथ रहना भी अनिवार्य था और विपरीत रहना भी ।"[78] साथ रहने की आवश्यकता और साथ न सह पाने के दु:ख के द्वन्द्व से होनेवाली मानसिक अस्थिरता ही सातवें दशक का मुख्य दु:ख रहा है ।

भयानक विचार स्वयं ही मानसिक अस्थिरता का कारण बनते हैं । "दूसरी बार" के नायक का दु:ख उसकी पत्नी बिन्दो द्वारा ही नहीं बल्कि उसके भयानक विचारों का भी योगदान है । बिन्दो का विचार आने से ही उसे आसमान पर थूकने, चींटी को कुचलने और ज़ोर से चिल्लाने की इच्छा होती है । ऐसा करने के बजाय वह केवल रो ही पाता है । नशे में उसकी मानसिक भयानकता स्पष्ट रूप से उभरती है । "नशे में प्रतिहिंसा स्वप्न चित्र का रूप बदलकर आती है । मेरे दिमाग में केवल एक ही तसवीर थी और वह थी बिंदो

को नष्ट करने की ।"[79] नायक की यह हिंसात्मक भावना व्यवहारिक रूप नहीं ले पाती है । लेकिन नशे की धुन में वह बिन्दो से माफी माँगता है । एक तरफ हिंसा की भावना और दूसरी तरफ माफी माँगना यह दो धुरियों पर झूलती मानसिकता उसे लिए कष्ट का कारण बनती है ।

सामाजिक नियमों के दबाव में व्यक्ति को जब खुलापन नहीं मिल पाता तो वह अप्रत्यक्ष रूप से अपनी इच्छाएं पूर्ण करना चाहता है ताकि समाज के आगे उसका आदरणीय रूप भी बना रहे और इच्छाओं का दमन भी न हो । यह सच है कि स्वयं से पराजित होनेवाला व्यक्ति हीन-भावना का शिकार होने लगता है । यही हीनता व्यक्ति का नैतिक पतन करवाती है । नारी के प्रति आक्रोश और अपशब्दों का प्रयोग प्राय: ऐसे ही लोग करते हैं । "भागे हुए लोग" का साधु यह मानता है कि "... अपनी आत्मा के द्वारा प्रताड़ित और बाहरी प्रपंचों के द्वारा पराजित होनेवाला हर पुरुष ऐसा ही करता है। जो भी पुरुष और लोगों के लिए अपशब्द और अश्लील गालियों का उच्चारण करता है, वह अन्दर ही अन्दर सिर्फ अपने को ही प्रताड़ित कर रहा होता है । अपनी क्षुद्रता से पीड़ित होता रहता है ।"[80]

"भागे हुए लोग" के साधु साधुता की आड़ में भौतिक सुख की ही पूर्ति करते हैं । अन्य व्यक्ति पर आक्रोश जतला कर व्यक्ति अधिकतर अनजाने में अपनी ही क्षुद्रता, अपनी ही हीनता व्यक्त करता है । जिसका बोध होने पर कुछ न कर पा सकने की पीड़ा से मानसिक परेशानी ही होती है । "जो पुरुष आक्रोश में अपनी ममता और सहनशीलता की जड़ उखाड़ फेंकता है, वही हमेशा आँधी में उखड़े हुए पेड़ की तरह अपने ही अन्दर, अपने ही ऊपर गिरता रह जाता है । ऐसा ही उखड़ा हुआ पुरुष बार-बार सन्यास और बाह्य - प्रपंचों की शरण खोजता फिरता है ।"[81] अपने सुख को अपने ही हाथों उखाड़ फेंकनेवाला व्यक्ति मानसिक अव्यवस्था का शिकार हो जाता है ।

मानसिक असंतुलन को पागलपन की प्रारंभिक अवस्था कहा जा सकता है। अपेक्षा के विपरीत जब व्यवहार होता है जैसे प्रेम के बजाय घृणा तो ऐसे में स्वभावगत विपरीतता जन्म लेने लगती है इससे व्यक्ति मानसिक रूप से अव्यवस्थित हो जाता है । मानसिक अव्यवस्था के लक्षण क्रोध, झुंझलाहट में स्पष्ट होते हैं ।

इसमें व्यक्ति अपशब्दों का प्रयोग भी करता है । मानसिक रूप से अव्यवस्थित व्यक्ति अनेक कुंठाओं का शिकार भी हो जाता है ।

आत्मपीड़ा, परपीड़ा, आत्महत्या, मृत्युबोध :

व्यक्ति के जीवन की यह नियति या अभिप्राय है कि उसे जीवन एक ही बार मिलता है । सभी चर प्राणियों में मानव ही एक ऐसा प्राणी है जिसे मृत्युबोध जीवन में ही हो जाता है । व्यक्ति यह जानता है कि उसकी मृत्यु अवश्यंभावी है, उसी दु:ख में वह अपने जीवन की सार्थकता नष्ट करता चला जाता है । मृत्यु का भय ही व्यक्ति को जहाँ एक ओर जीवन को पूरी तरह से जी लेने के लिए प्रेरित करता है वहीं दूसरी ओर नैराश्य-वेदना से भी सम्पृक्त करता है । समाज से जुड़ा हुआ व्यक्ति अपने समाज को माध्यम बना कर भिन्न-भिन्न स्त्रोतों से सुख प्राप्त करने की ललक लिए रहता है । सुख और व्यक्ति के बीच में समाज एक ऐसी कड़ी के रूप प्रस्तुत होता है जो अधिकांश व्यक्ति को उसकी इच्छाओं से नहीं जोड़ता । ऐसी स्थिति में व्यक्ति आत्म-पीड़ा और या परपीड़ा की प्रक्रिया में समा जाता है । यह स्थिति दु:ख की है । एक ओर व्यक्ति सुख के बाधक के रूप में समाज को दोषी मानकर परपीड़ा की भावना रखता है तो कभी दूसरी ओर समाज के व्यापक प्रभाव के परिणाम में स्वयं को तुच्छ जानकर आत्मपीड़ा के बोध से ग्रस्त हो जाता है । यही आत्मपीड़ा का बोध बार-बार के आवर्तन से व्यक्ति को समाज-विहीन करता है । व्यक्ति की यही निस्सारता आत्महत्या के लिए प्रेरित करती है ।

मानवीय सभ्यता के संपूर्ण इतिहास में मानव का मुख्य प्रतिद्वन्द्वी मानव ही रहा है । मानव की मुख्य वृत्तियों में आक्रमकता प्रमुख है । "मनुष्य दुनिया का एक ऐसा आक्रमण चौपाया है जो मुख्यरूप से दूसरे जानवरों के साथ-साथ अपने ही लोगों को प्रताड़ित करने तथा वध करने में प्रसन्नता अनुभव करता है।"[82] व्यक्ति की यह आदिम वृत्ति परपीड़ा या हत्या जैसी जघन्यता की ओर प्रेरित करती है । मानव की यह वृत्ति उसकी सामाजिक समझदारी तथा सांस्कृतिक

उपलब्धियों के कारण दबी रह जाती है । सामाजिक तथा वैयक्तिक परिवेश ही व्यक्ति के मन में जघन्य वृत्तियों को उकसाता है जिसके परिणाम में वह या तो स्वयं को या फिर दूसरे को पीड़ित कर सुख का अनुभव करता है । व्यक्ति का पागल होना स्वैच्छिक नहीं होता बल्कि समाज तथा परिवेश की प्रतिकूल परिस्थितियाँ उसे पागल घोषित कर देती हैं । दूसरों द्वारा पहुंचाई गई पीड़ा में व्यक्ति स्वयं में संकोची हो जाता है जिसकी पराकाष्ठा व्यक्ति को पागल बना देती है । पागलपन में कपड़े फाड़ना आम बात है । "कड़ियाँ" उपन्यास में वर्णित पागलखाने के डायरेक्टर का मानना है कि "सभी पागल औरतें अपने कपड़े फाड़ डालना चाहती हैं । कपड़े फाड़कर वे मन की घुटन से छुटकारा पाना चाहती हैं, कपड़े फाड़कर ये अपने को आजाद समझने लगती हैं, मानों कपड़े फाड़ने से ही इनके सब कष्ट कट गये हैं ।"[83] पर-पीड़ा का परिणाम पागलपन के रूप में व्यक्ति के लिए घातक होता है । उसे आत्मपीड़ा की चेतना का भी अहसास नहीं रहता ।

संबंधों में घृणा की चरमता व्यक्ति को परपीड़क बना देती है । व्यक्ति अपने घृणा-पात्र को हमेशा ही पीड़ा देकर दुःख पहुंचाने का उद्देश्य रखता है । "दूसरी बार" के नायक की मानसिकता द्वन्द्व यही है कि वह अपनी छोड़ी हुई पत्नी को किसी दूसरे के साथ भी देखना नहीं चाहता । "मैं जिस स्त्री को छोड़ चुका हूं, वह किसी और के साथ है, यह ख्याल तकलीफ देता है । मेरे जैसे आदमियों को तकलीफ से अधिक ईर्ष्या और छटपटाहट होती है । मगर मैं तब से अब तक यह चाहता रहा हूं कि बिंदों एक गैर के साथ सामने पड़ जाए । वह हर बार ऊपर उठ जाती हैऔर मैं हर बार उसे गिरा हुआ देखना चाहता हूं । मैं चाहता हूं कि कम-से-कम एक बार ऐसा हो कि वह मुझसे आँखें न मिला सके । मगर ऐसा अब तक नहीं हुआ ।"[84] नायक अपने मन में ही, अपने विचारों में ही यह सोचता है कि उसकी पत्नी उससे आगे बढ़ चुकी है । इसी वैचारिक स्थिति में ही वह पत्नी को पीड़ित करने, उसे अपमानित करने तथा उसको नीचा दिखाने की सोचता है । पत्नी को अपमानित करने में नायक को सुख मिलता है । " ... अपमानित होने का ख्याल मुझे बल देता है । जब भी मैंने उसे अपमान से बचाया तो प्रेम के कारण, जब अपमानित किया तो घृणा के कारण । अब उसका अपमान हो तो मुझे क्लेश नहीं होता ।"[85] व्यक्ति

अपने संबंधों की खोखलाहट से इतना उकता जाता है कि वह वस्तु या व्यक्ति जिससे वह कभी प्रेम करता था और उसका तनिक भी अपमान सह नहीं पाता था, घृणा की स्थिति में व्यक्ति उसी व्यक्ति को अपमानित या प्रताड़ित होने पर एक प्रकार के आत्मिक सुख का अनुभव करता है ।

परपीड़ा का जघन्य मनोविकार "मछली मरी हुई" के मुख्य पात्र में मिलता है । निर्मल पद्‌मावत अपने अंतर में कहीं न कहीं मानसिक रूप से पौरुषहीनता की स्थिति में होता है । इसी का रूप उसके शारीरिक धरातल पर भी होता है " .... उसने शीरीं की पीठ पर निर्मल के दांत और पंजों के निशान देखे हैं । पीठ पर, जांघों पर, शीरीं ने खुद ही कितनी बार निशान दिखाये हैं । निर्मल जानवर हो जाता है। रात के अंधेरे में और दिन के उजाले में जानवर हो जाता है । स्याह दागों से शीरीं का गोरा शरीर भर देता है । स्याह दाग । अजनबी दाग । बीमार दाग ।"[86] अपने विकार का प्रतिवेदन वह पत्नी की देह को क्षत करके करता है ।

परपीड़ा में आत्मसन्तोष का अनुभव करना अपने आप में मानवीय चेतना की हीनता का ही प्रमाण माना जाता है । एक व्याप्त अजनबीपन के परिणाम में "अपने अपने अजनबी" की योके मरणोन्मुख सेल्मा को देखती है तो मन ही मन प्रसन्न होती है । "कितना कमीना है यह संतोष, जो दूसरों को हारते और टूटते हुए देखकर होता है ।"[87] इसस स्थिति में योके का सेल्मा से भावनात्मक स्तर पर लगाव छिटक कर दूर हो जाता है । उस मृत्युरत, बूढ़ी सेल्मा पर उसे किसी भी तरह की दया नहीं आती बल्कि उल्टे वह एक प्रकार की सुख की अनुभूति करती है । व्यक्ति में मृत्यु का भय शाश्वत होता है । उसे इस बात का ज्ञान होता है कि मृत्यु उसे इस ब्रह्माण्ड से समूल नष्ट कर देगी । भौतिकता को भोगते हुए व्यक्ति के जीवन का मूल दु:ख यही है कि व्यक्ति अपने अन्त का भय दूसरे व्यक्ति की मृत्यु में भी देखकर दु:खी होता है। "डाक बंगला" की इरा मानती है "मरते हुए आदमी को देखने की दारुण व्यथा से कोई भी पीड़ा बड़ी नहीं है ।"[88] जीवन में मृत्यु का भय डरपोक और कायर भी बना देता है । यही भय कभी जीवन को असफल भी बना देता है । व्यक्ति अपने जीवन में हर ओर से हारने तथा निराश होने के बाद स्वयं को

बेकार समझने लगता है । यही बेकार, व्यर्थ, हीन समझ लेने की नियति व्यक्ति को जीवन से अनासक्त कर उसके मन में मृत्यु की कामना जगाती है । "जगत और जीवन तथा उनके तथ्य और मूल्य स्वयं अपने निषेध हैं । इस निषेध का प्रथम अनुभव मृत्युबोध है । यह तथ्य है कि मेरी मृत्यु निश्चित है, सभी अनुभवों को अर्थहीन बना देता है । कोई भी नैतिक मूल्य, कोई भी प्रयास मृत्यु के सम्मुख उचित नहीं माना जा सकता ।"[89] "अपने से अलग" उपन्यास में नायक की माँ कहती है -- "जब आदमी की नसों में उसकी अपनी मौत का डर समा जाय तब समझना चाहिए कि वह हारने ही वाला है।"[90] यह सच है कि मृत्यु का भय व्यक्ति के मन में समा जाता है तो वह अपने जीवन में असफल ही होता जाता है ।

सातवें दशक में लिखा गया उपन्यास "अपने-अपने अजनबी" हिन्दी साहित्य में एक नई धारा को लेकर आया । दो अजनबी पात्र एक काठघर में कैद हो जाते हैं । बर्फ के कारण वे घर की कैद से छुटकारा पा नहीं सकते । बूढ़ी के रूप में एक पात्र सेल्मा लगभग मृत्यु के कगार पर खड़ी हैऔर दूसरी ओर अन्य पात्र योके अभी युवती है । कथित परिस्थितियों में यही उम्रगत द्वन्द्व योके के मन में मृत्यु के प्रति भिन्न-भिन्न प्रकार के भय उत्पन्न करता है । सेल्मा कहती है -- "साँस की बाधा ही जीवन-बोध है, क्योंकि उसी में हमारा चित्त पहचानता है कि कितनी व्यग्र ललक से हम जीवन को चिपट रहे हैं । इस प्रकार डर की समय की चरम माप है । प्राणों का डर"[91] एक अजनबीपर के साथ जीवन को एक बोझ के रूप में खींचते जाने की विवशता जोकि मृत्यु का बोध लगातार कराती है । यहाँ तक कि साँस लेना भी मृत्यु की निकटता का अहसास कराती है ।

व्यक्ति अपनी मृत्यु को नकारने के पक्ष में मानसिक रूप से नहीं होता उसे इसका पता होता ही है कि उसकी मृत्यु कभी भी आ सकती है । अपने संपूर्ण ज्ञान के बावजूद वह अपनी मृत्यु का काल निश्चित नहीं कर पाया है । मृत्यु की कालगत अनिश्चयता व्यक्ति के दुःख का कारण है । "मछली मरी हुई" की कल्याणी कहती है " ..... मृत्यु और जन्म में अधिक भेद नहीं है, न स्थान का और न काल-पात्र का । भेद जीवन में है, जन्म और मृत्यु के बीच पतले धागे से बंधी राजा जनक की तलवार की तरह ..... और हम लोग इस तलवार

के नोचे सोये हुए हैं, डरते हुए ।"[92] अपरिहार्य कारणों से व्यक्ति जब मौत से घिर जाता है और जब उसको मौत निश्चित ही होती है तब उसमें एक प्रकार की ठंडी निस्तेजता आ जाती है । जीव-विज्ञान की मान्यता के अनुसार रक्त-संचार के रुकने पर शरीर ठंडा हो जाता है । दूसरी ओर आकस्मिक आनेवाले भय के कारण भी शरीर ठंडा हो जाता है । "अपने-अपने अजनबी" की सेल्मा, जो कि बर्फ घिरे घर में अपनी निश्चित मृत्यु की प्रतीक्षा कर रही है, अपने जीवन में एक ठंडा अँधेरा महसूसती है । "कितना ठण्डा अँधेरा होता है उसके भीतर, जिसे मरना होता है और सिवा मरने के कुछ नहीं करना है ।"[93]

व्यक्ति के जीवन की पूर्णता का बोध या उसके जीवन में इच्छाओं-आकांक्षाओं की समाप्ति मृत्यु बोध को जगाती है । "मछली मरी हुई" का रघुवंश उपन्यास के अंत में मृत्यु को स्वीकार लेता है । "मुझे नींद की ज़रूरत है और मौत से ज्यादा आरामदेह नींद और क्या हो सकती है ।"[94] जीवन के संघर्ष की थकान कम करने के लिए व्यक्ति नींद का सहारा लेता है । यही मन:स्थिति जब पूरे जीवन पर लागू हो जाती है तो व्यक्ति मृत्यु की कामना करता है ।

बीस वर्ष की प्रतीक्षा के बाद प्रतीक्षा की निरर्थकता का बोध व्यक्ति को तोड़ता है । जीवन में कुछ न कर पाने का बोध "मछली मरी हुई" के निर्मल को मृत्यु की ओर ले जाता है। निरर्थकता भरे जीवन को समाप्त कर देना ही सार्थक लगता है । आत्महंता के इस बोध के बावजूद प्रेम की भावना उसे इस तरह जकड़े रहती है कि वह स्वयं उसके आगे बेबस पड़ जाता है । निर्मल की मन:स्थिति इस बात को भी दर्शाती है कि मृत्यु जीवन में सहज नहीं होती, मृत्यु की अपेक्षा करना और मृत्यु का वरण करना दो नितांत भिन्न स्थितियाँ है । "लगातार बीस वर्ष तक किसी एक प्यार में डूबे रहने के बाद, अचानक नींद खुल जाए, नशा टूट जाए, तो आदमी अपने टेबुल पर स्कॉच की बोतल क्यों नहीं रख ले ? क्यों नहीं अपना सिर बोतलों से तोड़ लेने की कोशिश करे ? आदमी क्यों नहीं आखिरी बार तय कर ले कि वह किसी अजनबी और नाराज ताकत के आगे बेबस है और इस बेबसी को तोड़ने से पहले अपना सिर तोड़ लेना होता है । लेकिन पारसी थियेटरों के शीरीं-फरहाद की तरह नहीं, रामकृष्ण परमहंस की तरह । मृत्यु के रहस्य को पहले समझना पड़ता है ।"[95]

मृत्यु, जो मोक्ष या निर्वाण का एक तरह से सामान्य रूप है, के प्रति व्यक्ति के मन में सहजता का बोध तथा वरण का धैर्य हो तो उसमें भय नाम की कोई चीज नहीं रह सकती ।

हर क्षण आतंक का साया भी व्यक्ति को शांति को भंग कर देता है। "तीसरा पत्थर" उपन्यास के लालाराम को "दुश्चिन्ताओं और भय ने खोखला कर डाला है । हर पग लगता है कि फौजदार रायफल लिए सामने खड़ा है । हर क्षण महसूस होता है कि फौजदार की गोली उसकी कनपटी, माथा या सीना भेद गई है । स्त्रियाँ रो रही हैं ..... बच्चे चीख रहे हैं और लालाराम की क्षत-विक्षत लाश पुलिस से घिरी पड़ी है ।"96 मृत्यु का आतंक व्यक्ति की मानसिक शांति तोड़ देता है ।

मनुष्य में पाये जानेवाले सभी उच्चतम गुणों के साथ-साथ पाशविकता, नीचता, हेयता आदि के निकृष्टतम गुण भी पाये जाते हैं । हर व्यक्ति को उसे अपने जीवनकाल में पूर्ण रूप से न तो मनोनुकूल परिवेश मिल पाता है न ही वह इसका चयन ही कर सकता है। आत्मपीड़ा की स्थिति ऐसे ही प्रतिकूलताओं के कारण उत्पन्न होती है । निरर्थकता के बोध से व्यक्ति में यह भावना आती है । दूसरी ओर अपने परिवेश- परिस्थितियों से सामंजस्य स्थापित करने की प्रक्रिया में लगातार की असफलता के परिणाम व्यक्ति में परपीड़ा की भावना को पैदा करती है । अपने घृणा-पात्र से बदला लेने "दूसरी-बार" का नायक अपनी पत्नी को प्रताड़ित करने की सोचता है । "मछली मरी हुई" का निर्मल अपनी मानसिक नपुंसकता में शीरीं को शारीरिक कष्ट देता है । "अपने-अपने अजनबी" को योके को बूढ़ी सेल्मा का मरना अच्छा लगता है । जिन उपन्यासों में मृत्यु बोध की स्थिति मिलती है, वहाँ अधिकतर इस स्थिति का दर्शन ही प्राप्त होता है । चारों ओर से हारने के पश्चात् व्यक्ति जब स्वयं से भी हार जाता है तथा अपनी किसी भी आयाम या अर्थ में उपयोगिता नहीं दीखती तब उसे मृत्युबोध होता है या मृत्यु प्यारी लगती है । "अपने-अपने अजनबी की पात्रा सेल्मा को अपनी मृत्यु की पूर्व जानकारी होने के बावजूद वह डरती नहीं । फिर भी अन्य उपन्यासों के पात्र मृत्यु की अवश्यंभाविता को जानते हुए भी उससे भयभीत रहते हैं ।

निष्कर्ष

जीवन के प्रति मोह और प्रतिकूलता वश उसे न झेल पाने के कारण दुःख जन्म लेता है । जीवन के प्रति असंगति ही दुःख है । ऐसी विवशताभरी स्थिति में व्यक्ति को जो भाग्यवादी धारणा बनती है उसको नियतिगत दुःख प्राप्त होता है । "एक इंच मुस्कान" की अमला में अस्वीकार के कारण अलगाववादी नियति का दुःख मिलता है । आधुनिक युग में व्याप्त परम्परागत रूढ़ संस्कारों के कारण नारी पराश्रिता होने की नियति का दुःख झेलती है । "चौदह फेरे" की नंदो को संबंध की जकड़ केवल दुःख ही देती है । भारतीय समाज का ढांचा ही ऐसा है कि व्यक्ति को व्यक्तिवादी बन कर रहने नहीं दिया जाता इसमें व्यक्ति एक टूटन भरे दुःख की नियति सहता है । व्यवस्था से हार कर भी व्यक्ति स्वयं को असफल समझने लगता है और नियतिगत दुःख पाता है । नियतिगत दुःख के कारण ही निरर्थकता का बोध जन्म लेता है ।

सामाजिक असमानता के कारण निर्धनता भी दुःख का कारण बनती है । असमानता से जो हीन भावना उपजती है उसे कम करने के लिए पात्र निरंतर स्तर को ऊंचा उठाने के लिए प्रयत्नशील नजर आते हैं । निर्धनता से होनेवाली विवशता के कारण "एक करोड़ की बोतल" उपन्यास में रानी का पिता सात हजार रूपये में अपनी बेटी को बेचने के लिए तैयार हो जाता है । निर्धनता के कारण पात्र कहीं बेबस है तो कहीं उससे लाभ उठाया करते हैं । भौतिक जीवन की चकाचौंध से निर्धन पात्र आकर्षित होता है । धन के अभाव के कारण "अमृत और विष" का लच्छू मानसिक रूप से भटकता रहता है और कुण्ठित होता है । भावनात्मक संबंधों की असफलता और प्रतिकूलता के कारण "उसका शहर" के पात्र कुण्ठित है । पारिवारिक परिवेश में माता-पिता के प्यार दुलार के अभाव में एक कुण्ठित पीढ़ी पनपने लगती है । "डाक-बंगला" की इरा माँ के प्रेम के अभाव में भटक

जाती है । "मुक्तिबोध" उपन्यास में पिता के दबाव के कारण युवा पुत्र स्वयं को अपूर्ण समझता है और कुण्ठित रहता है । भारतीय जीवन में कुंठा का एक और कारण यह भी है कि व्यक्ति न पूर्णरूप से आधुनिक है न पूर्णरूप से परंपरावादी । ऐसे संक्रांतियुग में अनेक धारणाएं बनती और बदलती रहती है । इसी बदलाव में उपन्यासों के कुछ पात्र बहुत आगे निकल गये हैं तो कुछ पुरातनता से जकड़े हैं । आधुनिक जीवन जीते हुए भी पात्रों में कभी-कभी पिछड़ापन शंक के रूप में "अंधेरे बंद कमरे" के हरबंस और "दूसरी बार" के नायक में मिलता है । इससे संबंधित व्यक्ति तो दुःख पाता ही है और वे स्वयं भी कुण्ठित होते हैं । वस्तुतः इच्छित वस्तु की अत्यधिक कमी, या प्राप्त वस्तु की अतिशयता दोनों ही कुंठा को जन्म देते हैं ।

इच्छित वस्तु की प्राप्ति के बाद उसी से अलगाव, तनाव के दुःख को जन्म देता है । "रूकोगी नहीं राधिका" में राधिका और डैन के संबंध में तनाव जन्म लेता है और संबंध टूट जाता है । "डाक बंगला" की इरा के तनाव का कारण उसका अपाहिज पति है । वैचारिक विषमता के कारण "एक इंच मुस्कान" के कैलाश और अमला के बीच तनाव की स्थिति आ जाती है । "दूसरी बार" के नायक और नायिका के बीच तनाव उनके अधूरेपन के कारण है ।

तनावग्रस्त पात्र केवल दुःखी ही नहीं होता बल्कि उनमें प्रतिशोध की भावना भी जन्म लेने लगती है । इसी पाप की भावना के कारण "दूसरी बार" का नायक अपने लक्षित दुःख के प्रति सतर्क रहता है । निरन्तर की असफलता और व्यर्थता का बोध केवल हीन भावना को ही नहीं जगाता बल्कि व्यक्ति को विद्रोही भी बना देता है । गलती और अपराध बोध की भावना "मछली मरी हुई" के निर्मल में भी मिलती है ।

"वे दिन", "उसका शहर" और "मछली मरी हुई" उपन्यासों में अकेलापन और अजनबीपन का दुःख मिलता है । "वे दिन" उपन्यास में विदेशी परिवेश के कारण, उसका शहर में शहरी जीवन की विसंगति के कारण और "मछली मरी हुई" के पात्रों की मानसिक अव्यवस्था के कारण अकेलेपन का दुःख मिलता है । अजनबीपन की चरम परिस्थिति "अपने अपने अजनबी" में मिलती है । पारिवारिक अलगव "मुक्तिबोध" उपन्यास में मिलता है । द्वन्द्व और मानसिक अस्थिरता के कारण पात्र परिवार में भी अकेलापन अनुभव करते

उनको यह नियति है कि वे संबंधों की सीमाओं में सीमित होकर नहीं जी सकते अपनत्व के अभाव के कारण बहुत से पात्र स्वयं को व्यस्त रखना पसंद करते हैं। परिस्थितिवश होनेवाले अलगाव के पश्चात भी लगाव टूटता नहीं है बल्कि दब जाता है और अनुकूलता पाकर पुनः जाग उठता है। "एक करोड़ की बोतल" में अलगाव का यही रूप मिलता है। गहन अकेलेपन में व्यक्ति अपनी भीतरी सच्चाई को स्वयं के आगे खोलता है "बंद अँधेरे कमरे" का हरबंस जब अपनी पत्नी नीलिमा के साथ होता है तो उसकी उपयोगिता नहीं समझ पाता, अकेला होता है तो नीलिमा का अभाव उसे बहुत खलता है। जीवन में स्वयं की जरूरतों को अधिक महत्व देने के कारण व्यक्ति किसी के साथ होते हुए भी स्वयं को अकेला महसूस करने के लिए अभिशप्त है। कुण्ठित, तनाव-ग्रस्त, दुःखी, अकेला पात्र मानसिक रूप से बीमार हो जाता है। मानसिक रूप से अस्थिरता पागलपन की प्रारंभिक अवस्था है। "मछली मरी हुई" के पात्र मानसिक रूप से कुण्ठित है। मानसिक रूप से अव्यवस्थित पात्र स्वयं तो दुःखी होते हैं और दूसरों को भी दुःख ही देते हैं। "मछली मरी हुई" के निर्मल के आक्रोश के कारण शीरीं स्वयं को मौत की गुफा में महसूस करती है। पात्रों में अपूर्णता बोध भी मानसिक अस्थिरता को जन्म देता है। इसी से व्यक्ति आत्मपीड़न और परपीड़न का दुःख पाता है। इसी दुःख की अतिशयता में व्यक्ति आत्महत्या या परहत्या भी करता है।

1. राग दरबारो, पृ. 308
2. एक इंच मुस्कान, पृ. 173
3. चौदह फेरे, पृ. 12
4. - वही - पृ. 75
5. डाक बंगला, पृ. 27
6. डाक बंगला, पृ. 61
7. डाक बंगला, पृ. 119
8. अपने से अलग, पृ. 103
9. अमृत और विष, पृ. 52
10. राग दराबारो, पृ. 278
11. मुक्तिबोध, पृ. 131
12. एक करोड़ को बोतल, पृ. 16
13. - वही - पृ. 18
14. डाक बंगला, पृ. 35
15. डाक बंगला, पृ. 43
16. अमृत और विष, पृ. 253
17. विपात्र , पृ. 127
18. उसका शहर, पृ. 32
19. देंगल श्राल्ट, नये उपन्यासों में नये प्रयोग, पृ. 14-15
20. डाक बंगला, पृ. 35
21. मुक्तिबोध, पृ. 114
22. अंधेरे बंद कमरे, पृ. 319

23. दूसरी बार, पृ. 72

24. अंधेरे बंद कमरे, पृ. 60

25. - वही - पृ. 114

26. - वही - पृ. 225

27. एक इंच मुस्कान, पृ. 89

28. उसका शहर, पृ. 105

29. दूसरी बार, पृ. 82

30. राग दरबारी, पृ. 293

31. धर्म के नाम पर, पृ. 236

32. रुकोगी नहीं राधिका, पृ. 35

33. डाक बंगला, पृ. 113

34. एक इंच मुस्कान, पृ. 175

35. रेखा, पृ. 32

36. मुक्तिबोध, पृ. 106

37. भागे हुए लोग, पृ. 82

38. एक इंच मुस्कान, पृ. 81

39. - वही - पृ. 132

40. दूसरी बार, पृ. 65

41. दूसरी बार, पृ. 78

42. दूसरी बार, पृ. 82

43. मुक्तिबोध, पृ. 13

44. धर्म के नाम पर, पृ. 228

45. दूसरी बार, पृ. 65

46. दूसरी बार, पृ. 108-109
47. मछली मरी हुई, पृ. 86
48. रेखा, पृ. 138
49. राग दरबारी, पृ. 347
50. वे दिन, पृ. 141
51. डाक बंगला, पृ. 123
52. रेखा, पृ. 112
53. मुक्तिबोध, पृ. 72
54. अँधेरे बंद कमरे, पृ. 190
55. अँधेरे बंद कमरे, पृ. 386
56. - वही - पृ. 122
57. उसका शहर, पृ. 44
58. उसका शहर, पृ. 108
59. मछली मरी हुई, पृ. 67
60. डाक बंगला, पृ. 65
61. मछली मरी हुई, पृ. 70
62. विपात्र, पृ. 122
63. मुक्तिबोध, पृ. 13
64. अँधेरे बंद कमरे, पृ. 113
65. - वही - पृ. 389
66. एक करोड़ की बोतल, पृ. 20
67. विपात्र, पृ. 128
68. भीष्म साहनी, "संत्रास का आतंक" आलोचना-7, पृ. 11
69. विपात्र, पृ. 138
70. भटियाली, पृ. 14
71. वे दिन, पृ. 130
72. मछली मरी हुई, पृ. 92-93
73. अपने-अपने अजनबी, पृ. 92
74. - वही - पृ. 92

75· अँधेरे बंद कमरे, पृ·

76· विजय मोहन सिंह, आधुनिक हिंदी उपन्यासों में प्रेम की परिकल्पन, पृ· 38

77· मछली मरी हुई, पृ· 100

78· अँधेरे बंद कमरे, पृ· 219

79· दूसरी बार, पृ· 108

80· भागे हुए लोग, पृ· 171

81· भागे हुए लोग, पृ· 248

82·

83· कड़ियाँ, पृ· 191

84· दूसरी बार, पृ· 90

85· - वही - पृ· 71

86· मछली मरी हुई, पृ· 119

87· अपने अपने अजनबी, पृ· 41

88· डाक बंगला, पृ· 89

89· देवकी नंदन द्विवेदी, "एब्सर्डिटी : संप्रत्यायात्मक विश्लेषण, आलोचना, 12, पृ· 62

90· अपने से अलग, पृ· 106

91· अपने-अपने अजनबी, पृ· 68

92· मछली मरी हुई, पृ· 22

93· अपने-अपने अजनबी, पृ· 32

94· मछली मरी हुई, पृ· 135

95· मछली मरी हुई, पृ· 21

96· तीसरा पत्थर, पृ· 43

सातवें दशक के हिन्दी उपन्यासों में सुख की उपलब्धियाँ

सातवें दशक के संक्रमणकालीन युग में सुख का जो स्वरूप प्राप्त होता है, वह भी युग की तरह संक्रमण की ही अवस्था में, बदलते हुए जीवन-मूल्यों में बंटा है। युग और व्यक्ति, व्यक्ति और परिस्थिति में सुख-दुःख बनते और बदलते रहते हैं। बदलते परिप्रेक्ष्य में व्यक्ति अपने लिए क्या-क्या सहेज पाता है, यह उसकी व्यक्तिगत रुचि एवम् क्षमताओं पर निर्भर करता है। वास्तव में यह उसके लिए चुनौति का विषय है क्योंकि जीवन को सुखी बनाने के लिए व्यक्ति प्राचीन काल से ही प्रयत्नशील रहा है। सुख को कभी वह प्रकृति में खोजता है, तो कभी धर्म में तो कभी यज्ञ, अनुष्ठानों में। युग और संदर्भों के साथ कभी प्रवृत्ति और कभी निवृत्ति का आरोपण प्रारंभिकल काल से ही होता रहा है। प्रवृत्ति की अति से निवृत्ति का प्रारंभ होता है और निवृत्ति की अति से प्रवृत्ति जन्म लेती है। यह एक युग सापेक्ष सत्य है। सुख पर जब दार्शनिक विचार करते हैं तो दुःख को समाप्त करने की बात कहते हैं और उन कारणों को समाप्त करने की बात कहते हैं जिनसे दुःख जन्म लेता है। जहाँ कोई दुःख शेष न रहे वही स्थिति सुख है। सुखवादी दर्शन का मत है कि जीवन को इतना जिओ कि दुःख आने ही न पाये, इसलिए कि जीवन जीने के और भोगने के लिए है। जीवन को तप द्वारा कष्ट देना, जीवन का अपमान है।

सातवें दशक के कुछ मुख्य उपन्यासों में सुख की जो दशा मिलती है, उससे यह कहा जा सकता है पात्रों के जीवन में सुख की अपेक्षा दुःख ही अधिक है।

रमेश बक्षी के "अठारह सूरज के पौधे" का नायक सुख की तलाश में जीवन की व्याकुलता और साबहीनता को ही प्राप्त करता है। मानसिक रीतेपन की जटिलता के कारण अस्तित्व की खोज में वह भटकता ही रहता है। युग की बेरहम विसंगतियों के कारण स्वयं को असहाय महसूस करने का दुःख पाता

है । जीवन में जो सुखानुभूति के क्षण प्राप्त होते है, रेल में ही प्राप्त होते हैं और वहीं समाप्त होने लगते हैं । नायक के लिए पत्नी एक गंदी परंपरा है, गाडी पर फेंका गया कचरा, प्लेटफार्म का टिकट है । पत्नी द्वारा मिला अनुभव उसे फिर रेल बना देता है । "अठारह सूरज के पौधे" का नायक जीवन में केवल क्षणिक सुख ही पाता है । यह व्यक्तिगत तात्कालिक सुख है, जिसमें उत्साह, भावना और प्रेम के तत्व भी मिलते हैं । इसे परिस्थितियों का पोषण न मिलने के कारण यही कुंठा, घुटन, तनाव और अकेलेपन का कारण बनते हैं ।

अभाव और शून्य की अनुभूति इस दशक के आलोच्य उपन्यासों के पात्रों में अधिक मिलती है । इसी रीतेपन के कारण अधिकार पात्र प्रेम करने में असमर्थ हैं । आधुनिक मनुष्य की अतिरिक्त स्व-चेतना में पड़े हरबंस और नीलिमा अपनी-अपनी वैयक्तिकता के कारण एक दूसरे के प्रति प्रेम और घृणा उगलते हैं । नीलिमा और हरबंस दोनों पारिवारिक जीवन के अंधेरे कमरे में बंद हैं । तनाव [illegible] की स्थिति में निर्धारित लक्ष्य के अनुसार न तो नीलिमा सफल नर्तकी बन पाती है और न हरबंस साहित्यकार । महानगरीय जीवन में व्यक्तिगत सुख के लिए तनाव और खिंचाव के ऐसे उदाहरण प्राप्त होते हैं । आधुनिक महानगरीय परिप्रेक्ष्य में जी रहे अधिकतर पात्र प्रेम की यन्त्रणा भोगने को अभिशाप्त हैं । "अंधेरे बंद कमरे" के पात्रों में तनाव, अकेलापन और खालीपन की भावना अधिक मिलती है । व्यक्तिवादी पात्रों में अकेलेपन की भावना सामाजिक पात्रों की अपेक्षा अधिक मात्रा में मिलती है । अकेलेपन में ऐसे पात्र स्मृति सुख और भविष्य सुख का सहारा भी लेते हैं । इनके जीवन का तात्कालि सुख तो आपसी तनाव में ही निकल जाता है ।

आलोच्य दशक के उपन्यासों में अकेलेपन की प्रवृत्ति का आच्छादन पारिवारिक संबंधों पर भी दिखलाई पड़ता है । "अपने से अलग" का मैं पारिवारिक संबंधों के संबोधन के उचित शब्द भी भूल गया है । इसके अतिरिक्त उत्तरदायित्वहीन स्वच्छंद जीवन के प्रति युवा पीढ़ी का लगाव भी बढ़ने लगा है । स्वच्छंदतापूर्ण जीवन जीते हुए भी "डाक-बंगला" की इरा का जीवन केवल रिक्तता भर देता है । विमल के पश्चात् अन्य पुरुषों -- बतरा, चन्द्रमोहन

के संपर्क में आकर प्रेम न करते हुए भी जीने के लिए वह नाटक करने को विवश है ।

युद्ध जन्य अर्थहीन संदर्भ में छोटे से सुख की तलाश का नाम "वे दिन" है । क्षणिक तात्कालिक सुख, अकेलापन और अजनबीपन की गहनता का बोध इस उपन्यास में प्राप्त होता है । सतही रूप से इस उपन्यास में शराब और औरत, अतृप्त लालसाएं, संभोग, कुंठाएं और व्यक्तिबोध तथा आधुनिक मनुष्य की स्थिति और नियति का चित्रण है । रायना का रात में समर्पित होकर दिन में भूल जाने को कहना क्षण-बोध का ही परिणाम है । "वे दिन" के पात्र जिन स्थितियों में जी रहे हैं वहाँ न सुख है न दुःख , न पा होने की खुशी है और न दूर होने का गम । रिक्तता का भाव झेलते हुए सभी पात्र अकेले हैं । किसी को किसी की ज़रूरत नहीं ।

शहरी जीवन की विसंगतियों के दुष्परिणाम में सुख के तत्व नायक और नायिक दोनों ही जीवन में प्राप्त नहीं होते लेकिन पात्रों में व्यक्तिगत सुख की आकांक्षा मिलती है । "दूसरी बार" का नायक आत्मनिर्वासित और दब्बूपन का शिकार है । पत्नी को नीचा दिखलाने की कोशिश में स्वयं प्रताड़ित होकर दुःख पाता है । इसी कारण उसमें पाशविकता भी मिलती है । "दूसरी बार" का नायक बिंदो के प्रति मन से समर्पित है, किन्तु व्यवहार वह इसके विपरीत करता है । इच्छित वस्तु के प्रति भावनात्मक लगाव की अपेक्षा वह अलगाव ही दर्शाता है । इसीलिए वह सुख के स्थान पर दुःख ही पाता है ।

"उसका शहर" उपन्यास शहरी परिस्थितियों से जन्मनेवाली स्थितियों का चित्रण भर है । इसमें न तो सुख है, न ही दुःख । शहरी जीवन में पात्र जी रहे हैं और जीते हुए जो कुछ घटता जाता है उसे भोगने के लिए वे अभिशप्त हैं । जो कुछ भी सुखदायक वस्तु प्राप्त होती है परिस्थितिवश या संयोगवश ही तथा जो कुछ टूटता है वह भी विषम परिस्थितियों वश ही । "उसका शहर" के पात्र आधुनिक जीवन की विसंगतियों के शिकार हैं ।

"एक इंच मुस्कान" का अमर महान् लेखक बनने की प्रबल इच्छा रखता है । उसका जीवन-लक्ष्य भी यही है । इसी रचनात्मक योग्यता को धन की सहायता देकर अमला पुरुष से प्रतिशोध लेने में आत्मसंतोष का अनुभव करती है । अमर की प्रेरणा बनकर रंजना से दूर रखने का प्रयास कर उसके सामाजिक जीवन को तोड़ती है । जब व्यक्ति के पास कोई सुख शेष नहीं होता है तो वह दूसरों को दुःख देने में ही सुख का अनुभव करता है । प्रतिशोध की प्यास और दूसरों को पीड़ा पहुंचाकर आनंद की भावना का अनुभव "तीसरा पत्थर" के पात्र भी करते हैं । विषम सामाजिक परिस्थितियों के शिकार ये पात्र अपराध को ही संस्कार बना लेते हैं ।

"रुकोगी नहीं राधिका" में तनाव की स्थिति पूरी उपन्यास में व्याप्त है । आधुनिक भारतीय परिवेश और विदेशी संस्कृति के बीच दोलायमा स्थिति में राधिका स्वयं को अनफिट अनुभव करती है । यही स्थिति उसके लिये अनिर्णय और अकेलेपन का कारण बनती है । अनिर्णय की स्थिति के कारण राधिका मनीष और अक्षय के बीच किसी एक का चयन नहीं कर पाती । स्वयं को परिवेश से कटा हुआ पाना, अनिश्चितता तथा सारहीनता का बोध भी उपन्यास में व्याप्त है ।

विसंगति और मृत्युबोध की संवेदना का गहरापन "अपने-अपने अजनबी" में प्राप्त होता है । अकेलापन और अजनबीपन का तीव्रबोध इस उपन्यास में प्राप्त होता है । योके डाक बंगले को कब्रघर कहती है, और क्रिसमस मनाना चाहती है । यह जीवन के प्रति जिजीविषा के भाव हैं कि वह जीवन की रिक्तता को भरने के लिए कब्रघर में ही रीति-रिवाज़ों का पालन करना चाहती है । खुशी प्राप्त करने की कोशिश में नाकाम होते-होते अंत में जिंदगी को कैंसर मान लेती है । सेल्मा और योके के जीवन का सबसे बड़ा दुःख यह है कि वे अपने लिए अजनबी का चयन भी स्वयं नहीं कर पाते तथा स्वयं परिस्थिति के शिकार हैं ।

"राग दरबारी" व्यंग्यात्मक शैली में लिखा उपन्यास है । व्यंग्य का लक्ष्य कहीं व्यक्ति है, कहीं देश, कहीं आजादी के बाद की पुलिस, असेंबली,

संविधान, कानून, चुनाव बुद्धिजीवी, प्रजातंत्र आदि सभी हैं जिन पर लेखक ने अलग-अलग और सम्मिलित रूप से व्यंग्य किया है । इसमें मुख्यत: रूढ़ि, परम्परा व स्वार्थ के सुख के विविध रूप मिलते हैं ।

"मछली मरी हुई" में विकृत यौनाचार, पाशविकता, स्थूलता और व्यक्तिवादिता का सुख प्राप्त होता है । सहज मानसिकता के किसी प्रकार का सुख इस उपन्यास में प्राप्त नहीं होता । इसी उपन्यास का एक पात्र निर्मल बरसों बाद एक औरत (शीरीं) को अपने करीब पाकर खुश नहीं होता बल्कि सोचने लगता है । वह शीरीं को कल्याणी मैंशन का एक फ्लैट समझता है जहाँ पर रात को ठहरा जा सकता है । काम की कुंठा का कुछ अलग रूप "रेखा" उपन्यास में प्राप्त होता है । देह की राजनीति का रूप "देह गाथा" उपन्यास में भी प्राप्त होता है । काम की पवित्रता के विरोधी मूल्य इन उपन्यासों में स्थापित होते हैं । "मुक्तिबोध" की नीला भी नायक की अपराध भावना को जानकर उसे सहज बनाने के लिए आत्मसमर्पण कर देती है ।

व्यक्ति स्वयं को यांत्रिक, अजनबी, मिसफिट ही नहीं स्वयं को पंगु और नपुंसक समझने के लिए विवश है । "विपात्र" का मिश्रा जगत से कहता है-- "हमारा तुम्हारा प्राकृतिक सहअस्तित्व है क्योंकि हम दोनों एबीलाईस हैं ।

आलोच्य उपन्यासों में प्राप्त होनेवाले पात्रों में अधिकांशत: पात्र व्यक्तिवादी सुखाकांक्षी हैं । जो पात्र सामाजिक सुख के पक्ष में हैं वे भी सामाजिकता को ओढ़े हुए हैं । धीरे-धीरे वे भी सामाजिकता से व्यक्तिवादिता की ओर लौटने लगे हैं । विश्लेषण से यह प्राप्त होता है कि व्यक्तिवादी पात्र सामान्य व्यक्तियों की अपेक्षा अनुभूति की सूक्ष्मता से ग्रहण करते हैं और विविधता से व्यक्त कर पाते हैं । व्यक्तिवादी पात्र समाज के साथ मानसिक रूप से जुड़ नहीं पाते लेकिन समाज इनके जीवन की अनिवार्य आवश्यकता है । क्योंकि व्यक्ति जीवन की ऊर्जा समाज से ही पाता है । ये समाज में रहते हैं पर उसके होकर नहीं ।

उपन्यासों में सूक्ष्म सुख का रूप कुछ ही पात्रों में प्राप्त होता है । आधुनिक जीवन की क्षणवादी नियति के कारण अवसरवादिता और स्थूल सुख

ही पात्रों में अधिक मिलता है । सुख में आनंद देनेवाली सूक्ष्म अनुभूति का भाग्य केवल कुछ ही पात्रों को प्राप्त हुआ है । मानसिक असंतुष्टि के कारण सुख का स्थायी प्रभाव पात्रों में नहीं मिलता । यही कारण है कि उपभोग्य वस्तु के साथ मन और तन का एकीकरण न हो पाने के कारण पात्र मानसिक रूप से असंतुष्ट ही लगते हैं । पात्रों का मन कहीं दूसरी ओर नहीं है, तो वहाँ भी नहीं है जहाँ वे उस वस्तु का उपभोग कर रहे हैं । यही लगातार की असंतुष्टि पात्रों में पाशविकता का संचार करती है ।

उपन्यासों के पात्र समय के चक्र में कुछ क्षण स्मृति में तो कुछ क्षण तात्कालिक और भविष्य के कल्पनावादी सुख में जीने की कोशिश करते हैं । पात्रों में यह मानसिक विवशता मिलती है कि वे अतीत को नहीं भूला पाते । कहीं-कहीं तो अतीत की कुछ घटनाएं इतनी अधिक हावी हैं कि पात्र वर्तमान को जीने की अपेक्षा छोड़ते चलते हैं । आगे चलकर इन पात्रों में अनेक कुंठाएं मिलती हैं । ऐसे पात्र अपने वर्तमान को दरिद्र बना लेते हैं । भविष्य की काल्पनिक भटकान व्यक्ति को यथार्थ के जीवन से दूर कर देती है । यह सच है कि अपने बीते को अस्वीकारना स्वयं को अस्वीकारना है, परन्तु अतीत पर मंडराते रहने पर जीवन के विकास की गति अवरुद्ध होने लगती है, और यह सर्वथा दुःख ही है । कुछ पात्र अतीत में घटित दुर्घटनाओं के प्रभाववश प्रतिशोध ही को जीवन का लक्ष्य बनाकर, लक्षित व्यक्ति को प्रताड़ित कर सुख का अनुभव करते हैं ।

आधुनिक शहरी जीवन जीते हुए अधिकतर व्यक्तिवादी पात्र तात्कालिक सुख चाहते हैं । उन्हें जो भी चाहिए तत्काल चाहिए, तत्क्षण चाहिए । क्षणों के समाप्त होने पर इच्छा भी समाप्त होने लगती है । वर्तमान के खालीपन में पात्र कभी अतीतजीवी होने लगते हैं तो कभी भविष्य-बोधी । तनाव से मुक्ति पाने के लिए भी कुछ पात्र वर्तमान के क्षणों का सुख भोग करना चाहते हैं । जिस व्यक्ति को अपने जीवन के प्रति विश्वास न रहे वह भविष्य की नहीं वर्तमान की बात सोचता है । भविष्य के स्वप्न भी वहीं सफल होते हैं जहाँ वर्तमान की भूमि का आधार रहता है । पात्र की मानसिकता, समय और परिस्थिति के परिणामवश ही पात्र अतीत, वर्तमान और भविष्य में जीते हैं ।

ठंड में हाथ सेकने से जो सुख प्राप्त होता है उसी तरह के छोटे-छोटे सुखों को व्याप्ति आलोच्य उपन्यासों में प्राप्त होती है । उत्साह से जीवन्तता और कर्म के प्रति अनुराग का भाव उत्पन्न होता है, विश्वास द्वारा द्वन्द्व से मुक्ति, भावनाओं से मानसिक कोमल तन्तुओं का विकास, सौन्दर्यानुभूति से आत्मजागरण, अनुकूलता होने से परिस्थिति या व्यक्ति से लगाव, लक्ष्य से भविष्य को दिशा तो विविधता द्वारा एकरस जीवन को कई ढंगों से जिया जा सकता है । प्रेरणा योग्यताओं को जगाती है और कलात्मक सृजन से सृजन का सुख प्राप्त होता है । प्रेम, काम, विवाह से संबंधगत सुख प्राप्त होता है । सफलता से खुशी, रीति-रिवाज़ से सामाजिक सुख, दिवास्वप्न से भविष्य सुख और धर्म से मानसिक शांति का सुख प्राप्त होता है । अपनी योग्यता, परिस्थिति एवं परिवेश का संयोगवश ऐसे तत्व जीवन में प्राप्त होते हैं । इससे पात्र सजीव होने का सुख प्राप्त करते हैं ।

सातवें दशक में दुःख के लगभग सभी रूपों की व्याप्ति उपन्यासों में प्राप्त होती है । नियतिगत दुःख निर्धनता, कुंठा, तनाव, पाप की भावना, अकेलापन, आत्मपीड़ा, परपीड़ा और मृत्युबोध, विशेषतः कुंठा, तनाव और अकेलेपन का दुःख उपन्यासों के सभी पात्रों में प्राप्त होता है । आत्महत्या के विषय में कुछ पात्र सोचते हुए मिलते हैं । दो एक पात्र इसका वरण भी करते हैं । अधिकतर दुःखी पात्रों में भी सुख के कुछ एक दो तत्व व्याप्त रहते हैं, जिसके आधार पर वे जीना सीख लेते हैं । क्योंकि अभी भी भारतीय समाज की सामाजिक जकड़ मजबूत है, जिससे व्यक्ति अकेलापन सहता हुआ भी विदेशियों की तरह अजनबीपन का शिकार नहीं हुआ है । व्यक्तिवादी पात्र भी स्वतंत्र निर्णय लेने के पश्चात् भी पूर्णतः व्यक्तिवादी नहीं हैं क्योंकि वे एक सामाजिक दायरे में अपना जीवन व्यतीत कर रहे हैं । दुःख के कारणों की व्याप्ति का विश्लेषण किये जाने पर यह प्राप्त होता है कि दुःख पात्रों की नियति का कारण है क्योंकि व्यक्ति जब स्वयं को भाग्यहीन समझ कर दुःख का अनुभव करता है तो इस अनुभव से उसे दुःख ही प्राप्त होता है । स्वयं को दुःखी महसूस करना ही सबसे बड़ा दुःख है । दुःख के कारणों की

अधिकता से पात्रों को अनुकूलता मिलने पर भी उससे वे सुख ग्रहण नहीं कर पाते। परिणामस्वरूप जीवन में यदि सुख शेष न रहे तो व्यक्ति दुःख को ही कम कर शांति का अनुभव करना चाहता है। दुःखों से भी पुनः सुख लेने का मार्ग इससे प्राप्त होता है।

महानगरीय परिवेश में लिखे गये उपन्यासों में पात्र अनिर्णयात्मक, आत्म-निर्वासित है। स्वतंत्र होने की प्रक्रिया में अनेक उलझनों में फंस जाते हैं और एक निरर्थकता से दूसरी निरर्थकता तक पहुंचते हैं। व्यक्तित्व की जटिलता के कारण सभी पात्र किसी न किसी प्रकार के तनाव में जी रहे हैं। भारतीय लेखकों की यह कमजोरी है या यह एक सामाजिक सत्य कि उपन्यास प्रेम और काम पर ही टिके हुए है, अन्य संबंधों जैसे भाई-भाई, भाई-बहन में जो संबंधगत सुख प्राप्त होता है उसका चित्रण बहुत कम मिलता है, या मिलता भी है तो कथ्य की सहायता के लिए आवश्यक भर ही लगता है। उपन्यास की कथा ही किशोर या वयस्क जीवन से शुरू होती है और बूढ़े होने से पहले समाप्त हो जाती है। इससे बाल-जीवन का चित्रण तो मिलता ही नहीं, एक दो उपन्यासों को छोड़कर जहाँ वृद्ध जीवन का चित्रण मिलता है वह पारिवारिक अलगाव दर्शाने के लिए ही। इसलिए सुख और दुःख मुख्य रूप इस शोध कार्य में किशोरावस्था से शुरू होकर बूढ़े होने से पहले समाप्त हो जाते हैं। उपन्यासों में पात्रों के सुख-दुःख प्रेम और काम की धुरी पर ही घूमते नज़र आते हैं।

1. अपने से अलग – गंगा प्रसाद विमल, नवीन प्रेस, दिल्ली, 1969
2. अजय की डायरी – देवराज, प्रिंटसमैन प्रकाशन, द्वितीय संस्करण– 1970
3. अमृत और विष – अमृतलाल नागर, लोकभारती प्रकाशन, पंचम संस्करण – 1978
4. अठारह सूरज के पौधे – रमेश बक्षी, भारतीय ज्ञान पीठ प्रकाशन, दिल्ली, द्वितीय संस्करण – 1981
5. अपने अपने अजनबी – अज्ञेय, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली– 1975
6. अँधेरे बंद कमरे – मोहन राकेश, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली– 1984
7. उसका शहर – प्रमोद सिन्हा, नेशनल प्रकाशन, 1970
8. एक करोड़ की बोतल – कृष्न चंदर, संजय प्रकाशन, द्वितीय संस्करण– 1976
9. एक इंच मुस्कान – राजेन्द्र यादव, मन्नू भंडारी, राजपाल एण्ड संस, दिल्ली, 1984
10. कड़ियाँ – भीष्म साहनी, राजकमल प्रकाशन , 1970
11. चौदह फेरे – शिवानी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 1976
12. डाक बंगला – कमलेश्वर, राजपाल एण्ड संस ,द्वितीय प्रकाशन – 1976
13. तीसरा पत्थर – रामकुमार भ्रमर, राजपाल एण्ड संस, दिल्ली , 1972
14. दीर्घतपा – फणीश्वर नाथ रेणु, बिहार ग्रंथ कुटी प्रकाशन, पटना
15. दूसरीबार – श्रीकान्त वर्मा, अक्षर प्रकाशन , 1968
16. देहगाथा – राजकमल चौधरी, पारिजात प्रकाशन, पटना, 1979
17. धर्म के नाम पर – कन्हैयालाल ओझा, आत्माराम एण्ड संस प्रकाशन, 1963

18. भटियाली – अमृतराय, हंस प्रकाशन , इलाहबाद – 1969

19. भागे हुए लोग – शैलेश मटियानी, किताब महल,इलाहबाद, 1966

20. मछली मरी हुई – राजकमल चौधरी, राजकमल प्रकाशन, द्वितीय संस्करण-1975

21. मुक्तिबोध – जैनेन्द्र कुमार, पूर्वोदय प्रकाशन, 1974

22. राग दरबारी – श्रीलाल शुक्ल, राजकमल प्रकाशन, पाँचवी आवृत्ति- 1978

23. रुकोगी नहीं ...राधिका ? – उषा प्रियंवदा, अक्षर प्रकाशन, चतुर्थ संस्करण – 1977

24. रेखा – भगवती चरण वर्मा, राजकमल प्रकाशन, चौथी आवृत्ति – 1978

25. काठ का सपना – मुक्तिबोध, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, तृतीय संस्करण- 1981

26. वे दिन – निर्मल वर्मा, राजकमल, नई दिल्ली, 1983

27. संघर्ष का सत्य – उपेन्द्रनाथ अश्क, नीलाभ प्रकाशन, इलाहबाद, चतुर्थ संस्करण – 1971

- आचार्य शुक्ल प्रतिनिधि निबंध - सुधाकर पाण्डेय, राधाकृष्ण, दिल्ली- 1976
- आधुनिक सामान्य मनोविज्ञान - डॉ॰ प्रीति वर्मा, विनोद पुस्तक भण्डार, आगरा - 1978
- आधुनिक हिंदी उपन्यास - भीष्म साहनी, राजकमल, दिल्ली- 1980
- आधुनिक हिंदी उपन्यासों में प्रेम की परिकल्पना - विजय मोहन सिंह, रचना, इलाहबाद - 1972
- उर्वशी - दिनकर, उदयाचल, पटना - 1978
- उपन्यास का समाज शास्त्र - विश्वंभरदयाल गुप्त, नेशनल - 1976
- उपन्यास : स्थिति और गति - चंद्रकांत बांदिवडेकर, पूर्वोदय, नई दिल्ली- 197
- एक साहित्यिक की डायरी - मुक्तिबोध, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, पाँचवां सं॰ - 1980
- काल चिंतन - राजेन्द्र अवस्थी, राजपाल एंड संस, दिल्ली - 1977
- कामायनी - जयशंकर प्रसाद, प्रसाद प्रकाशन, वाराणसी, चतुर्थ सं॰ - 1978
- काव्यशास्त्र - डॉ॰ भगीरथ मिश्र
- कामायनी का आनंदवाद - नीलमणि उपाध्याय, जयपुर पुस्तक सदन, जयपुर - 1977
- चार्वाक दर्शन की शास्त्रीय समीक्षा - डॉ॰ सर्वानन्द पाठक, चौखंभा विद्या भवन, वाराणसी - 1965
- नई कविता और उसका मूल्यांकन - सुरेशचन्द्र सहल
- नये उपन्यासों में नये प्रयोग - डॉ॰ दंगल झालटे, प्रभात, दिल्ली - 1986

- नवलेखन: समस्याएं और संदर्भ - डा॰ श्यामसुंदर घोष

- नालंदा विशाल शब्दसागर - श्रीनवल जी, आदीश बुक डिपो, द्वितीय सं॰-1978

- भारतीय दर्शन वाचस्पति गैरोला, लोक भारती, इलाहबाद, चतुर्थ सं॰- 1983

- मिथक और स्वप्न - रमेश कुंतल मेघ - ग्रंथम, रामबाग , कानपुर - 1937

- मिथक और आधुनिक कविता - डा॰ शंभुनाथ, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली - 1985

- मुक्तिबोध : युग चेतना और अभिव्यक्ति, - डा॰ आलोक गुप्ता, गिरनार, गुजरात - 1985

- रविन्द्रनाथ के निबंध - विश्वनाथ नरवणे,

- रमेशबक्षी के उपन्यासों में व्यक्तिबोध - राजेन्द्र सिंह ठोकी, निचिकेता, दिल्ली - 1980

- लेखनकला और रचना कौशल - अनुवादक - अली अशरफ, प्रगति - 1977

- वाचस्पत्यकोश -

- विश्वदर्शन - बृजानंद सहाय

-विवाह की मुसीबतें - स्टार पब्लिकेशन, दिल्ली - 1975

- व्यक्तित्व का विघटन - गोर्की, अनुवाद - शिवदान सिंह चौहान, श्रीमती विजय चौहान, राजकमल - 1969

- स्वतंत्र्योत्तर हिंदी साहित्य में जीवन दर्शन - डा॰ सुमित्रात्यागी, साहित्य, दिल्ली - 1978

- समकालीन समाज शास्त्रीय अवधारणाएं - धर्मवीर महाजन,

- संस्कृत काव्य शास्त्र का इतिहास - पी॰वी॰काणे, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली-1966

- संवत्सर – स॰ वात्स्यायन, नेशनल, 1978
- सुख की साधना – रसेल – अनुवाद– ख्वाजा बदीउज्ज़मा, राजकमल, दिल्ली– 6
- सामान्य मनोविज्ञान – डॉ॰ एस॰एस॰माथुर, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा
  दसवाँ सं॰ – 1979
- समाजशास्त्र परिचय – डॉ॰ वात्स्यायन, केदारनाथ रामनाथ, मेरठ–1969
- सामाजिक मनोविज्ञान – माथुर
- साठोत्तरी हिंदी उपन्यास – पारुकांत देसाई, सूर्य, द्वितीय सं॰–1984
- सामाजिक उपन्यास और नारी मनोविज्ञान – शंकर प्रसाद, अनुपम, पटना–1978
- हिंदी विश्वकोश – [सं] नगेन्द्रनाथ बसु, बी॰आर॰पब्लिशिंग कार्पोरेशन–1986
- हिंदी विश्वकोश – [सं] सधुकर पाण्डेय, नागरी प्रचारिणी सभा काशी–1975
- हिस्ट्री आफ इंडियन फिलासफी – सिन्हा यदुनाथ भाग –1
- हिंदी उपन्यास यात्रा गाथा – शशि भूषण सिंहल, [illegible] जैन स्वयं
  सन्तति, – 1985
- हिंदी उपनयास : तीन दशक – डॉ॰ राजेन्द्र प्रताप, कौशल, दिल्ली–1983
- हिंदी उपन्यास सामाजिक चेतना – डॉ॰ कुंवरपाल सिंह, पांडुलिपि, दिल्ली–1976
- हिंदी साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ – उमेशशास्त्री, देवनागर, जयपुर – 1979
- प्रतिभा और सृजनात्मकता – सुरेन्द्रनाथ त्रिपाठी, मेकमिलन, दिल्ली– 1980
- प्रारंभिक समाजशास्त्र – [illegible] एस॰शर्मा, रूप एंड संस, मेरठ
- प्रारंभिक समाजशास्त्र – रवीन्द्रनाथ मुखर्जी
- प्रेमसंवाद – रतनकुमार जैन, सरस्वती विहार, दिल्ली – 1980

- आलोचना - सम्पादक - नामवर सिंह
- कादम्बिनी - स म्पादक - राजेन्द्र अवस्थी
- जनसत्ता - सम्पादक - प्रभाष जोशी
- दार्शनिक त्रैमासिक - प्रधान सम्पादक - डॉ॰ देवराज,
- परामर्श - सम्पादक - आनंद प्रकाश दीक्षित
- हिन्दुस्तानी - सम्पादक -

English Books

1. Adventures of Ideas, A.N. Whitehead, Mentor Books, New York, 1960
2. Chamber's Twentieth Century Dictionary, ed. E.M.Krickpatrick Allied, 1984
3. Dictionary of Philosophy, A.R Lacey, Routledge and Keganpaul London, 1976
4. Dictionart of Philosophy and Religion, W.L.Reese, Humanities Press Inc., USA, 1980
5. Essays and Aphorism, Schopenhaure
6. Encyclopaedia Brittanica, Chicago, 1982

Encyclopedia of Religion and Ethics, T&T.Clark, Edinburgh,1974

8. The Fontana Dictionary of Modern Thoughts,
9. Finding Real Happiness, Kenneth Hilderbrand, The drift evesham, worcs.
10. Great Treasury of Western Thoughts, ed. Mortimer J.Adher, R.R.Bowker Co., N.Y.1977
11. Grammer of Living, David Cooper, Penguin, 1974
12. Help Yourself to Happiness, David Seabury, MacGraw Hill, London, 1937
13. Happiness and Peace, Shri Aurbindo, Booklet No. 27, Aurbindo Ashram Trust, Pondicherry,1973
14. Happiness, Robin Barrow, Martin Robertson Co., Oxford, 1980
15. Health and Economics, ed. Charles Bricker, Lamplight,
16. The Importance of Living , Lin yu Tang, William Heinemann Ltd., London, 1951
17. Indian Philosophical Quarterly, vol. vii, ed. S.S.Barlinge, Poona
18. International Encyclopedia of Social Sciences, Crowell Collier & Macmillan Inc., London,1
19. Mirror , Feb. 1985, Bombay
20. New Illustrated Columbia Encyclopedia, Columbia Univ. Press New York, 1979
21. Pleasures and Pains, Rem B.Edwards, Cornell University Press London, 1979
22. The Senseof Beauty, George Santayana, Collier Books, New York, 1961
23. Social Structure of Personality in Social Psychology, James S. House
24. Time AMetaphysical Study, Dr.G.S.Herbert, Munshiram Mohan Manoharlal,Delhi,1978
25. Violets and Vinegar,Jilly Cooper